The Theory of Karuṇa Rasa and its Practice in the Vālmīki Rāmāyaṇa, and the Mahākāvyas (Upto Śrī Harṣa)

करुण रस : सिद्धान्त तथा प्रयोग - वाल्मीकि रामायण और महाकाव्यों में (श्रीहर्ष पर्यन्त)

डॉक्टर ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी की उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध - प्रबन्ध

निर्देशक
पं० लक्ष्मीकान्त दीक्षित
रीडर, संस्कृत विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्त्री
श्रीमती प्रीति सिनहा
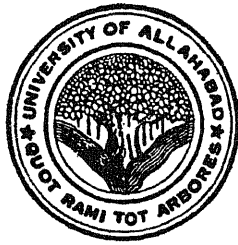
संस्कृत, पालि, प्राकृत - विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग
१९७८

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति त-
त्सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ।।

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ सं०

खण्ड ख

प्रयोग पक्ष

पृष्ठ सं०

—

भूमिका

भूमिका

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है—'करुण रस: सिद्धान्त तथा प्रयोग—वाल्मीकि रामायण और महाकाव्यों में (श्रीहर्षपर्यन्त)'[१]। शृङ्गारादि रसों में तो मनुष्य तथा तिर्यक् इत्यादि सभी की प्रवृत्ति रहती है, किन्तु करुण रस की अनुभूति किसी सहृदय को ही हो सकती है। पशु-पक्षियों के वध को नित्य ही सभी देखा करते हैं, किन्तु उसे देखकर किसी का भी हृदय इतना द्रवित नहीं होता है, जितना क्रौञ्च युगल में से एक के वध को देखकर वाल्मीकि का हृदय करुणार्द्र हो उठा था और उससे प्रेरित होकर उन्होंने रामायण जैसे महाकाव्य की रचना कर डाली थी। लक्षण-कारों ने भी करुण रस की रसनीयता को तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है। महाकवि भवभूति ने एकमात्र रस 'करुण' को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार शेष रस उसी के विवर्त मात्र हैं। करुण रस के इस महत्त्व को देखकर ही मुझे प्रस्तुत विषय पर कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त हुई है। संस्कृत साहित्य की विविधता और विशालता को देखते हुए सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में करुण रस के प्रयोग का विवेचन सीमित समय में सम्भव न था, इसलिये विषय को रामायण तथा द्वादश शताब्दी के महाकाव्यों तक ही मर्यादित रखा गया है। सम्पूर्ण महाकाव्यों का भी अध्ययन करना भी सम्भव न था, क्योंकि उनकी संख्या पहले से ही अधिक है और अद्यावधि इस शैली में रचनाएं होती आ रही हैं।

१- The theory of Karuṇa Rasa and its practice in Vālmiki Rāmāyaṇa and the Mahākāvyas (upto Śrī Harṣa).

प्रस्तुत अध्ययन में महाभारत को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसके कई कारण है । एक तो यह है कि रामायण और महाभारत-ये दोनों ही उपजीव्य काव्य है, महाभारत के रचयिता ने भी इसे काव्य की संज्ञा प्रदान की है । इसमें एक ही वंश में उत्पन्न अनेक योद्धा नायक माने जा सकते हैं । आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी इसे काव्य के रूप में स्वीकार किया ही है, भले ही वह शास्त्रच्छायान्वयी क्यों न हो । अनेक महाकाव्यों का उपजीव्य महाभारत ही है, इसलिये महाभारत के अध्ययन के बिना उक्त महाकाव्यों का सकल विवेचन नहीं किया जा सकता था ।

वाल्मीकि रामायण से लेकर बारहवीं शताब्दी तक कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों की रचना भी हुयी है, जिनका विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं किया गया है । इन महाकाव्यों में कुछ ऐसे हैं, जो काव्य की दृष्टि से तो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, किन्तु जिनमें करुण रस का सर्वथा अभाव है । इस श्रेणी में मुख्य हैं— बुद्धघोषकृत पद्मचूडामणि, भारविकृत किरातार्जुनीय, माघविरचित शिशुपालवध, शिवस्वामीविरचित कप्फिणाभ्युदय, रत्नाकरकृत हरविजय, पद्मगुप्तकृत नवसाहसाङ्कचरित, वादीभसिंहकृत क्षत्रचूडामणि, मङ्खकविरचित श्रीकण्ठचरित और सोमप्रभाचार्यकृत शतार्थकाव्य । इस युग में रचित जयानककविकृत पृथ्वीराजविजय महाकाव्य अपूर्ण है और जल्हण विरचित सोमपालविलास अप्राप्य है[1]। इस अवधि में जैन कवि हेमचन्द्र की दो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं— त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित और कुमारपालचरित । इनमें से त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें ६३ जैन तीर्थङ्करों का वर्णन है[2]। इसलिये इसमें काव्यगत विशेषताओं का

१- द्रष्टव्य — H.S.L., p.360

२- जै०सा०बृ०इ०, भाग ६, पृ० ७२

अवसर है ही नहीं । कुमारपालचरित प्राकृत में लिखा गया है, इसलिये वह भी प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है ।

क्षेमेन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे । उन्होंने काव्य की विविध विधाओं को अपनी रचना का विषय बनाया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण और सुवृत्ततिलक जैसे काव्यशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना भी की था । प्रस्तुत प्रबन्ध में उनके दशावतारचरित को ही स्थान दिया गया है, किन्तु रामायणमञ्जरी, भारतमञ्जरी तथा बृहत्कथामञ्जरी का अध्ययन नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि यह तीनों ही ग्रन्थ क्रमशः रामायण, महाभारत और बृहत्कथा के संक्षिप्त रूपान्तर हैं । इनमें कवि का उद्देश्य रस का परिपाक करना नहीं, अपितु तत्तत् ग्रन्थों का संक्षिप्तीकरण ही था । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये क्षेमेन्द्र ने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गों को एक या दो पद्यों में लिखकर छोड़ दिया है । परिणामस्वरूप मूल ग्रन्थों में जैसा रस-परिपाक हुआ है, उसके लिये क्षेमेन्द्र की इन रचनाओं में अवकाश ही नहीं था ।

इसी प्रकार कल्हणकृत राजतरङ्गिणी यद्यपि बारहवीं शताब्दी की रचना है, तथापि उसे प्रस्तुत अध्ययन में स्थान नहीं दिया जा सकता है । इसका कारण यह है कि काव्यगत विशेषताओं से युक्त होते हुए भी उसे महाकाव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता है । राजतरङ्गिणी में कल्हण ने काव्य शैली में काश्मीर का इतिहास प्रस्तुत किया है । उसमें जिन महापुरुषों का वर्णन हुआ है, वे विभिन्न वंशों से सम्बद्ध थे । इसके अतिरिक्त राजतरङ्गिणी में महाकाव्य में अपेक्षित अनेक प्राकृतिक वर्णनों का भी अभाव है । सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि स्वयं कवि ने इसमें शान्त रस की प्रधानता को स्वीकार किया है ।[१] सन्धिमती तथा सुस्सल

१- क्षणभङ्गिनि जन्तूनां स्फुरिते परिचिन्तिते ।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम् ॥
तदमन्दरसस्यन्दसुन्दरीयं निपीयताम् ।
श्रोत्रशुक्तिपुटैः स्पष्टमाशु राजतरङ्गिणी ॥ राज०, १।२३,२४

की मृत्यु के वर्णन में करुण रस का अवसर कवि को प्राप्त अवश्य हुआ था, किन्तु इन अवसरों का उपयोग कवि ने शान्त रस को परिपुष्ट करने के लिये ही किया है। दुर्भिक्षकाल में कुन्दीन की शोकाभिव्यक्ति में भी करुण रस का सम्यक् परिपोषण नहीं हो पाया है।

करुण और करुण-विप्रलम्भ—भेद-निरूपण नामक अध्याय में भोजकृत शृङ्गारप्रकाश के बत्तीसवें प्रकाश से पर्याप्त सहायता ली गयी है, किन्तु मूलरूप में उपलब्ध न होने के कारण डा० राघवन के "Bhoja's Śṛṅgāraprakāśa" नामक ग्रन्थ से ही सन्तोष करना पड़ा है। नाट्यशास्त्र के तीन संस्करणों से सहायता ली गयी है— काव्यमाला में प्रकाशित नाट्यशास्त्र, मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र और बड़ौदा से अभिनवभारती के साथ प्रकाशित नाट्यशास्त्र।

प्रस्तुत प्रबन्ध में करुण रस की दृष्टि से जिन महाकाव्यों का अध्ययन किया गया है, उनमें से जो महाकाव्य प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, उनके कथानक को विस्तार से नहीं दिया गया है। उन्हीं महाकाव्यों की कथावस्तु का सविस्तर वर्णन किया गया है, जो महाकाव्य अज्ञात अथवा अप्रसिद्ध हैं। इसी दृष्टि से कतिपय जैन महाकाव्यों का विस्तृत परिचय दे दिया गया है। किसी भी कवि के जीवनवृत्त और रचनाकाल के विवादास्पद पक्ष पर प्रकाश नहीं डाला गया है, क्योंकि इससे प्रस्तुत प्रबन्ध का अनावश्यक उपबृंहण तो होता ही, प्रबन्ध में विषयान्तर-दोष भी आ जाता। कवियों के रचना-काल के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य के इतिहास के मनीषी रचयिताओं को ही प्रमाणस्वरूप स्वीकार कर लिया गया है।

प्रबन्ध में कहीं-कहीं कतिपय उदाहरणों की एक ही अध्याय अथवा विभिन्न अध्यायों में पुनरुक्ति हो गयी है, किन्तु उसको दूषण न समझकर भूषण ही समझना चाहिये, क्योंकि एक ही उदाहरण की

पुनरावृत्ति पिष्टपेषण के लिये नहीं की गई है, अपितु विभिन्न स्थलों पर उनकी व्याख्या नवीन दृष्टिकोण से की गयी है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में करुण रस के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है, द्वितीय खण्ड में निर्धारित अवधि के महाकाव्यों में करुण रस के प्रयोग का विवेचन प्रस्तुत है और तृतीय खण्ड परिशिष्ट खण्ड है । द्वितीय खण्ड में तीन उपखण्ड हैं । प्रथम उपखण्ड में महाकाव्यों की परम्परा का निरूपण किया गया है, द्वितीय उपखण्ड में अवधि विशेष में विरचित महाकाव्यों में करुण रस के परिपाक का विवेचन किया गया है और तृतीय उपखण्ड में इन महाकाव्यों में प्रयुक्त करुण रस का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । तृतीय खण्ड में दो परिशिष्ट हैं।एक में सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है और द्वितीय परिशिष्ट में इनकी सङ्केतसूची दी गयी है ।

करुण रस विषयक प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखन का बीज मेरे मन में उस समय अङ्कुरित हुआ था, जब मुझे स्नातक कक्षाओं में महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरित' के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ था । स्नातकोत्तर कक्षाओं में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश जैसे ग्रन्थों के अध्ययन से उस अङ्कुर को पल्लवित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ । तदनन्तर जब शोधकार्य करने का विचार मन में उत्पन्न हुआ, तब मैंने अपने अध्ययन का विषय करुण रस को ही बनाया। इस विषय पर कार्य करने की अनुमति देकर प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष गुरुवर डा० बाबा प्रसाद मिश्र जी ने मेरे प्रति अपने जिस स्नेह का परिचय दिया है, उसका मूल्याङ्कन करने में मैं अपने आपको असमर्थ पा रही हूं । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवाचक पद पर प्रतिष्ठित गुरुवर पं०लक्ष्मी कान्त दीक्षित जी के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है । पूज्य पण्डित जी संस्कृत काव्यशास्त्र में तो पारङ्गत हैं ही, वह साहित्य के भी मर्मज्ञ हैं । साथ ही

उनमें संस्कृत काव्य रचना की भी अद्भुत शक्ति है । इस प्रकार कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के धनी श्रद्धेय पण्डित जी ने करुण रस के सिद्धान्त और उसके प्रयोग पक्षों का अध्ययन करने में मेरी जो सहायता की है, वह मेरे लिए एक अपूर्व निधि है । उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से मेरा जो मार्गदर्शन किया है, वह मुझे भविष्य में भी साहित्यचिन्तन में सहायक होगा । गुरुवर का स्नेह मुझे सतत् प्राप्त होता रहे, इससे अधिक मुझे क्या चाहिए । मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में जिन ग्रन्थों की सहायता ली गयी है, उनमें से अनेक अप्राप्य और दुर्लभ हैं । इन ग्रन्थों को प्राप्त करने में मुझे अनेक विद्वानों और पुस्तकालयों से सहायता प्राप्त हुयी है । विशेष रूप से मैं डा० ज्योति प्रसाद जैन की आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अनेक जैन महाकाव्यों से न केवल परिचित कराया, अपितु उन्हें मेरे लिये सुलभ करने में भी मेरी सहायता की है । मुझे गङ्गानाथ झा शोधसंस्थान, प्रयाग; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्,लखनऊ; मुन्नेलाल जैन धर्मशाला, लखनऊ और वीर सेवा मन्दिर, दरियागञ्ज, नई दिल्ली के पुस्तकालयों से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है । मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे मौलिक चिन्तन का ही फल है, यद्यपि इसके लेखन में मैंने अनेक मनीषी विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली है । मैं इन सभी विद्वानों की हृदय से आभारी हूँ। प्रस्तुत प्रबन्ध कैसा बन पड़ा है इसमें तो सहृदय विद्वान् ही प्रमाण हैं —

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।"

मैंने टङ्कण सम्बन्धी सभी त्रुटियों के निराकरण के लिए सावधानी-

पूर्वक यथासम्भव प्रयत्न किया है, तथापि प्रबन्ध में इस प्रकार की कमी अशुद्धियों के लिए मैं क्षमाप्रार्थिनी हूं।

खण्ड क

सिद्धान्त पक्ष

अध्याय १

काव्य-रस-विचार

काव्य-रस-विचार

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है । अलङ्कारवादी आचार्य भामह की दृष्टि में शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य था ।[1] वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने सामान्य शब्द और अर्थ को काव्य नहीं स्वीकार किया । उनकी दृष्टि में वक्रता व्यापार से युक्त शब्द और अर्थ काव्य थे ।[2] मम्मट ने अदुष्ट शब्दार्थ को काव्य माना था ।[3] साहित्यदर्पणकार के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है ।[4] इसी प्रकार काव्य के जीवातु के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद रहा है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना था ।[5] कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित सिद्ध किया था, तो क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण

१- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - - ।

- का०(भा०), १।१६

२- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

- व०जी०, १।७

३- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।

- का०प्र०, १।४

४- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

- सा०द०, १।३

५- रीतिरात्मा काव्यस्य ।

- का०सू०वृ०१।२।६

कहलाता था।[1] इन विभिन्न मतों के होते हुए भी काव्य के समस्त सिद्धान्तों में रस-सिद्धान्त ही सर्वाधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है।

सबसे पहले राजशेखर ने रस को काव्य का आत्मा कहा था।[2] अग्निपुराण के अनुसार काव्य में यदि वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता मान भी ली जाय तो भी काव्य का जीवित तो रस को ही मानना पड़ेगा।[3] विश्वनाथ कविराज ने तो काव्य-लक्षण में ही रस का समावेश कर दिया है।[4] आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन तत्त्वों— वस्तु, अलङ्कार और रस — में रस-ध्वनि को प्रमुखता प्रदान की है। वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों को रस-पर्यवसायी मानकर, इन्होंने रस को यथेष्ट महत्त्व दिया है।[5]

रस शब्द का अर्थ —

भारतीय वाङ्मय में 'रस' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार रस शब्द का प्रयोग वैदिक काल से होता आया

१- काव्यस्यात्मन्यलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
< < <
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
— औ०वि०च०, ४,५

२- शब्दार्थौ ते शरीरम् ---- रस आत्मा ---- अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। — का०मी०, पृ० ६

३- वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।
—अ०पु०का०शा०अ०, १।३३

४- वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। — सा०द०, १।३

५- तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते। — ध्वन्या०(लोचन), १।५ (वृत्ति)

है । वेदों में 'रस' पद प्रायः पेय[1], जल[2], सार[3] और स्वाद[4] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । तत्पश्चात् उपनिषदों तक आते-आते 'रस' शब्द से क्रमशः आवश्यक तत्त्व[5], अत्यन्त सुख, परब्रह्म (परमानन्द)[6] का बोध होने लगा । इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जो 'ब्रह्मानन्द' का वाचक था, काव्य-क्षेत्र में वही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' काव्य-तत्त्व का वाचक हो गया ।

रस-दृष्टि का विकास —

रस भारतीय साहित्य-विधा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है । इसके विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि रस की मुख्यतः दो दृष्टियाँ थीं— १. नाट्योन्मुखी रस-दृष्टि, २. काव्योन्मुखी रस-दृष्टि । भरत ने नाट्य में लक्षण, गुण, दोष, अलङ्कार आदि की परिकल्पना रसोद्बोधन के लिए की है । वाचिक अभिनय के इन अङ्गों के द्वारा रसोद्बोधन होता है तथा आङ्गिक और आहार्य आदि अभिनय वाक्यार्थ का ही व्यञ्जना करते हैं ।[7] नाट्यशास्त्र के विश्लेषण से

१- रसा दधीत वृषभम् ।। - ऋ०वे०, ८।७२।१३

२- दधानः कलशे रसम् ।। - वही, ९।६३।१३

३- यस्य ते मद्यं रसम् ।। - वही, ९।६५।१५

४- आहार्षं धान्यो ३ रसम् ।। - अथर्व०,२।२६।५

५- प्राणो हि वा अङ्गानां रसः - - -। ब्रह्मोप०१।३।१९

यच्च नुः स्तो ह्येष रसः - - - । वही, १।३।४

६- रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । - तै० उ०, ११।७।१

एतद्वै सत्यस्य रूपं, तत्सत्त्वमेवेरितं रसः, स सम्प्राप्रवत् --- ।

- मै०उ०, [illegible] ५/२

७- लक्षणालङ्कृतिगुणा दोषशब्दप्रवृत्तयः ।

वृत्तिसन्ध्यङ्गसंरम्भः सम्भारो यः कवेः किल ।।

अन्योन्यस्यानुकूल्येन सम्भूय समुत्थितेः ।

कटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादिभिः गुणाः(णैः) ।।

- ना०शा०(अभि०भा०),भाग १, पृ० ७८

स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने नाट्य-रस के सन्दर्भ में ही रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । वे परम्परा से रस के आदि प्रतिष्ठाता आचार्य माने जाते हैं; परन्तु उनके पूर्व से ही रस का शास्त्रीय परम्परा प्रचलित थी; क्योंकि भरत ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रस और भाव का विवेचन करते हुए अपने विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आनुवंश्य आर्याएँ और कारिकाएँ उद्धृत की हैं । एक स्थल पर तो उन्होंने रस-शास्त्र पर रचित एक ग्रन्थ के नाम का भी उल्लेख किया है ।[१] अत: यह स्वीकार करना होगा कि नाट्यरस के विवेचन की परम्परा भरत से पूर्व, अविकसित रूप में ही सही, वर्तमान थी । भरत ने आचार्य-शिष्यों की सनातन परम्परा में प्रवहमान इन विचारों का आकलन कर उसे शास्त्र-सम्मत और सुव्यवस्थित रूप दे दिया था ।

भरत के परवर्ती आचार्यों ने नाट्य-रस की शास्त्रीय परम्परा का प्रसार और विवेचन किया था । इन आचार्यों में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि उल्लेखनीय हैं । आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती के माध्यम से भरत के रस-सिद्धान्त पर इन आचार्यों के मूल्यवान् विचारों से हमारा परिचय होता है । इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र की परम्परा का अनुसरण करते हुए धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दी, शारदातनय और शिङ्गभूपाल प्रभृति आचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की थी और नाट्य-रस का प्रतिपादन किया था ।

इन आचार्यों के काल तक रस-सिद्धान्त का नाट्य-रस से पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व स्थापित हो गया था । आनन्दवर्धन, भोज,

---

१- आचार्य रसविचारमुखे । — ना०शा०, ६।६६ (वृत्ति)

मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने रस-सिद्धान्त का उस रूप में महत्त्व प्रतिपादित किया था । इन आचार्यों की विचार-सरिता भरत के नाट्य-रस की परिकल्पना से इस बात में भिन्न थी कि इनकी रस-दृष्टि नाट्योन्मुखी नहीं अपितु काव्योन्मुखी है । परिणामतः मम्मट से पण्डित-राज जगन्नाथ तक आचार्यों ने काव्य-रस (सिद्धान्त) का उपबृंहण किया था, न कि नाट्य-रस का । जिस सुख-दुःखात्मक नाट्य से रसानुभूति होती है, वह नाट्य इन आचार्यों के लिए विवेच्य विषय नहीं था । यद्यपि इन आचार्यों ने भी भरत के मूल रस-सिद्धान्त को ही अपने रसविषयक विचारों के आधार के रूप में स्वीकार किया था, तथापि उनके रस-सम्बन्धी विचार एक दूसरे से भिन्न थे ।[१]

रस का स्वरूप—

वेदों में इन्द्र के युद्ध में वीर-रस,[२] प्राणहीन सुबन्धु को पुनरुज्जीवित करने के लिए श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु के द्वारा प्रोक्त चार सूक्तों में करुण-र

१- The oldest known exponent of this system is Bharata, from whom spring all later systems and theories, such as we know them, and whom even Anandavardhana himself, in applying the rasa theory to poetics, names as his original authority.

— H.S.P. (De), p.19

२- यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ।।

— ऋग्वेद, २।१२।११

३- वही, १०।५७-६०

नायिका के रूप में उषा के वर्णन में शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति पदे-पदे अनुभव में आती है।[1] इस प्रकार वैदिक काल में यद्यपि 'काव्यात्मभूत' रस स्पष्ट रूप से मान्य नहीं था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि उस समय उत्कृष्ट साहित्य की रचनाएँ नहीं हुई थीं। ऋग्वेद में वाक्सूक्त आदि उत्कृष्ट साहित्य के उदाहरण हैं।[2] इनके मन्त्रों में उपमा अलङ्कार[3] तथा अनुष्टुप् आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।[4] इससे भी काव्य के प्रति वैदिक मनीषियों का स्वारस्य प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि तत्कालीन ऋषियों को उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट काव्य को समझने और

१- सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥
— वही, १।११५।२

२- अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् ॥
— वही, १०।१२५।३-५

३- प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥
— वही, १।१५४।२

४- बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा ॥
— वही, १०।१२४।६

उसके आस्वादन का ज्ञान था ।[१]

वैदिक काल के पश्चात् रस-सिद्धान्त के प्रथम मनीषी तथा लौकिक संस्कृत कविता के जनक वाल्मीकि माने जाते हैं । निषाद द्वारा काम-मोहित क्रौञ्च-मिथुन में से एक के वध की कारुणिक घटना को देखने से वाल्मीकि का हृदय पीड़ा से उद्वेलित हो उठा और तत्क्षण उनके मुख से ये भाव अनायास ही श्लोक रूप में निकल पड़े—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥[२]

वाल्मीकि के इस वाक्य में रस-सम्प्रदाय के बीज स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं । प्रस्तुत श्लोक में करुण रस है, तथा इस रस के विभिन्न अङ्गों द्वारा उसका पूर्ण परिपाक हुआ है । इसमें क्रौञ्ची आश्रय, आहत क्रौञ्च पक्षी आलम्बन, उसका तड़पना आदि उद्दीपन विभाव, क्रौञ्ची का विलाप अनुभाव तथा विषाद, जड़ता, दैन्य आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं । स्वयं वाल्मीकि ने भी अपनी कविता का कारण दया और शोक की तीव्रानुभूति को स्वीकार किया है ।[३] उनके अनुसार जब कवि की उक्तियाँ

१- Thus the two main functions of the literary critic viz., to understand and to judge poetry, are discharge by the Ṛgvedic poet-critic, the former fairly well and the latter, too, to a limited extent, in that he has developed a real feeling of love for poetry and that he is able to discriminate the good from the bad type of poetry through an examination of the literary content.

— T.R.D., page 5.

२- रामा०, १।२।१५

३- शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा । — वही, १।२।१८

आन्तरिक भावनाओं से प्रेरित होकर निकलती हैं; तब वे उत्तम कोटि की कविता बन जाती हैं[1]। अतः कविता की सफलता इसमें है कि कवि के हृदय में जिस भाव-विशेष की जैसी अनुभूति हुई हो उस भाव की ठीक उसी प्रकार की अनुभूति सहृदय के हृदय में भी हो जाय। उपर्युक्त श्लोक में करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' होने के कारण सहृदय को करुण रस की प्रतीति हो जाती है[2]।

आचार्यों ने रस की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। सर्वप्रथम भरत ने रस का विस्तृत प्रवर्तन किया था[3]। उन्होंने रस के लक्षण, चर्वणा अथवा आस्वाद पर विशेष विवेचन प्रस्तुत किया था[4]। उन्होंने काव्य के इस रसास्वाद की तुलना लौकिक रसास्वाद से की थी, किन्तु उन्होंने रस की स्पष्टतः परिभाषा नहीं की थी। उन्होंने केवल रस-निष्पत्ति का ही विवेचन किया था। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के

१- He fully realises that it is this feeling, arising out of his complete imaginative sympathy with the characters and incidents that transformed itself into rhythmic expression.

— T.S.D., page 7.

२- ---- सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणत्रयम् । — र०गं०, पृ० १२१

३- नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥

" " "

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

— ना०शा०, १।१६,१७

४- वही, भाग १, पृ० २८८-२८९

संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[१] फलतः परवर्ती आचार्यों ने भरत के रस-विषयक प्रसिद्ध सूत्र को ही रस की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया था। अधिकांश आचार्यों ने इसी सूत्र के आधार पर रस-सिद्धान्त की आलोचना-प्रत्यालोचना की थी। इन आचार्यों का समस्त विवेचन 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' इन दो शब्दों पर आधृत है। अधिकांश आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि संयोग का अर्थ है— किसी स्थायीभाव के अनुकूल विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का सम्मिलन। भरत ने स्वयं निष्पत्ति शब्द की व्याख्या नहीं की थी। भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने 'निष्पत्ति' शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढङ्ग से की थी। लोल्लट ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' किया था। उनके अनुसार अनुकर्ता नट में रस की उत्पत्ति होती है।[२] शङ्कुक ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया था। दर्शक विभावादि द्वारा नट में रस का अनुमान करता है।[३] भट्टनायक

१- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। - ना०शा०, अ०६ ।३१

२- विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

- का०प्र०, ४/२८ (वृत्ति)

३- राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे - - - - अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः। - वही।

ने निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' किया था । उनके अनुसार दर्शक विभावादि के संयोग से रस का भोग करता है ।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना के क्रम में सब वादों का खण्डन किया है ।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने रस को व्यङ्ग्य माना है, तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ किया है 'अभिव्यक्ति' ।[2] ध्वनि के अनुयायी अभिनवगुप्त ने रस-स्वरूप को व्यङ्ग्य मानते हुए उसके निष्पत्ति-प्रकार की अपने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के बल पर विशद व्याख्या की थी ।[3]

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार माया से पुरुष तक के सात तत्त्वों के माध्यम से जीवात्मा इस रस-मय विश्व को स्वकीय समझ कर उसका उपभोग करता है, जो वास्तव में प्रकृति की सृष्टि है और परिणाम में असत्य । नाट्य के द्वारा अभिव्यक्त रसानुभूति की भी प्रक्रिया यही है । प्रेक्षक साधारणीकृत विभावादि (अवास्तविक) के साथ तादात्म्य की प्रतीति करता है और इस प्रतीति द्वारा ही उसके शुद्ध हृदय-दर्पण में आनन्दरूप

१- न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः ।
— काव्यप्र०, ४।२८ (वृत्ति)

२- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
—ध्वन्या०, १।४

३- यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादि-वासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः ।
—ध्वन्या० (लोचन), १।४

आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है।[१]

कालान्तर में मम्मट[२], विश्वनाथ[३], पण्डितराज जगन्नाथ[४] आदि सभी काव्यशास्त्रियों ने 'निष्पत्ति' की प्रायः यही परिभाषा स्वीकार कर ली थी।

१- The authors of the works on rasa, music and dramaturgy have adopted the same pratyabhijña system of philosophy in explaining the process of aesthetic experience enjoyed by spectators while witnessing dramatic performances.

- ना०शा० भाग १ (भूमिका), पृ०१८

२- कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

- का०प्र०, ४।२७,२८

३- विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥

- सा० द०, ३।१

४- समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः ---- निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ।

- र० गं०, १, पृ० १०७-१०६

इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में रस की परिभाषा द्विविध मानी जा सकती है । भरत[1] से लेकर ध्वनिपूर्व अलङ्कारवादियों की दृष्टि में रस विषयगत अथवा वस्तुगत है । भामह[2], दण्डी[3], उद्भट[4], वामन[5] तथा रुद्रट[6]

१- यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति ।

— ना०शा०, भाग १, पृ० २८८-२८९

२- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।
देवी समागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता ॥

— का० (भा०), ३।६

३- (१) मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
(२) कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु ।

— काव्या०, १।५१, ६२

४- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥

— का०सा०सं०, ४।२,३

५- दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

— का०सू०वृ०, ३।२।१४

६- एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥

— का० (रु०), १५।२१

के अनुसार नाट्यसौन्दर्य अथवा काव्यसौन्दर्य ही रस है । उसकी अनुभूति सामाजिक अथवा पाठक को हर्षादि अनुभूतियों के रूप में होती है । इस प्रकार इन आचार्यों के अनुसार रस आस्वाद्य है।[1] ये रस को स्थायीभाव का उपचित रूप मानते थे । स्थायीभाव अनुपचित अवस्था है और रस उपचित अवस्था । भेद केवल परिणाम में है । तत्त्व के रूप में दोनों एक हैं।[2]

भोज ने रस को रसवत् अलङ्कार अथवा रसोक्ति के अन्तर्गत रखते हुए भी उसे सर्वाधिक प्रधानता दी है।[3] उनके अनुसार केवल एक रस (शृङ्गार) पुरुषार्थचतुष्टय समन्वित है, जो एक उत्कृष्ट अलङ्कार है।[4]

पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि प्रस्थापन के परवर्ती सभी आचार्य रस को विषयीगत मानते थे । वे रस को वस्तु रूप में नहीं; अपितु सहृदय की चेतना में स्थापित करते हुए नाट्य-सौन्दर्य अथवा काव्य-सौन्दर्य जनित आनन्दानुभूति की संज्ञा देते हैं । आनन्दवर्धन,

---

१- अत्राह — रस इति कः पदार्थः । उच्यते — आस्वाद्यत्वात् ।

— ना० शा० भाग १, पृ० २८८

२- तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः । स्थायी भवत्वनुपचितः ।

— ना०शा० भाग १ (अभि०भा०),पृ०२७२

३- वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥

— सरस्व० ■, ५।८

४- रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते ।
योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥

— वही, ५।१

अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन से लेकर अद्यावधि रस की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गयी है। इन सब के अनुसार रस स्थायीभाव से सर्वथा विलक्षण है तथा वह स्थायीभाव का आनन्दमय आस्वाद रूप है।[1] धनञ्जय[2] तथा शारदातनय[3] को भी रस का यही रूप मान्य था, किन्तु धनञ्जय रस-सामग्री तथा स्थायीभाव में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव न मानकर भाव्य-भावक भाव मानते थे।[4]

१- अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।

- ना०शा०(अभि०भा०) भाग १, पृ० २८४

२- विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

- द०रू०, ४।१

३- विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायिकादिसमाश्रयाः॥
अनुकार्यतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिभिः।
सामाजिकैस्तु रस्यन्ते यस्मात्तस्माद्रसाः स्मृताः॥

-भा०प्र०,पृ० ३७

४- भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

- द०रू०(अवलोक) ४।३७

रस के उपादान—

विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव सब के सामान्य गुणयोग से ही रस-निष्पत्ति सम्भव है।[1] मुख्य रूप से रस का एक ही उपादान है— स्थायीभाव। स्थायीभाव ही विभाव आदि के द्वारा पुष्ट होकर रसरूपता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार रसाभिव्यक्ति में साधन-साध्य की दृष्टि से चार उपादान हैं— स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव। इस भाव रूप साधन से रस-रूप साध्य का अर्जन होता है।[2]

विभाव —

विभाव की व्युत्पत्ति तथा उसके पर्याय इस प्रकार हैं—'विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः'।[3] लोक में जो-जो पदार्थ रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं, काव्य में सन्निविष्ट होने पर वे ही विभाव की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।[4] ये विभाव शास्त्र में वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक अभिनय के आश्रय से विशेष रूप से चित्तवृत्तियों का विभावन अथवा ज्ञापन करते हैं।[5]

१- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

- ना०शा० भाग १, पृ० २७२

२- नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

- वही, ७।३

३- वही, पृ० ३४६

४- रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।

- सा०द०, ३।२६

५- बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥

- ना०शा०, ७।४

'विभावना' का अर्थ केवल ज्ञापन ही नहीं अपितु आस्वाद-योग्यता तक पहुंचाना है ।

साधारणीकृत होने के कारण ये विभाव शुद्ध सत्त्व रूप होते हैं । फलस्वरूप इनमें वासना रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायीभावों को चर्वणा-योग्य बनाने की अलौकिक सामर्थ्य होती है ।

विभाव दो प्रकार के होते हैं— आलम्बन और उद्दीपन[1] । चित्तवृत्ति-विशेष के निमित्तभूत विभाव को आलम्बन कहते हैं और उस निमित्त रूप सामग्री को, जिससे जागृत भाव अधिकाधिक उद्दीप्त होता है, उद्दीपन विभाव कहते हैं[2] ।

अनुभाव —

रत्यादि स्थायीभाव के जागरण को सम्यक् रूप से सूचित करने वाले (आश्रयगत शारीरिक व्यापार) विकारों को अनुभाव कहते हैं[3] । अनुभाव को

१- ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ।।

— द०रू०, ४।२

२- (i) Ālambana – the object, which is primarily responsible for the arousal of emotion, on which emotion depends for its very being and which is its mainstay; and (ii) Uddīpana, the envorenment, the entire surrounding, which enhances the emotive effect of the focal point, the object which primarily stimulates emotion.

— C.S., Vol. I, page 25

३- अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः । — द०रू०, ४।३

व्युत्पत्ति है— 'अनु पश्चात् भाव: उत्पत्तिर्येषाम् अथवा अनुभावयन्तीति (अनुभावा:)।[1] स्थायीभावों के जागृत होने के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन अनुभावों को स्थायीभाव का कार्य रूप समझना चाहिए, किन्तु काव्य में स्थायीभावों के साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान होने के कारण इन्हीं अङ्गविकारों को अलौकिक संज्ञा 'अनुभाव' दी जाती है।[2] इस प्रकार कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रसास्वादबोध की दृष्टि से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी तीनों को ही कारण माना है। धनिक के अनुसार भी सामाजिकों को स्थायीभावों की अनुभूति कराने वाले भावों को अनुभाव कहा जाया करता है।[3]

सात्त्विक भाव को गोबलीवर्दन्याय से अनुभाव की संज्ञा दी जाती है,[4] किन्तु धनञ्जय ने इन दोनों को पृथक् माना है।[5] ये संख्या में आठ होते हैं।[6] कुछ विद्वानों के अनुसार 'वस्तुत:, ये मनोविकार नहीं, मनोविकार का कारण ही है, जो अनुभावों का क्षेत्र है, भावों का नहीं'।[7]

१- र० गं०, १, पृ० २६६

२- उद्बुद्धं कारणै: स्वै: स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके य: कार्यरूप: सोऽनुभाव: काव्यनाट्ययो: ।।
— सा०द०, ३।१३२,१३३

३- स्थायिभावाननुभावयन्त: सामाजिकान् - - - - अनुभावा: ।
— द०रू०(अवलोक), ४।३

४- गोबलीवर्दन्यायेन इति शेष: ।
— सा०द० ३।१३५-१३६ वृत्ति

५- पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका: ।
— द०रू०,४।४

६- स्तम्भ: स्वेदोऽथ रोमाञ्च: स्वरभङ्गोऽथ वेपथु: ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका: स्मृता: ।।
— सा०द०, ३।१३५,१३६

७- भ०शा०भा० मा०, पृ० २७७

सात्त्विक भाव —

सात्त्विक भावों की उत्पत्ति मन की एकाग्रता या सत्त्व से होती है।[1] भरत ने सामान्याभिनय के प्रसङ्ग में आङ्गिक और वाचिक अभिनयों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। वाचिक और आङ्गिक अभिनयों का प्रदर्शन तो बाह्य चेष्टाओं के द्वारा भी सम्भव है, परन्तु सात्त्विक अभिनय नितान्त प्रयत्नसाध्य है।[2] यह अभिनय तो मन की एकाग्रता से ही सम्पादित हो पाता है। सफल अभिनय की विशिष्ट उपलब्धि सात्त्विक भावों का प्रकाशन है।

नाट्य-प्रयोग में लोक-चरित का अनुकरण होता है, इसलिए नाट्य में विशेष रूप से सत्त्व का प्रयोग अभीष्ट है। नाट्य में जिन सुख-दुःखात्मक भावों का प्रदर्शन होता है वे सात्त्विक भावों से विभूषित होने चाहिए जिससे वे सुख-दुःखात्मक भाव तद्वत् प्रतीत हो सकें। शोक में अश्रु, हर्ष में पुलक और विस्मय में स्तम्भ आदि के प्रयोग से वे (सात्त्विक भाव) नाट्य में यथार्थरूप में गृहीत होकर रस का संचार करने लगते हैं। नट का अपना सुख-दुःख तो उसका अपना होता है, परन्तु प्रयोग-काल में वह मन की एकाग्रता के कारण अनुकार्य (राम-सीता आदि) के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मान लेता है। इसी एकाग्रता के कारण प्रयोग-काल में दुःखी पात्र की आँखों से

१- इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्।

— ना०शा०, ७।९३, वृत्ति

२- तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
समसत्त्वो भवेन्मध्यो सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः।।

— वही, २२।५

अश्रु स्वेत: गिरने लगते है और सुखी पात्र के नयन हर्ष से उत्फुल्ल और कपोल स्फुरित हो उठते है। यदि इन सात्त्विक भावों का प्रदर्शन भावानुरूप न हो तो नाट्य में उनका उचित अभिनय न होने के कारण वे भाव रस रूप में आस्वाद्य नहीं हो सकेंगे। वस्तुत: सुख दु:ख का अनुभव नट को नहीं होता है, अपितु वह इन सुख-दु:खात्मक भावों का प्रदर्शन प्रयोग के उद्देश्य से करता है, जिससे वह प्रदर्शन सत्त्व द्वारा अधिक मात्रा में पुष्ट होकर रसाभिमुख हो जाता है।[१] अभिनय की दृष्टि से सात्त्विक भावों का अपना विशेष महत्त्व है, किन्तु उनका अभिनय विशेष प्रयत्न के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। अन्य भावों के अभिनयों की न्यूनता होने पर तो अभिनय अपूर्ण हो सकता है, परन्तु सात्त्विक भावों के अभिनय के अभाव में उसका उन्मीलन ही नहीं हो सकता है।[२]

सत्त्व एक मन:सम्भूत विभूति है जो अव्यक्त है किन्तु विभिन्न अङ्गों का आश्रय लेकर इन विभिन्न भावों के प्रकर्ष के चिह्न स्वरूप स्वेद, रोमाञ्च, अश्रु आदि व्यक्त सत्त्व भाव के रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार मन:सम्भूत होने पर भी सात्त्विक भाव उपचार से विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न प्रतीत होते हैं। इन मन:सम्भूत भावों की अभिव्यक्ति अङ्गों के

१- मनस: समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगत: स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। - - - - एतदेवास्य सत्त्वं यत् दु:खितेन सुखितेन वाश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याता:।
- ना०शा०. ७।९३ (वृत्ति)

२- रसमयं हि नाट्यं रसे चान्तरङ्ग: सात्त्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित - - - - तस्माद् भूयसा प्रयत्नेन विना (न) सिद्ध्यतीति। सात्त्विकाभावेऽभिनयक्रियानामपि नोन्मीलति।
- वही, भाग ३, पृ० १४९-१५०

माध्यम से ही होती है।[1] अश्रु, रोमाञ्च आदि इन्हीं सात्त्विक भावों के द्वारा सामाजिक अनुकार्यगत भावों का अनुभव अपनी संवेदनभूमि में करने लगता है और तब रस-प्रतीति होती है।[2]

इस प्रकार वस्तुतः इन सात्त्विक भावों में अनुभावत्व भी है; क्योंकि ये अनुभावों की भाँति ही आश्रय के विकार होते हैं। सात्त्विक भावों की पृथक् सत्ता इसलिए मानी जाती है, क्योंकि ये भाव के सूचक हैं। इस प्रकार अश्रु, रोमाञ्च आदि एक ओर सात्त्विक भाव और दूसरी ओर अनुभाव — इन दो रूपों में प्रयुक्त होते हैं।[3] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अश्रु आदि का उल्लेख स्थायी तथा व्यभिचारी भावों के कार्य-भूत अनुभाव के रूप में किया है।[4]

१- रामाद्यनुकार्यगतं भावसत्त्वं तद्भावना प्रकर्षात् रोमाञ्चादिसम्पादकं यदान्तरं नाट्यस्य सत्त्वं तदव्यक्तं अस्फुटं केवलं रोमाञ्चादि-भिर्गमकत्वादगुणीभूतविशेषं, अन्यथा हि सुखायमानो कृत एवानुभव इत्यहेतुकं स्यात्।

- ना०शा०, भाग ३, पृ० १५७

२- सा चित्तवृत्तिरेव संवेदनभूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सात्त्विकमित्युच्यते।

- वही, पृ० १५२

३- तत उत्पाद्यमानत्वाद् अश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसूचनात्मकविकार-रूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।

- द०रू०(अवलोक), ४।४

४- वेपथुस्तम्भरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽश्रुवर्णनम्।
स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्या अनुभावा रसादिजाः।।

- ना०द०, ३।१४७

व्यभिचारी भाव—

'व्यभिचारी' शब्द 'वि' और 'अभि' पूर्वक चर् (धातु) के योग से बना है। इसका अर्थ है— विशेष रूप से (स्थायीभाव में) चारों ओर से विचरण करने वाले मनोभाव। वाक्, अङ्ग, सत्त्वादि द्वारा विविध प्रकार के रसानुकूल सञ्चरण करने वाले भावों को व्यभिचारी भाव कहा जाता है।[1] ये भाव स्थायीभावों को परिपुष्ट करके उन्हें रस रूप में आस्वाद योग्य बना देते हैं। स्थायीभाव के साथ इनका सम्बन्ध समुद्र के साथ कल्लोलों का सा है। ये इन्हीं से उद्भूत होकर इन्हीं में तिरोभूत हो जाते हैं।[2] अस्थिरता इनका विशेष गुण है।[3] इसलिए इन्हें अस्थिर, अनवस्थित, अन्य चारी तथा सञ्चारी भी कहा जाता है। उद्बुद्ध स्थायीभाव को रस रूप से अभिव्यक्ति में सहायक होने के कारण मम्मट ने इन्हें स्थायीभाव का सहकारी कहा है।[4] इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है। व्यभिचारी भावों की स्थिति माला में गुंथे फूलों की सी होती है।

१- विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।
वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः॥
— ना०शा०, ७/२७ (वृत्ति)

२- द०रू०, ४/७

३- एते व्यभिचारिणो विबुद्धचेवानिमेषमुत्पद्येव स्थायिमध्ये प्रकटयन्त-
स्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति न तु स्थिराः।
ना०शा०, भाग १ (अभि०भा०), पृ० ३०८

४- कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥
का०प्र०, ४/२७, २८

स्थायीभाव—

आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानवमन का जिन मूल प्रवृत्तियों को 'मन:संवेग' कहते हैं उन्हीं को साहित्य-शास्त्र में 'स्थायीभाव' की संज्ञा दी जाती है। ये वासना रूप से प्रमाता के चित्त में सदैव विद्यमान रहते हैं। कारण के अनुपस्थित रहने पर भी इनका स्थायित्व रहता है। सामान्य रूप से इनकी सत्ता अव्यक्तावस्था में रहती है। काव्य में अनुकूल विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से ये स्थायीभाव व्यक्त हो जाते हैं और आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त कर लेते हैं। रसानुभूति का प्रयोजक और आभ्यन्तर कारण यही है। इसी में रस के अङ्कुरण का मूल शक्ति निहित रहती है। फलतः सभी भावों में यह प्रधान होता है।[1]

महिमभट्ट ने स्थायीभाव की गौणता तथा प्रधानता के सम्बन्ध में विचार करते हुये बतलाया है कि रति आदि स्थायीभाव भिन्न रसों के प्रसङ्ग में व्यभिचारी भाव तथा अनुभाव रूप में भी आ सकते हैं, क्योंकि अन्य रसों की प्रधानता के समय वे आगन्तुक के रूप में होते हैं। आगन्तुक के रूप में आने वाले स्थायीभाव में प्रधानता नहीं रहती है। यही स्थायीभाव अपने मूल रस से भिन्न रस में सञ्चारी रूप से पोषक होने पर व्यभिचारी और अनुभाव रूप में भी स्थित रह सकते हैं, परन्तु व्यभिचारी भाव स्थायी भाव कभी नहीं हो सकते हैं।[2] स्थायीभाव तो संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं

१- यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।।

ना० शा०, ७।८

२- ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव। केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः। तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं न व्यभिचारिसात्त्विकेषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि

(शेष अगले पृष्ठ पर)- - -

और व्यभिचारी भाव सञ्चरणशील, अस्थिर तथा क्षणिक होते हैं। अतः रसत्व का पद तो स्थायीभाव को ही मिलता है।[1]

स्थायीभाव अपने विरोधी-अविरोधी किसी भी भाव से नष्ट नहीं होता है, वरन् वह स्वयं सभी सजातीय-विजातीय भावों को आत्मरूप बना लेता है।[2] जैसे—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त (नायक) के चरित्र का गठन शृङ्गारप्रधान होने के कारण वहाँ स्थायी भाव 'रति' है। किन्तु नाटक में दुष्यन्त के जीवन में अन्य भावों का भी उन्नयन प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय अङ्क में दुष्यन्त शकुन्तला के दर्शन के लिए चिन्तित है,[3] छठे अङ्क में शकुन्तला को दी गयी अपनी अंगूठी का अभिज्ञान हो जाने के बाद ग्लानि

सात्त्विकेष्वेव नैतयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः, न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव, न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते। — व्य०वि०, पृ० ६९-७०

१- बहुाश्रयत्वात्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः। तद्वत्स्थायिनामनुगुण-भूता अन्ये भावास्तान्गुणतया श्रयन्ते। स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति।
ना०शा०, ७/८ (वृत्ति)

२- (क) विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥
द०रू०, ४/३४

(ख) सा०द०, ३/१७४

(ग) र०गं०, प्रथम आनन, पृ० १०७

३- कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।
अ० शा०, २/१

के प्रभाव के कारण निर्वेद,[१] भ्रमर को देखकर अमर्ष और असूया[२] आदि भावों का उदय हुआ । परन्तु इन सब भावों का मूल रतिभाव ही है । उपर्युक्त व्यभिचारी भाव रति के अङ्ग बनकर ही आये हैं तथा उसी (रति) में तिरोभूत हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ रति स्थायीभाव ने विभिन्न भावों को आत्मसात् कर लिया है ।

स्थायीभावों में चिरकालस्थायित्व, आप्रबन्धस्थायित्व अथवा अविच्छिन्न प्रवाहमयता होती है[३] । स्थायीभाव वर्णनीय और आनन्ददायी होते हैं । स्थायीभाव की वासना-रूपता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचार

१- कञ्चुकी ---- यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति । तदा प्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः । तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥

अ०शा०, ६।५

२- चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

वही, १।२२

३- तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम् ।

र०गं०, आनन १, पृ० १५८

अभिनवगुप्त ने किया था,[१] जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। भरत ने इनकी संख्या आठ मानी है।[२] कालान्तर में इनकी संख्या नौ-दस तक पहुंच गयी। इनके नाम हैं— रति, शोक, हास, उत्साह, क्रोध, विस्मय, जुगुप्सा, भय, निर्वेद तथा प्रेयान्। निर्वेद यद्यपि एक व्यभिचारी भाव भी है; तथापि सात्त्विक निर्वेद (तत्त्व-ज्ञानजन्य) शान्त रस का स्थायीभाव माना गया है।[३]

रस-भेद

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्मिलित परिपोष के द्वारा अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस है। एवंभूत रस ही सहृदय-ग्राह्य है। यह स्वयं उत्पन्न नहीं होता है। इसकी चर्वणा उत्पन्न होती है। इसी आधार पर यदि कोई रस की भी उत्पत्ति मानना चाहे तो उचित नहीं होगा। यह अनुमान प्रमाण से भी बोधगम्य नहीं है। चर्वणायोग्य होने के कारण इसकी अभिव्यञ्जना ही सम्भव है।

१- स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति।

ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ०२८२

२- रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।

वही, ६।१७

३- तत्र निर्वेदो नाम — दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्ट-जनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचकुसत्त्वानाम्। रुदितनिःश्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैस्तमभिनयेत्।

वही, ७।२७ (वृत्ति)

रस का आस्वाद अखण्ड रूप में होता है । उसके आस्वाद में अधिक अथवा कम का कोई प्रश्न नहीं है । रस के आस्वाद की दृष्टि से उसके भेद भी सम्भव नहीं हैं । जिस प्रकार आकाश एक है, उसके भेद नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार रस के भी भेद नहीं हो सकते हैं । आस्वाद्य होने के कारण ही इसको 'रस' कहते हैं । वह सर्वदा एक और आनन्दस्वरूप है ।

वर्णना की दृष्टि से तो रस वस्तुतः एक ही है, किन्तु उपाधिगत भेद से उसके कई रूप मान लिये जाते हैं[1] इस प्रकार मानव-अन्तस् में विद्यमान स्थायीभावों की कल्पना के आधार पर रस की गणना कर ली जाती है[2] रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु के अनुसार रसों की सङ्ख्या अनन्त है, क्योंकि उनका मत है कि कोई भी चित्तवृत्ति ऐसी नहीं है जो परिपोषण को प्राप्त कर रसरूपता को धारण न कर सके,[3] किन्तु यह मत तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता है । चित्त-वृत्तियों के आधार पर रस की गणना करने से उसमें आनन्त्य-

---

१- रसस्यानन्दधर्मत्वादैकध्यं भाव एव हि ।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय: उपाधय: ।।

अ०को०, ५।७१

२- यतोऽष्टधा मनोवृत्ति: सभ्यानां नाट्यदर्पणि ।
अष्टावेवानुभूयन्ते तादृशा (क्षता) स्तै: रसा: पृथक् ।।

भा०प्र०, पृ० ४६

३- यतुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति ।

का०(रु०), १२।४ (नमिसाधुकृतटीका)

दीख आ जायेगा ।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में आठ रसों[1] और आठ स्थायी भावों[2] की गणना की है । कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में 'अष्टरस' की ओर संकेत किया है ।[3] भरत द्वारा मान्य आठ रसों और आठ स्थायी भावों के सिद्धान्त का समर्थन करने वाले काव्याचार्यों का मत है कि भरत ने शान्त को रस-रूप में मान्यता नहीं दी है और उन्होंने 'शम' अथवा 'निर्वेद' का उल्लेख स्थायी भाव के रूप में नहीं किया है । इस प्रकार भरत से लेकर भामह[4] और दण्डी[5] तक काव्यशास्त्र में शान्त रस को छोड़कर आठ ही रसों का

१- शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।

नाट्य शा०, ६।१५

२- रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।

वही, ६।१७

३- मुनिना भरतेन यः प्रयोगो,
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता,
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ।।

विक्रमो०, २।१८

४- रसैश्च सकलैः ----- ।।

का० (भा०), १।२१

५- इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।।

काव्या०, २।२९२

सिद्धान्त मान्य रहा है । दृश्य काव्य का प्रमुख उद्देश्य लोकानुरञ्जन ही है, इसलिए दृश्य काव्य की दृष्टि से रसों का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों ने शान्त रस की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है; क्योंकि शान्त का स्थायीभाव निर्वेद लोकानुरञ्जन के उद्देश्य के सर्वथा विपरीत है । शान्त रस का सर्वाधिक विरोध करने वालों में धनञ्जय[1] और धनिक[2] प्रमुख हैं ।

कालान्तर में बौद्ध श्रमणों तथा जैन मुनियों के प्रभाव से साहित्य में आध्यात्मिक तथा धार्मिक सदुपदेश-युक्त रचनाओं का सर्जन प्रारम्भ हुआ । अब जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' माना जाने लगा । परिणामस्वरूप मोक्ष से सम्बद्ध 'शान्त रस' और 'शम' अथवा 'निर्वेद' स्थायीभाव को भी काव्य और नाटक में स्थान प्राप्त हो गया ।

उद्भट[3] ही प्रथम काव्याचार्य हैं जिन्होंने नौ रसों और नौ स्थायीभावों की गणना की है । कुछ विद्वानों का मत है कि 'उद्भट' ने ही भरत के नाट्यशास्त्र में नौ रसों, नौ स्थायिभावों तथा शान्त रस से सम्बद्ध पद्यों को जोड़ दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अभिनवगुप्त से बहुत

१- शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।

द०रू०, ४।४५

२- इत्थंलक्षणास्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता श्रुतिरपि — 'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह ।

वही, ४।४५ (अवलोक)

३- का०सा०सं०, ४।४

पूर्व उद्भट के समय तक 'शान्त' को रस रूप में स्वीकार कर लिया गया था। अनुयोगद्वारसूत्र में गौतम ने 'णामाणि जाणि'[1] इत्यादि की व्याख्या करते हुए 'नाम' शब्द के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने सात नामों के रूप में संगीतशास्त्र के सप्तस्वरों का सूक्ष्म विवेचन किया है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने नवविध नाम के उदाहरण के रूप में काव्य के नव रसों का भी उल्लेख किया है।[2] अनुयोगद्वारचूर्णि गौतम रचित माना जाता है, जिसके ऊपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि निर्मित संस्कृत वृत्ति उपलब्ध होती है। गौतम की गणना महावीर के शिष्यों में की गयी है। यह गौतम न्यायसूत्रकार गौतम से सर्वथा भिन्न है। वहाँ गौतम इनका गोत्र और इन्द्रभूति नाम बताया गया है।[3] इस आधार पर गौतम को महावीर का समसामयिक मानना पड़ेगा। महावीर का समय ई०पू० छठी शताब्दी माना जाता है, अत: ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक काव्य में नव रसों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। रुद्रट[4] के रसों की संख्या के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं था, तथापि उन्होंने नाट्य और काव्य दोनों में शान्त रस की प्रतिष्ठा की थी।[5] भोजराज

१- अ०द्वा०सू०, १२१।१७

२- से किं तं नवनामे? णव कव्वरसा पण्णत्ता तंजहा—वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो। वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसंतो अ॥

वही, १२८।६३

३- गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय - सडंगवि।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलं बम्हणुत्तमो॥

षट्खण्डागम, १।१।१।६१

४- का०(रु०), १२।३

५- एवं ते नवैव रसा:। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा बहुलतमैवोपदेश्यत्वात्।

ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ० ३४१

ने स्थायीभावों की सङ्ख्या आठ तथा रसों की सङ्ख्या बारह मानी है।[1] इन्होंने परम्परागत आठ रसों के अतिरिक्त शान्त, प्रेयान्, उद्धत और ऊर्जस्वि — इन चार रसों का भी उल्लेख किया है। शान्त की प्रकृति शम, प्रेयान् की प्रकृति स्नेह, उद्धत की प्रकृति गर्व और ऊर्जस्वि की प्रकृति अहङ्कार होती है। शृङ्गार आदि की भाँति इनके भी विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव होते हैं।[2] रुद्रट की भाँति भोज ने भी तैंतीस व्यभिचारी तथा आठ सात्त्विक भावों को रसत्व प्रदान करने का समर्थन किया था, क्योंकि इनमें भी रसनीयता रहती है।[3] मम्मट ने शान्त को नवम रस मानकर रसों के नौ भेदों को स्वीकार किया था।[4] अभिनवगुप्त

१- न चाष्टावेवेति नियमः। यतः शान्तं, प्रेयांसमुद्धतमूर्जस्विनं च केचिद्रसमाचक्षते।

शृ०प्र०, प्रकाश ११, पृ० ४४१

२- अत्र च शमप्रकृतिः शान्तः, स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्, गर्वप्रकृतिरुद्धतः, अहङ्कारप्रकृतिः पुनरूर्जस्वीति शृङ्गारादिवदेतेष्वपि विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगो द्रष्टव्यः।

वही।

३- (क) - - - रसनाद् रसत्वमेषाम् - - - तेऽपि रसाः।

वही, पृ०४४२

(ख) त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः प्रयान्ति च रसस्थितिम्।
भावा स्थातिसम्पन्नाः प्रयान्ति रसतामभी॥

शृ०ति०,१।१४

४- निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

का०प्र०, ४।३५

ने यह भी सङ्केत किया है कि कुछ विद्वान् इनके अतिरिक्त तीन अन्य रसों की भी कल्पना करते हैं। वे रस हैं — स्नेह, वात्सल्य और भक्ति; यद्यपि उन्हें स्वयं इनकी सत्ता स्वीकार्य नहीं थी[1]। हेमचन्द्र[2] तथा शार्ङ्गदेव[3] भी इस मत के समर्थक हैं।

१- एवं ते नवैव रसाः। - - - - - आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा हि बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। यूनोर्मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्मवीर एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। एतेनैव गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।

ना॰शा॰(अभि॰भा॰), भाग १, पृ॰३४१

२- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्ता नव रसाः। यूनो मित्रे स्नेहो रतौ लक्ष्मणादेर्भ्रातरि स्नेहो धर्मवीरे बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। < < < तथा गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य हासे वा रतौ वाऽन्यत्र वान्तर्भावो वाच्यः। एवं भक्तावपि वाच्यम्।

काव्यानु॰, पृ॰ १०६

३- आर्द्रताभिलाषस्य स्थायिनस्तेषु ते विदुः।
तदयुक्तमिमौ हि भक्तिस्नेहौ तु गौचरौ ॥
व्यभिचारित्वमनयोर्नूनमार्याः स्थायिनौ तु तौ।
अनुक्तविषया तृष्णा लौल्यं तद्धास्यकारणम् ॥

सं॰ र॰, ७।१५१७, १५१८

विश्वनाथ ने 'स्नेह' स्थायीभाव के आस्वाद को 'वात्सल्य' रस माना है।[1] काव्यप्रकाश में 'वात्सल्य' और 'भक्ति रस' को भावध्वनि में अन्तर्भूत कर लिया गया है।[2] मम्मट की यह मान्यता प्राचीन परम्परा से तो अनुप्राणित है ही साथ ही युक्तिसङ्गत भी है। वैसे तो सहृदयों को किसी भी चित्तवृत्ति का आस्वाद चमत्कारजनक प्रतीत हो सकता है; किन्तु उन सभी चित्तवृत्तियों के आधार पर यदि रस की गणना की जाने लगेगी तो रसों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी। इस संख्या-गौरव से कोई काम भी न होगा।

रसाभिव्यक्ति

भरत की रस-परिकल्पना नाट्योन्मुखी है। वे इन रसों का उपयोग नाट्य के लिए मानते हैं। मनुष्य की विभिन्न मनोदशाएँ (विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप) और पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) आङ्गिक आदि अभिनयों के द्वारा नाट्य होने पर ही रस रूप में आस्वाद लेते हैं।[3]

भरत की दृष्टि में नाट्य समस्त लोक का अनुव्यवसायात्मक अनुकीर्तन है, अनुभावन नहीं। अनुभावन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु से होता है।

१- स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥
सा०द०, ३।२५१

२- रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः - - - - - - - - - - - ॥
का०प्र०, ४।३५-३६

३- रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः।
ना०शा०(अभिनव०) भाग १, पृ० २६०

दुष्यन्त आदि का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता है । अतः अनुकृति के द्वारा दुष्यन्त, शकुन्तला आदि विशिष्ट व्यक्तित्व अथवा सामान्य विभावादि का ग्रहण नहीं होता है, अपितु उनके साधारणीकृत रूप का ही ग्रहण होता है ।[1] उनका साधारणीकरण हो जाने पर ही सामाजिक का भी नट के समान अनुकीर्तन हो जाता है और तब सामाजिक की प्रज्ञा में दुष्यन्त, शकुन्तला के साथ तादात्म्य की स्थापना हो जाती है । इसी अभिन्नता अथवा तादात्म्य-प्रतीति के कारण उसके हृदय में रसानुभूति अथवा सौन्दर्य का उद्बोधन होने लगता है ।

रस-सिद्धान्त में 'सामान्य गुणयोग ' का प्रयोग भरत के तात्त्विक चिन्तन का प्रतीक है । भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित 'साधारणीकरण ' का मूल सिद्धान्त 'सामान्य गुणयोग ' की कल्पना में बीज रूप से निहित था । इसी सिद्धान्त के द्वारा विशिष्ट तथा व्यक्तिपरक भावों को साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिससे रसास्वाद होने लगता है ।[2] उन व्यक्तिपरक भावों का 'साधारणीकरण' न होने से रस-प्रतीति होगी ही नहीं । शुष्क काष्ठ में ज्वलनशीलता तो पहले से ही विद्यमान रहती है, परन्तु वह प्रज्ज्वलित तभी होता है जब उसमें बाहर से अग्नि का सम्पर्क हो जाता है । प्रेक्षक के हृदय में भी भाव तो पहले से ही विद्यमान रहते हैं । जब नाट्यार्थ अथवा रस (विभाव, अनुभाव आदि का संयुक्त रूप) का भावन उसके हृदय का स्पर्श करता है, तब ये ही

१- नैकान्ततो अभवतां देवानां वानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

ना०शा०, १।१०७

२- एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते ।

वही, भाग १, पृ० ३४८

भाव उसके हृदय में रसोद्रेक के रूप में व्याप्त हो जाते हैं और उसे रसानुभूति होने लगती है।[१]

नाट्यशास्त्र में भरत ने रस को स्पष्टतः 'आस्वाद्य' कहा है।[२] जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सभी रस मूल हैं, जिनके आधार पर भावों की स्थिति हुआ करती है।[३] वस्तुतः रसरूप में स्थायीभावों की परिणति का सिद्धान्त भरत का ही सिद्धान्त है।[४] रस सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्-रसनिष्पत्तिः' को सामान्य दृष्टान्तों से स्पष्ट करते समय उन्होंने श्रव्य काव्य और नाट्यगत रसानुभूति की तुलना सुस्वादुव्यञ्जनोपभोगगत रसानुभूति से की है। विविध प्रकार के व्यञ्जन (दूध, घी आदि), औषधि (हल्दी, पिप्पली, इमली, सूखा नामक साग) और द्रव्य (गुड़ादि) के संयोग से जैसे एक विशेष प्रकार के रस की निष्पत्ति होती है वैसे ही विविध प्रकार के भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जैसे गुड़ आदि द्रव्य, दूध आदि व्यञ्जन (व्यज्यते, प्रकट्यते, अन्नादि संयोज्यते अनेन), पिप्पली, हरिद्रा आदि

१- योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

नाट्यशा०, ७।७

२- रस इति कः पदार्थः। उच्यते — आस्वाद्यत्वात्।

वही, पृ० २८८

३- यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

वही, ६।३८

४- तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते।

वही, पृ० ३४६

से छः रसों (मधुर, तिक्त, अम्ल, लवण, कटु और कषाय) का परिपाक होता है, वैसे ही नाना प्रकार के भावों के अनुकूल आचरणादि से स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।[1]

रसों की आस्वादन-प्रक्रिया के विषय में भरत का मत है कि जैसे नाना प्रकार के दुग्धादि संयोजकों (व्यञ्जनों) से परिष्कृत अन्न का आस्वादन करता हुआ रसिक हर्ष का अनुभव करता है, वैसे ही सहृदय सामाजिक नाना भावों से अभिव्यक्त वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय से संयुक्त स्थायीभाव का आस्वादन भी करता है तथा उससे आनन्दित भी होता है।[2] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत भी रसनिष्पत्ति में व्यञ्जना वृत्ति को ही सहायक मानते थे, चाहे वह रस काव्यगत हो अथवा नाना व्यञ्जनसंस्कृत अन्नगत। उनके अनुसार चाहे भोज्यान्न का आस्वादन करने वाले हों अथवा काव्य, नाट्य के श्रोता प्रेक्षकादि, इन सबके हृदय में रस (स्थायीभाव रूप में) सूक्ष्म रूप से पहले से ही विद्यमान रहता है। वही अनुकूल परिस्थितियों को पाकर भोजन के तत्त्वों अथवा काव्यादि के विभावों द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। उपर्युक्त कारिका में भरत द्वारा प्रयुक्त व्यञ्जन

१- यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

वही, पृ० २८७-२८८

२- यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

वही, पृ० २८८-२८९

(नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नम्) और व्यञ्जित (नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् ---) शब्दों की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त नाट्यशास्त्र की भूमिका के लेखक रामस्वामी शास्त्री ने भी यही मत व्यक्त किया है ।[१]

रुय्यक ने द्वितीय उदात्तालङ्कार के सन्दर्भ में रसादि (ध्वनि) की चर्चा की है । उनके अनुसार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव से प्रकाशित रत्यादि (स्थायीभाव) रस है, जो एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है ।[२] आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करते हुए रुय्यक ने भी रसादि (अलङ्कार्य) को रसादि-ध्वनि के अन्तर्गत रखा है, तथा गुणीभूत रसादि ध्वनि को रसवदादि अलङ्कारों के अन्तर्गत रखा है ।[३]

कालान्तर में अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर अपने

१- Here the words Vyañjanā and Vyañjita show that the ingredients of food and the Vibhāvas of the dramatics only reveal or manifest the Rasas already existing in subtle form in persons and that this process of revelation of Rasa is known as Vyañjanā Vṛtti of words in ~~poem~~ poems, or vibhāvas and other bhāvas in dramatic performances and of ingredients of tasty food.

वही, Preface, p .27

२- तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभि: प्रकाशितो रत्यादिश्चित्तवृत्ति-विशेषो रस: । वही, पृ० ३४४-३४५

३- उदात्ते महापुरुषस्य चित्तवृत्तिरूपत्वाच्चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तदलङ्काराणां प्रस्ताव: ।

वही, पृ० ३४४

रस सम्बन्धी 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रवर्तन किया था । उन्होंने अभिव्यक्ति-वाद के मूल प्रयोजक 'साधारणीकरण' को भरत के 'सजातीय अनुकरण' के आधार पर स्पष्ट किया है । भरत का यह 'सजातीय अनुकरण' दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पल्लवित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है । न्यायदर्शन के अनुसार जाति नित्य है । मनुष्य व्यक्ति के रूप में तो नष्ट होता रहता है; परन्तु जाति रूप में मनुष्यत्व सदैव विद्यमान रहता है । जाति की सत्ता सभी कालों में वर्तमान रहती है ।[1] इसी आधार पर विभाव आदि की हर्ष-शोक आदि रसमूलक चित्तवृत्तियों में हर्षत्व और शोकत्व जाति थी और आज के नट या पात्र हर्ष या शोक आदि के जिन भावों को प्रकट कर रहे हैं, उनमें भी हर्षत्व और शोकत्व जाति के रूप वर्तमान रहते हैं । अतः अतीत के दुष्यन्त और शकुन्तला आदि के हर्ष और शोक आदि तथा नाटक में अभिनीत दुष्यन्त और शकुन्तला आदि के हर्ष और शोक आदि में समान जातीयता का एक ही सूत्र गुंथा रहता है । जाति की समानता की दृष्टि से प्रेक्षक के हृदय में सुख-दुःख की जाति समान ही है, अत एव साधारणीकरण होता रहता है । इस सजातीय अनुकरण के द्वारा नाट्य-रस की चर्वणा होती है ।[2]

१- गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ।

न्या०द०, ५।१।३

२- अनुकार इति हि सदृशकरणम् । तत्कस्य । न तावद्रामादेः । तस्यान-नुकार्यत्वात् । एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम् । न चित्त-वृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम् । न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति । सर्वथैव तस्य तत्राभावात् । भावे वानुकारत्वात् । न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात् । अनुभावांस्तु करोति । किन्तु सजातीयानेव ।

ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ०३७

यह चर्वणा प्रेक्षक की योग्यता पर आश्रित रहती है । श्रेष्ठ प्रेक्षक वह है जो अभिनेता के प्रसन्न होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है, उसके शोक में शोकातुर हो उठता है, उसके क्रुद्ध होने पर क्रुद्ध और भयभीत होने पर स्वयं भयभीत होने लगता है । इसी प्रकार योग्य प्रेक्षक अभिनेता के भावों के अनुकरण में भी पूर्ण रूप से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है ।[१]

रस रूप में आनन्दमय ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्दस्वरूप है।[२] सहृदय सामाजिक के लिए नैसर्गिक प्रतिभा, संस्कार, काव्यानुशीलन और सहृदयता आदि अत्यावश्यक हैं ।

अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती आचार्यों का रस-स्वरूप यह था कि रस का उद्भव मूलभूत पात्र में होता है । नट अपने अभिनय-कौशल से उसका प्रदर्शन करता है और सहृदय उसका आस्वादन करता है । इसके बाद शङ्कुक के मत से रस का विभावादिगत तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया ।[३] भट्टनायक ने पूर्ण रूप से सहृदयगत रूप का ही विवेचन किया है[४]। अभिनवगुप्त ने रस के विभावादिगत रूप को चरमकोटि पर पहुँचा दिया है । उनके अनुसार सामाजिकगत स्थायीभाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है । मूल मन:संवेग अर्थात् वासना अथवा

१- यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च । ।
क्रुद्धः क्रोधे भये भीतः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः ।
एवं भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः ।।
स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयो गुणैरेभिरलङ्कृतः।
एवं हि प्रेक्षका ज्ञेयाः प्रयोगे दशरूपतः ।।

नाट्यशा०, २७।६१-६३

२- अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते ।
वही, पृ० २८२

३- काव्यप्र०, ४।२८(वृत्ति)

४- वही।

संस्कार रूप में रति आदि स्थायीभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है। साधारणीकृत रूप में उपस्थित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से इनका क्रमश: प्रत्यायन, प्रकाशन तथा पुष्टीकरण होता है और तब यही स्थायीभाव तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य होकर ब्रह्मास्वाद सदृश अनुभूत होने लगता है। अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' का परिपोषण मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में किया है।[१] दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित होने के कारण परवर्ती साहित्य में इन्हीं की मान्यता को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। आचार्य विश्वनाथ ने भी रस को सत्त्वोद्रेक के कारण अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दचिन्मय लोकोत्तरचमत्कारप्राण आदि ही माना है।[२] उनके अनुसार यह रस उन्हीं के द्वारा आस्वाद्य होता है, जिनके हृदय में रति आदि

१- लोके प्रमदादिभि: स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त: सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थित: स्थायी रत्यादिको, नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राण:, विभावादिजीवितावधि:, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण:, पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारी शृङ्गारादिको रस: ।

काव्यप्र०, ४।२८ (वृत्ति)

२- सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय:।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर: ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित् प्रमातृभि: ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस: ।। साहित्यद०, ३।२,३

इदानींतनी और प्राक्तनी वासनाएँ विद्यमान रहती हैं।[1] वासनारूप संस्कारों से युक्त तथा काव्यनाट्यपरिशीलन के कारण सत्त्वोद्रेकयुक्त सहृदयजन वैसे ही रसास्वादन करता है जैसे विशिष्ट योगी ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करके परमानन्द की अनुभूति करता है।[2]

धनञ्जय,[3] रामचन्द्र गुणचन्द्र[4], आनन्दवर्धन[5] और अभिनवगुप्त[6] की

१- न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ।।
वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः,

वही, ३।८ और वृत्ति

२- पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम् । वही, ३।३

३- काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते । दशरूपक, ४।४२

४- अत एव प्रेक्षकादिगतो रसो लौकोत्तर इत्युच्यते । × × × ततः काव्यार्थ-प्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तृणां रसाविर्भावः । प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति, न पुनर्बहिःस्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति ।

ना०द०, पृ० १६१,१६२

५- शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ।।

ध्वन्या०,३।४२

६- सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजने (नो) नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च । यदेवं मूले बीजस्थानीयात्क (व:क) विगतो रसः । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव ।

ना०शा०(अभि०भा०),भाग १,पृ०२६४

भाँति साहित्यदर्पणकार ने व्यापक रूप में सर्वत्र रस की सत्ता स्वीकार की है। रस की मादक स्निग्ध धारा कवि, काव्य, पात्र और प्रेक्षक को समान रूप से प्रभावित करता है। कवि-निबद्ध कल्पना और पात्र द्वारा प्रस्तुत अनुभाव आदि के माध्यम से प्रेक्षक जिस रस का आस्वादन करता है उस रस की सत्ता इन दोनों के प्राणों को भी रसावेश से आकुल अवश्य कर देता है।[1] प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायीभाव आनन्द के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य संसार को अपनी किरणों से आवृत कर चेतना का उद्बोधन कराता है उसी प्रकार कवि की प्रतिभा रस का प्रकाश करता है और नट का सरस अभिनय उसके भावों का उद्बोधन कराता है। प्रेक्षक में आस्वादयोग्यता तो रहती ही है, कवि और नट में भी रसोदय का सामर्थ्य स्वीकार करना चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत अद्वैत वेदान्त से प्रभावित है। काव्य के अनुशीलन से जब अज्ञान (माया) का आवरण विशीर्ण हो जाता है तब जीवात्मा अपने स्वाभाविक आनन्दमय रूप में आ जाता है। उसी आनन्द को रस कहा जाया करता है। आशय यह है कि परिशीलन की चेतना में वासना रूप से स्थायीभावों की सत्ता सर्वदा सन्निहित रहती है परन्तु यह अज्ञानावरणों से आवृत रहती है। जब आवरण हट जाता है तब वह स्थायीभाव प्रकट हो जाता है, जो आनन्द को अपने में समाहित किये रहता है।[2] इस प्रकार स्थायीभाव की आनन्दमयी चेतना ही रस है, किन्तु उसका

१- शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ।।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।
काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ।।

सा०द०,३।१८,१९

२- वस्तुतः वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।

र०गं०, १, पृ० ११८

यह प्रतिपादन समीचीन नहीं है । 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति;'[१] आदि श्रुतिवाक्यों में 'रस' शब्द काव्य के रस का बोधक नहीं है । डा० शङ्करन् ने पण्डितराज के इस मत की कटु किन्तु सत्य आलोचना की है[२] ।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी मतों में अभिनवगुप्त का रस-स्वरूप ही विद्वानों द्वारा अद्यावधि समादृत है । इसका कारण इस मत की दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति है । इस मत की दार्शनिकता है रसानुभूति का ब्रह्मानन्दसहोदरत्व और उसकी मनोवैज्ञानिकता है सामाजिक तथा विभावादिकों के परस्पर तादात्म्य और समानरसमग्नता ।

रस की अलौकिकता

रस के बिना किसी भी अर्थ या विषय का प्रवर्तन, आरम्भ अथवा

१- तै०उ०, ११।७।१

२- But it must be distinctly understood that the two texts quoted above do not at all, in the context where they occur, contain the germs of the theory of rasa conceived of and developed by later writers on poetics. And to read into the text रसो वै सः --- etc. any of the later ideas, as Pandita Raja Jagannatha does, believing in the ultimate authority of the Veda and seeking to obtain scriptural sanction for his views, is wholly unhistorical.

T. .. D., page 3.

आविष्कार सम्भव नहीं है[१] — भरत मुनि का यह वचन रस की अलौकिकता की सिद्धि में प्रमाणरूप है ।

रस के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'अलौकिक' शब्द का अर्थ अतिप्राकृत अथवा असाधारण नहीं है, अपितु इसका अर्थ है अतीन्द्रिय । इन्द्रियातीत होने के कारण ही रस अलौकिक है । यदि रस इन्द्रियजन्य होता तो काव्य के वर्ण्य-विषय के अनुरूप सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का उसी रूप में ग्रहण करता, जबकि काव्य की वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है । काव्य का विषय चाहे शृङ्गार, हास्य, रौद्र अथवा करुण कोई भी हो सभी में सहृदय की आनन्दमयी प्रवृत्ति होती है । इससे प्रतीत होता है कि सामान्य सुख-दुःख, ईर्ष्या-द्वेष को अनुभव करने की प्रवृत्ति तो केवल इन्द्रियों में रहती है, किन्तु काव्य के पाठ अथवा श्रवण से ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, अपितु उससे एक मात्र आनन्द की ही अनुभूति होती है । इसीलिए रस को 'इन्द्रियातीत' — अलौकिक — कहा गया है,[२] किन्तु 'रस' को 'इन्द्रियातीत' मानना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि चर्वणाकाल में रस का साक्षात् अनुभव होता हुआ प्रतीत होता है और अनुभव इन्द्रियग्राह्य होता है ।[३]

रस का उद्रेक मन की सात्त्विक वृत्ति से होता है । इस अवस्था में सहृदय सामाजिकगत स्थायीभाव साधारणीकरण व्यापार द्वारा देश, काल, वैयक्तिकता आदि की सीमा से परे हट कर केवल शुद्ध भावस्वरूप रह जाता है,

---

१- न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

नाट्यशा० भाग १, पृ० २७२

२- र०सि०, पृ० २६

३- पुर इव स्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्- - - अलौकिकचमत्कारकारी - - - रसः ।

का०प्र०,४।२८ (वृत्ति)

तथा अनुकूल विभावादिकों के द्वारा वही रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।[1] इस प्रकार रस की सम्पूर्ण प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा व्यञ्जना व्यापार रसानुभव के अलौकिक साधन हैं, फलतः साध्यभूत रसानुभव अलौकिक ही होता है।[2] रसानुभव एक लोक-विलक्षण अनुभूति है। यह न तो प्रत्यक्ष है, न अनुमेय, न प्रतिभाजन्य ज्ञान और न योगज साक्षात्कार।[3]

रस एक रस्यमानैकप्राण अनुभव है। विभावादिजीविताविधि होने के कारण रस कार्य अथवा ज्ञाप्य रूप अनित्य वस्तु से पृथक् एक अलौकिक प्रतीति है।[4] लोक में कारक और ज्ञापक दो ही हेतु माने जाते हैं, किन्तु रस के 'व्यञ्जक' हेतु 'विभावादि' पूर्वोक्त दोनों हेतुओं से विलक्षण है।

१- तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने ----
चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।
ना०शा० (अभि०भा०), भाग १, पृ० २८४

२- विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम्।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम्॥
व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः।
सा०द०, ३।१३, ६

३- सर्वपदेषु च प्रतीतिपरिहार्यां रसस्य ---- एवं काव्ये अन्यशाब्द-
प्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।
ध्वन्या० (लोचन), २।४

४- (क) नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः॥
यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः।
तस्मान्न कार्यः -- सा०द०, ३।२०-२१
(ख) का०प्र०, ४।२८ (वृत्ति)
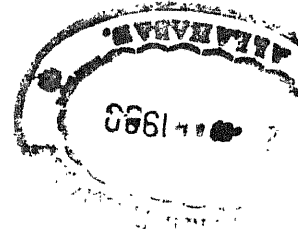
अतः उन हेतु की अलौकिकता से भी रस की अलौकिकता ही सिद्ध होती है।[1]

रस का ग्रहण न 'सविकल्पक ज्ञान' से हो सकता है और न 'निर्विकल्पक ज्ञान' से। सविकल्पक ज्ञान से 'नामजात्यादियोजना' का भान होता रहता है, किन्तु रसानुभूति स्वसंवेदनमात्र रूप होती है। वह शब्द-व्यवहार का विषय नहीं होती है, निर्विकल्पक ज्ञान विशेषण-विशेष्य से रहित वस्तुमात्र का अवगाहन करने वाला होता है। रस की प्रतीति में विभावादि की प्रतीति भी होती रहती है, अभिलपित ज्ञान होने से निर्विकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं है। अतः रस का उभयाभावस्वरूप उसकी लोकोत्तरता को ही बोधित करता है।[2]

सभी हेतुओं तथा ज्ञानादि से विलक्षण रस न प्रमेयरूप[3] है और न 'नित्य' वस्तु ही। नित्य वस्तु चिरस्थायिनी तथा सदैव विद्यमान रहती है, जबकि रस विभावादिजीवितावधि है, विभावादि परामर्श के पहले उसकी प्रतीति असम्भव है।[4] वस्तुतः रस एक अनिर्वचनीय वस्तु है, क्योंकि इसकी

१- विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेव तत्र दूषणम्।
वही।

२- (क) तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति।---
वही।

(ख) न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।
तथाभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च॥ सा०द०, ३।२८

३- नापि ज्ञाप्यहेतुः येन प्रमाणमध्ये पतेत्। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। - ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ० २८५

४- नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते॥
सा०द०, ३।२९

सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं की भी कोई सम्भावना नहीं हो सकती है। 'रस' को भावी वस्तु (काव्य की भावना के बाद होने वाली वस्तु) भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यह तो काव्य-नाट्य भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानन्दमय अनुभव है। इसे वर्तमान वस्तु कहना भी अनुपपन्न ही है, क्योंकि न तो यह कोई कार्य वस्तु है, न ज्ञाप्य वस्तु।[१] रस को परोक्ष (अतीन्द्रिय) कहना भी असम्भव है, क्योंकि यह साक्षात् अनुभवस्वरूप प्रतीत हुआ करता है। इन सभी तर्कों से यह सिद्ध होता है कि रस एक अलौकिक व्यापार है, तथा काव्य-नाट्योत्थापित विभावादि ज्ञान द्वारा निष्पन्न अनुभव है।[२] "रस की अलौकिकता में केवल एक ही प्रमाण है— सहृदय सामाजिक की चर्वणा अथवा रसना।[३] इस प्रकार रस एक अलौकिक प्रतीति है।

करुण तथा बीभत्स आदि रसों की आनन्दरूपता रस की अलौकिकता की ही पुष्टि करता है। लौकिक जगत् में तो दुःखीजन के दुःख से हम दुःखी तथा शोकाभिभूत हो जाते हैं, परन्तु काव्य में इन भावों का साधारणीकृत रूप रह जाता है, जिस के प्रभाव से सामाजिक के हृदय की संवेदना के स्वर

१- नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमय स्वप्रकाशरूपत्वात्।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि।

वही, ३।२२

२- साक्षात्कारतया न च।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसम्भवात्॥

वही, ३।२५

३- तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्॥

वही, ३।२६

कवि-वाणी तथा नट के अभिनय में एकाकार हो उठते हैं। फलस्वरूप लोकोत्तर संवेदना के महाभोग— महारस — का उदय होता है। इस प्रकार यह महारस सदा परमानन्द-स्वरूप, विलक्षण, वैचित्र्यकारक तथा अनिर्वचनीय होता है।[१]

१- महारसं महाभोग्यमुदात्तवचनान्वितम्।

नाट्यशा०, ६६।१४०

अध्याय २

करुण रस—सिद्धान्त पक्ष

करुण रस — सिद्धान्त पक्ष

करुण रस — उद्भव और विकास

भरत ने नाट्य तथा रस की उत्पत्ति का कारण स्वयं ब्रह्मा को माना है। नाट्यवेद की रचना भगवान् ब्रह्मा ने चारों वेदों से सामग्री लेकर की था। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्यांश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का ग्रहण किया था। चारों वेदों से नाट्य के इन चार प्रमुख तत्त्वों के ग्रहण करने का भी विशेष प्रयोजन है। ऋग्वेद में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुतियां की गयी हैं, इसीलिए ऋचाओं का अधिकांश स्तुतिस्वरूप ही है। वैसे निन्दा, अभिशाप, परिदेवना इत्यादि विभिन्न तत्त्वों के होते हुए भी ऋग्वेद में बहुलता स्तुतियों की ही है; इसीलिए ऋग्वेद शब्दप्रधान है और इसीलिए उसे प्रभुसम्मित कहा जाता है। मीमांसकों ने शाब्दी भावना को भी इसीलिए स्वीकार किया है; क्योंकि ऋग्वेद में जो आदेश अथवा उपदेश दिये जाते हैं वे किसी मनुष्य के द्वारा नहीं अपितु शब्द के द्वारा ही दिये जाते हैं। इसीलिए नाट्याचार्य भरत ने ऋग्वेद से पाठ्यांश ग्रहण करने की बात कही है।

१- एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदन्ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ।।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।
— ना० शा०, १।१६,१७

यजुर्वेद का सम्बन्ध अध्वर्यु नामक ऋत्विक् से [illegible] है । वह यज्ञ का प्रधान पुरुष [illegible] है । उसके द्वारा पढ़े गये प्रैष मन्त्रों के अनुसार ही होता इत्यादि ऋत्विक् अपना अपना कार्य करते हैं । वास्तव में वह यज्ञ का निर्देशक होता है, इसीलिए वह होता इत्यादि ऋत्विजों को अपने-अपने कार्यों के प्रति सजग रखता है । इस कार्य में सम्भवत: वह हस्तचालन, दृष्टि-निक्षेप इत्यादि का आश्रय लेता होगा । यही कारण है कि भरत ने यजुर्वेद से अभिनय को गृहीत माना है ।

सामवेद का सम्बन्ध उद्गाता नामक ऋत्विक् से है । उसका कार्य ऋचाओं का भिन्न-भिन्न ढंगों से गान करना है । सामगान के चार भेद हैं— ऊह, ऊह्य, वेय और अरण्य । इन गानों के आधार पर ही नाट्य में गान का प्रयोग किया गया होगा । इसीलिए सामवेद से गान को गृहीत बताया गया है ।

अथर्ववेद लौकिक संस्कृत के अधिक समीप है और उसमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है । अथर्ववेद में जो मन्त्र हैं उन मन्त्रों में पारलौकिक उपलब्धियों के साथ-साथ इहलौकिक सुख की भी चर्चा होने के कारण आचार्य भरत ने उससे रस के ग्रहण की बात कही है । अथर्ववेद में वर्णित शान्तिक, पौष्टिक, मारण, मोहन तथा उच्चाटन कर्मों में (अभिनेय) रस की सत्ता परोक्ष रूप से विद्यमान है¹ । उपर्युक्त कर्मों में

१- (अ) उन्मादयत मरुत् उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥
— अथर्व०, ६।१३०।४

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥
— वही, ६।१३४।२

(शेष अगले पृष्ठ पर) - - -

शान्तिक कर्म शान्तरस के अभिनय से, पौष्टिक कर्म शृङ्गार और हास्य रस के अभिनय से, मारण कर्म करुण और रौद्र रस के अभिनय से, मोहन कर्म वीर और अद्भुत रस के अभिनय से तथा उच्चाटन कर्म बीभत्स और भयानक रस के अभिनय से साम्य रखता हुआ प्रतीत होता है। रणस्थल में दुन्दुभिनिर्घोष और शस्त्रास्त्रों की झनझनाहट के साथ किसी शत्रुस्त्री द्वारा अपने प्रिय पुत्र को वक्षस्थल में समेट कर वहाँ से भाग जाने के प्रयत्न में करुण रस की अभिव्यक्ति प्रतीत हो रही है।[१] इस प्रकार अथर्ववेद में प्रतिपादित शान्तिक तथा मारण आदि कर्मों में नट के समान उस (अथर्ववेद) के ऋत्विक् के शान्तिक तथा मारण कर्मों के समय उदय होने वाले प्रश्रय और वेपथु आदि अनुभावों का; प्रजा के शुभचिन्तन और शत्रु के (मारणार्थ) ग्रहण आदि के द्वारा (प्रजा और शत्रु रूप मुख्य आलम्बन) विभावों का तथा धृति, प्रमोद आदि व्यभिचारी भावों का एकत्र समाहरण दृष्टिगत होता है। इन्हीं विभावादि सामग्री से रसात्मक आस्वाद की उत्पत्ति होती है। इसलिये

(पूर्व पृष्ठ का शेष) - - -

(ख) यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिक्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥

— अथर्व०, ५।२१।६

१- दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीम्-
आशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्या-
मित्री भीता समरे वधानाम्॥

— वही, ५।२०।५

उन (रसों) का ग्रहण अथर्ववेद से बताया गया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि वैदिक वाङ्मय में करुण (रस) सम्बन्धी विभिन्न सामग्री का वर्णन तो है, किन्तु उसमें प्रत्यक्ष रूप से करुण रस का नामोल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

करुण रस का सम्यक् परिपाक वाल्मीकि द्वारा माना जा सकता है। वह आदिकवि ही करुण रस के जन्मदाता माने जाते हैं। प्राचीन काल में परस्पर साहचर्यरत क्रौञ्च-द्वन्द्व में से क्रौञ्च का वध कर दिया गया। उस समय उनके परस्पर साहचर्य का भङ्ग होने के कारण क्रौञ्ची को जो शोक हुआ वह विप्रलम्भ (शृङ्गार) के स्थायी-भाव 'रति' का सञ्चारी-भाव शोक नहीं था, अपितु सहचर के वध के बाद आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने से वह शोक स्थायीभाव था। उस समय वहाँ उपस्थित वाल्मीकि के चित्त में वासना रूप से जो शोक विद्यमान था उसे रस (करुण) की उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो गई। यहाँ पर मृत क्रौञ्च आलम्बन है, उसके वियोग से कातर क्रौञ्ची आश्रय है, क्रौञ्ची का आक्रन्द इत्यादि अनुभाव है और विषाद, चिन्ता आदि सञ्चारी-भाव हैं। इनकी सहायता से अनुभाव के आस्वादन के द्वारा क्रौञ्ची के शोक के साथ वाल्मीकि के हृदय में वासना रूप से विद्यमान शोक स्वरूपता को प्राप्त हो कर चर्वणा योग्य बन गया। वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वादन केवल चित्त की द्रुतिशीलता के द्वारा ही किया जा

१- आथर्वणवेदे तु— शान्तिकमारणादिकर्मसु नटस्यैव तस्यास्तिर्यंक:
प्राक् हृदवे शुण्णाद्यनुभावानां प्रचारप्रभृतिना वधानुग्रहणादिना - - -।
प्राधान्यविभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसतां
समाहरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्र्यरूप रसात्मकचर्वणासम्भव:,
इति ततस्तद्ग्रहणमुक्तमिति।

—ना०शा०(अभि०भा०) भाग१, पृ० १५-१६

बनता है। उपर्युक्त प्रसङ्ग में शोक की भावना से अभिभूत हो जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त से नियन्त्रित होकर वाल्मीकि की चित्तवृत्ति काव्य रूप में परिणत हो गई।[1] 'हे निषाद। तुम कभी प्रतिष्ठा को न प्राप्त हो क्योंकि तुमने काममोहित क्रौञ्च-मिथुन में से एक को मार डाला है।'[2] विद्वानों में इस विषय को लेकर बहुत विवाद है कि क्रौञ्च-युगल में से वध किसका हुआ था। कुछ आचार्यों का मत है कि वध क्रौञ्च का ही हुआ होगा, क्रौञ्ची का नहीं। वाल्मीकि का यह पद्य ही इसका प्रमाण है—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥[3]

यहाँ पर 'एकम्' और 'काममोहितम्' पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वध क्रौञ्च का ही हुआ होगा, किन्तु इसके विरोध में अभिनवगुप्त का यह कथन भी द्रष्टव्य है—

'सहचरीहननोद्भूतेन - - - - - - - प्राप्तः।'[4]

१- क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो - - - - विप्रुडिव्यञ्जकत्वादिति न्यायेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः॥ - ध्वन्या०(लोचन), १।५

२- रामा०, १।२।१५

३- वही।

४- ध्वन्या० (लोचन), १।५

इसके आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वध क्रौञ्चों का हुआ होगा; किन्तु नरपक्षी की अपेक्षा मादापक्षी का विलाप ही अधिक करुणात्मक होगा। दूसरी बात यह भी है कि परम्परा से नर पशु-पक्षी का वध ही उचित माना जाया करता था। इस दृष्टि से भी क्रौञ्च का वध मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। 'मा निषाद' इत्यादि पद्य में शब्दों का प्रयोग विचारपूर्वक नहीं किया गया था, अपितु शोकातिशय से अभिभूत होने के कारण उसका प्रस्फुटन स्वत: हो गया था। इस रचना में यद्यपि कोई शब्द शोकवाचक नहीं है, तथापि 'श्लोक' ही शोक को अभिव्यक्त कर रहा है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में वर्णना के योग्य शोकस्थायिभावात्मक करुण रस का स्वभाव द्रवणशील होने के कारण यही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत तत्त्व है।[१] प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि करुण रस के उद्भव के साथ ही काव्य का जन्म हुआ था। काव्य का उद्गम वस्तुत: करुण रस के ही आश्रय से हुआ था।[२]

कालान्तर में सर्वप्रथम भरत ने रस सम्बन्धी सभी तत्त्वों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया था। भरत, धनञ्जय, शारदातनय आदि ने करुण रस को जन्य तथा 'हेतुमान्' रस के रूप में स्वीकार किया है। भरत के अनुसार

१- एवं वर्णनोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्छलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मासारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारक:।

- वही।

२- सोऽनुव्याहरणाद्भूय: शोक: श्लोकत्वमागत:।
तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मन:।।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशै: करवाण्यहम्।।

- रामा०, १।२।४१

उत्पाद्योत्पादक-भाव के आधार पर करुण रस की उत्पत्ति रौद्र रस से होता है,[1] किन्तु इसकी उत्पत्ति में रौद्र रस का साक्षात् हेतुत्व नहीं होता है। रौद्र रस से तो परविनाश की उत्पत्ति होती है और उस परविनाश के द्वारा परम्परया वह शत्रुवधादि उनकी स्त्रियों आदि में करुण रस की विभावता का कारण बनकर करुण रस उत्पन्न करते हैं।

> श्मशाना ये पुरा रौद्रं मृदूनि शयनानि च।
> विपन्नास्तेऽद्य वसुधां विवृतामधिशेरते ।।[2]

इस प्रकार रौद्र का जो कर्म (वध, बन्ध आदि) है, वह करुण रस माना जाता है।[3] धनञ्जय ने रसोत्पत्ति में कारण-कार्य भाव के स्थान पर चित्तभूमि की समानता के आधार पर हेतुहेतुमद्भाव माना है। हास्यादि के कारण (विभाव) शृङ्गारादि के कारणों (विभावों) से सर्वथा भिन्न होते हैं; अत: रसोत्पत्ति में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता है।[4] रसास्वाद में सहृदय की चार चित्तभूमियों की समानता के आधार पर ही रसों की उत्पत्ति होती है। रौद्र और करुण दोनों रसों में चित्त की विक्षेपावस्था रहती है तथा रौद्र हेतुभूत रस है, फलत: रौद्र रस ही करुण रस

१- शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस:।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक: ।। - ना०शा०, ६।३९

२- म०भा०, ११।१६।३१

३- रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय: करुणो रस:।
ना०शा०, ६।४०

४- इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।
-द०रू०(अवलोक) ४।४४

का जनक है।[1]

इन दोनों भूमियों में चित्त अत्यन्त चञ्चल होकर विक्षिप्त हो जाता है, क्योंकि विक्षेप (वि+क्षिप् + घञ्) में प्रेरणा और त्याग का भाव जागृत हो जाता है। उत्तररामचरित में शोक-क्षोभ की उपमा तटाक के सेतुभेद से दी गई है। जिस प्रकार तटाक की जलराशि के बढ़ जाने पर उसकी प्रतिक्रिया सेतुभेद ही है, उसी प्रकार शोक से अत्यधिक अभिभूत हो जाने पर उसकी परिणति चित्त की विक्षिप्ति (अभ्युत्तम) ही है।[2]

शारदातनय ने वेदों की सहायता से रसोत्पत्ति का निर्धारण किया है।[3] अथर्ववेद के मन्त्रों का स्मरण करने वाले की तदनुरूप हिंसात्मिका बुद्धि क्रोध के कारण जब क्रिया रूप में परिणत हो जाती है तब उसे 'रौद्र' कहते हैं।[4] शोकरूप अथवा करुणाजनक होने के कारण रौद्र के फलस्वरूप करुण

१- स्वाद: काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भव: ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै: स चतुर्विध: ।।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनस: क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ।।
अतस्तज्जनकता तेषामत एवावधारणम् । - वही, ४।४३,४४

२- पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाह: प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ।। - उत्तरा०, ३।२९

३- शृङ्गार उदभूत् साम्नो वीरो भूरिततो यजु: ।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो वधुष: क्रमात् । - भाव०प्र०, पृ०४५

४- स्मरतोऽथर्वमन्त्राणां तद्धिंसात्मिका मति: ।
या क्रियोपहिता क्रोधात्स रौद्र इति कथ्यते ।। - वही।

रस की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि शारदा-तनय के अनुसार अथर्ववेद में प्रधान रूप से वर्णित आभिचारिक मन्त्रों का रौद्र रस के अनुभावों से अत्यधिक साम्य है । अत: अथर्ववेद से रौद्र की उत्पत्ति मानी गयी है तथा रौद्र के परविनाश आदि फलों से करुण की उत्पत्ति होती है।[1] अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने कहीं-कहीं शृङ्गार रस को भी करुण रस का प्राणभूत माना है।[2] उनके अनुसार शृङ्गार का विच्छेद होने पर (एक जन्म में दोनों प्रेमियों के वस्तुत: जीवित रहते हुए भी किसी एक को किसी कारण-विशेष से दूसरे की मृत्यु का निश्चय हो जाने पर) नियम से करुण रस की उत्पत्ति हो सकती है।[3] जैसे अभिनवगुप्त के मत से 'तापसवत्सराज' में मिथ्याप्रवाद के कारण अग्निदाह से वासवदत्ता की मृत्यु की सूचना प्राप्त होने पर उदयन में करुण रस की उत्पत्ति होता है।[4] निष्कर्ष यह है कि वस्तुत: करुण रस का हेतुभूत रस

१- प्रधानताप्रधानत्वे ज्ञातव्ये नाट्यवेदिभिः ।
यद्धि प्रधानं तदनुभावादन्यत्प्रसिध्यति ।।
तस्मात्प्रधानेतरयोर्ज्ञानं नाट्योपकारकम् ।
तस्मात्प्रधाना: शृङ्गारवीररौद्रा: पृथक्पृथक् ।।
बीभत्सास्यस्वतन्त्रत्वादेषां प्राधान्यकल्पना ।
स्वातन्त्र्येणाप्युत्पत्तिरितरेषां च सम्भवम् ।।
वही ।

२- रतिप्रलापेषु च शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम् ।
ना०शा० (अभि०भा०), भाग १, पृ०२६७

३- शृङ्गारान्तरं नियमेन करुण: ।
वही, पृ०२६६

४- उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ।।
वही, पृ०२६७

रौद्र है, किन्तु प्रसङ्गानुरूप कभी-कभी शृङ्गार से भी करुण की उत्पत्ति सम्भव है ।

वीर रस से भी करुण और बीभत्स रस प्रत्यक्ष रूप में उत्पन्न हो सकते हैं । समरभूमि में योद्धाओं के रण-कौशल से पर-पक्ष का संहार ही होगा, जिससे मृत वीर के सम्बन्धी शोक-दशा को प्राप्त होंगे । फलतः करुण रस की उत्पत्ति होगी । उदाहरणार्थ भट्टिकाव्य में प्रथमतः रामादि के पराक्रम से वीर रस की उत्पत्ति हुई, तदनन्तर इसी प्रसङ्ग में अतिकाय, कुम्भकर्ण आदि के निधन पर रावण द्वारा अभिव्यक्त शोक करुण रस रूप है।[१]

इस प्रकार वीर और करुण रसों के मध्य में रसान्तर के न रहने पर भी वीर रस से करुण रस की उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु दोनों रसों में आश्रय-भेद अवश्य रहेगा । वीर का आश्रय जहाँ शत्रुपक्ष होगा, वहीं करुण का आश्रय निकट के स्वजन होंगे । डा० डे ने भी करुण और बीभत्स को वीर रस से सम्बद्ध माना है।[२]

१- (i) अतिकाये हते वीरे प्रोत्सहिष्ये न जीवितुम् ।
क्षेपयिष्यति कः शत्रून् केन नाशयिष्यते यमः ।।
- भ०का० १६।२

(ii) कुम्भकर्णो रणे पुंसा क्षुद्रः परिभविष्यते ।
सम्भावितानि नैतानि कदाचित्केनचिज्जने ।।
- वही, १६।१८

२- Some rasas again are mutually consistent, e.g. Karuṇa and Bībhatsa go with Vīra; Śṛṅgāra goes with Hāsya.
- H.S.P., Vol.II, page 280 (पाद टिप्पणी)

अत: भरत द्वारा मान्य मूल चार रसों की भाँति करुण भी एक स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । यह सदैव किसी रस के साक्षात् या पारस्परिक सम्बन्ध से ही नहीं उत्पन्न होता है, अपितु स्वतन्त्र रूप में भी उसकी सत्ता रहती है । उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह पद्य द्रष्टव्य है—

'मा निषाद प्रतिष्ठां - - - - काममोहितम्'[१]।।

क्रौञ्च-मिथुन में एक की मृत्यु देखकर महर्षि वाल्मीकि का हृदय करुणा से अभिभूत हो गया । परिणामस्वरूप उनके मुख से सहसा बहेलिये के लिए अभिशाप निकल पड़ा । कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ पर अभिशाप का कारण वाल्मीकि का क्रोध रहा होगा और इसलिए करुण की उत्पत्ति उन्होंने रौद्र से मान लिया है; किन्तु वाल्मीकि जैसे महर्षि के हृदय में क्रोध की अपेक्षा करुणा की अनुभूति अधिक स्वाभाविक है; क्योंकि एक तो, वाल्मीकि जैसे महर्षि के हृदय में क्रोध का होना ही अस्वाभाविक है और दूसरे, क्रोध के कारण शाप देना उनके लिए और भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है । अतएव यहाँ पर करुण रस की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

करुण शब्द की व्युत्पत्ति —

करुण शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में शारदातनय का कथन द्रष्टव्य है । उनके अनुसार, 'करु' का अभिप्राय है— क्लेश । जब बुद्धि क्लेश को सहन नहीं कर पाती है,तब उसे 'करुणा' कहते हैं और इसी करुणा की प्रतीति में करुण रस होता है । अन्य लोगों में रहने वाले क्लेश के कारण

१- रामा० १।२।१५

मन की असहिष्णुता को ही करुण कहा जाता है।[१]

करुण रस के लिए 'करुण' शब्द का प्रयोग नाट्यकला के विशाता वृद्ध पुरुषों का व्यवहार किन्तु मूल रूप में ब्रह्मा की इच्छा का परिणाम है। जिस प्रकार गोत्र और कुल के आचार के अनुसार तथा आप्त पुरुषों के उपदेशानुसार माता-पिता की इच्छा के अनुकूल किसी बालक का एक विशेष नाम रख दिया जाता है, उसी प्रकार नाट्य-मर्मज्ञ आदि प्रतिपादकों (ब्रह्मा आदि) ने अपनी इच्छा के अनुकूल विभिन्न रसों को विभिन्न नामों से अभिहित किया है।[२]

करुण रस — स्वरूप-विवेचन

अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस सामान्य की भाँति करुण की भी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु

१- करु: क्लेश इति ख्यात: क्लेशं न सहते यत: ।।
यस्य धी: करुणा सा स्यात्प्रत्यये करुणो भवेत् ।
पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते ।।
मनसो यादृशो भाव: स वै करुण उच्यते ।
भा०प्र०,पृ० ४६

२- यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि ।
ना०शा० अ०६, पृ० ३०१

उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विवाद अवश्य था । भामह[१], दण्डी[२], उद्भट[३] आदि आचार्यों ने रस की सत्ता को स्वीकार किया था; किन्तु उनकी दृष्टि इन रसों की अलङ्कारता तक ही सीमित रह गयी थी । यही कारण है कि उन्होंने इन रसों को रसवत् आदि अलङ्कारों के रूप में ही स्वीकार किया था; किन्तु आनन्दवर्धन के समय से अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद स्पष्ट हो गया । अब ये रस आदि तो अलङ्कार्य बन गए और अलङ्करण के रूप में उपमा आदि अलङ्कारों की गणना की जाने लगी । रुय्यक को आनन्दवर्धन का ही रस-सिद्धान्त मान्य था । उनके अनुसार भी रस आदि काव्य के प्राण हैं, उन्हें अलङ्कार रूप में नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अलङ्कार उपस्कारक होते हैं तथा रस आदि प्रधान होने से उपस्कार्य हैं । अत: वाक्यार्थ बनने वाला व्यङ्ग्य ही काव्य का जीवातु (आत्मा) है ।[४]

१- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।
देवी समागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता ।।

का०(भा०), ३।६

२- इति कारुण्यमुद्रिक्तमलङ्कारतया स्मृतम् ।

काव्या०, २।२८७

३- रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ।।

का०सा०सं०, ४।२,३

४- रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्या: । अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूत: काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जक: ।

अ० स०, पृ० १२-१३

रसवदादि अलङ्कारों के प्रकरण में रुय्यक ने सर्वप्रथम रसवत् अलङ्कार 'अङ्गभूत रस' का उदाहरण दिया है[1]। किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्त अपने प्रियतम को स्वप्न में देखकर कोई स्त्री उसे उपालम्भ देती हुई उसे पकड़कर रखती है और उसे इस प्रकार उपालम्भ देती है— 'मखौल करने से क्या लाभ ? तुम मुझे बहुत देर से तो मिले हो, अब पुन: कहीं जा न सकोगे। अरे निष्ठुर। (मिलने के साथ ही) मुझसे अलग होजाने की तुम्हारी यह प्रवृत्ति कैसी ? तुम्हें मुझसे किसने दूर कर दिया था ?' स्वप्न समाप्त होने पर इस प्रकार प्रलाप करने वाली, प्रियतम के कण्ठ का आलिङ्गन करने वाली, तुम्हारी शत्रुस्त्री (जागने पर) अपने बाहु-वलय को खाली पाकर जोर-जोर से रोने लग जाती है।

उपर्युक्त पद्य में करुण अङ्गभूत है। यहाँ पर मुख्यतया वर्ण्य विषय राजा के पराक्रम का प्रभाव है, जिसकी शोभा आस्वादयोग्य करुण रस से अधिक बढ़ जाती है, अत: यहाँ करुण रस (रसवत्) अलङ्कार रूप है।

शोक नामक स्थायीभाव से उत्पन्न रस 'करुण' नाम से अभिहित किया जाता है[2]। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब शोक स्थायी-भाव की चर्वणा ही करुण रस है तब भरत ने 'शोकस्थायिभावात्मक:

१- किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन: प्राप्तश्चिराद्दर्शनं,
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृत: ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन्प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजन: ।।

अ० स०, पृ० ३४७

२- अथ करुणो नाम शोकस्थायिप्रभव: ।

ना०शा० ६, पृ० ३१७

करुणः' न लिखकर 'शोकस्थायिप्रभव: करुणो नाम' क्यों लिखा ? इसका उत्तर अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दिया है कि रति और शोक स्थायी भाव काव्य में तो आस्वाद्य होते हैं किन्तु लोक में वे आस्वाद योग्य नहीं होते हैं । इसके विपरीत हास इत्यादि स्थायी भाव जिस प्रकार लोक में चर्वणा के विषय होते हैं उसी प्रकार काव्य में भी रहते हैं । जिस प्रकार विचित्र वेशभूषा को देखकर हँसी भी आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में उनका वर्णन पढ़कर भी आनन्दानुभूति होती है । शोक और रति में यह बात नहीं है । क्योंकि शृङ्गार विभिन्न परिस्थितियों में लोक में यदि दृष्टिगोचर हों, तो वे लज्जा अथवा जुगुप्सा आदि भावों को उत्पन्न करेंगे। इसी प्रकार शोक का हेतु लोक में दृष्टि का विषय होने पर जुगुप्सा आदि भावों को ही उत्पन्न करेगा, किन्तु काव्य में वही चर्वणा का विषय बन जाता है । इसीलिये भरत ने हास्य इत्यादि रसों को हास इत्यादि स्थायिभावात्मक कहा है किन्तु शृङ्गार और करुण रसों को क्रमश: रति-स्थायिभावप्रभव और शोक-स्थायिभावप्रभव कहा है ।[1]

१- रतिरास्वादनात्मिकां प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते । प्रयुक्ते विभावादौ साधारण्यात् । हासे तु य आस्वाद: सोऽपि विकृतवेषादीनां सामाजिकान्प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुतेति विभाव-साधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति हासात्मकरसनात्यचर्वणाचर्वणाय-त्वाच्चास्य । रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादौ धारावाहिसुखदु:ख-रूपत्वेन निस्साधारणात्स्थायित्वनियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते यत: अतोऽनयोर्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम् । अन्येषु तु विभावे साधारण्य-सम्भावनात्तदात्मकग्रहणम् ।

नाट्यशा० (अभि० भा०), भाग १, पृष्ठ ३१२

साधारणीकरण व्यापार द्वारा आस्वाद्यमान शोकरूप स्थायिभाव का नाम करुण रस है।[1] यह शापक्लेश में पतित प्रियजन के वियोग, विभवनाश, वध, बन्ध, देशनिर्वासन, अग्नि आदि में जलकर मर जाने अथवा व्यसनों में फंस जाने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अश्रुपात, विलाप, मुख सूखना, विवर्णता, अङ्गों का शिथिलता, नि:श्वास तथा स्मृतिलोप आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, कम्पन, विवर्णता, अश्रुपात और स्वरभेद आदि करुण रस के व्यभिचारी भाव हैं।[2]

करुण रस के भरत-सम्मत स्वरूप को ही रुद्रट[3] आदि परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया है। कालान्तर में भी करुण रस का यही

१-तस्मात् करुण इति शोक: । असाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा ।

वही, पृ० ३१८

२-इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि ।
एभिर्भावविशेषै: करुणरसो नाम सम्भवति ।।
सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेय: करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ।।

ना०शा०, ६।६२,६३

४-(i) करुण: शोकप्रकृति: शोकश्च भवेद्विपत्तित: प्राप्ते: ।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहितो नायकस्तत्र ।।
आच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदा: ।
निपतितवेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति करुणे ः स्यु: ।।

का० (रु०), १५।३

(ii) शोकात्मा करुणो ज्ञेय: प्रियमृत्युधनक्षयात् ।
तत्रस्थो नायको दैवहत: स्याद्दु:खभाजनम् ।।

श्रृं० ति०, ३।८

स्वरूप मान्य रहा है, किन्तु उस समय कुछ आचार्यों ने करुणा की दृष्टि से मौलिक मतों की प्रस्थापना भी की थी ।

व्यञ्जना-विरोधी धनञ्जय[1] ने तात्पर्यावृत्ति के आधार पर रस (करुण) को वाक्यार्थरूप माना था । अभिनवगुप्त[2] ने अभिव्यक्तिवाद के आधार पर तथा भोजराज[3] आदि आचार्यों ने दार्शनिक स्तर पर करुण रस

१- (i) वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ।।

द०रू०, ४।३७

(ii) इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणो नु तम् ।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ।।
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।।

वही. ४।८१, ८२

२- शोको हीति । करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः । शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते ।

ध्वन्या०(लोचन) १।५

३- (i) शोकश्चित्तस्य वैधुर्यमभीष्टविरहादिभिः ।

स०कं०, ५।१३९

(ii) प्रीतिदयापनैकहेतुः शोकः
अपुनःसङ्गमफलः शोकः
अस्त्रीपुंसविषयः शोकः
निष्प्रत्याशारूपः शोकः ।।

B.S.P., पृ० ६०

के स्वरूप तथा वर्णना को प्रस्तुत किया था ।

भोज के अनुसार रस केवल एक है—पुरुषार्थ चतुष्टय से समन्वित शृङ्गार रस।[१] अन्य रस तो गड्डरिका-न्याय से मान लिए गए हैं । ये उनचास भाव वीरादि मिथ्या रस प्रवाद रूप हैं । ये भाव कभी रस रूप में नहीं परिणत होते हैं । ये शृङ्गार के लिए उसी प्रकार शोभादायक होते हैं जिस प्रकार अग्नि के लिए उसकी चमकती हुई चिनगारियाँ ।[२] इस प्रकार भोजराज की दृष्टि में अन्य रसों की भाँति करुण भी एक स्वतन्त्र रस नहीं है। रस्यमानता तो एकमात्र शृङ्गार में ही रहती है अन्य रसों में उसकी मान्यता वटयक्ष के समान है । जिस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष के यह कह देने पर कि अमुक वटवृक्ष के ऊपर यक्ष का निवास है,अन्य जन उसे बिना देखे ही विश्वास कर लेते हैं और उस वटवृक्ष की ओर आना जाना छोड़ देते हैं, उसी प्रकार शृङ्गार से भिन्न अन्य रसों में किसी एक आचार्य ने

१- (क) न रत्यादिमूला रसः, किं तर्हि शृङ्गारः । शृङ्गारो हि नाम विशिष्टेष्टचेष्टाभिव्यञ्जकानां आत्मगुणसम्पदामुत्कर्षबीजं शुचिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारातिशयहेतुरात्मनोऽहङ्कारविशेषः सचेतसां रस्यमानो रस इत्युच्यते ।

शृ०प्र० ११,पृ० ४३६

(ख) शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः । वही

(ग) रत्यादयः शृङ्गारप्रभवा एव एकोनपञ्चाशद्भावाः, वीरादयो मिथ्यारसप्रवादाः; शृङ्गार एकश्चतुर्वर्गैककारणं रस इति ।।

वही, १, पृ० २

२- रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जितानि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।।

वही, १।६

रस्यमानता को स्वीकार कर लिया, तो अन्य सभी आचार्य स्वयं उसकी अनुभूति किये बिना उसमें रस प्रतीति मान बैठे, जबकि यह उचित नहीं है।[1]

मम्मट,[2] शारदातनय,[3] विश्वनाथ,[4] पण्डितराज जगन्नाथ[5] आदि

१- वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ।

वही, १।७

२- व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।

का०प्र०, ४।२८

३- शोकात्मा करुणो योऽभिन्नोवादिप्रकृतिस्स्वतः ।।
स्तैऽनुभावाः कथिता दीप्यमानास्तु दापनाः ।

भा० प्र०, पृ० ६२-६३

४- इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।।

सा०द०, ३।२२२-२२५

५- करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि । तत्सम्बन्धिगृहतुरगा-भरणादर्शनादयस्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः । गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावा ग्लानिदैन्यमोहविषादचिन्तौत्सुक्यदीनताजडतादयो व्यभिचारिणः ।

र०गं०, आनन १, पृ०६७-६८

सभी आचार्यों ने अभिव्यक्तिवाद का ही समर्थन किया है । रूपगोस्वामी भी चर्वणा की दृष्टि से इसी मत के अनुयायी हैं । वैष्णव आचार्य होने के कारण उन्होंने "भक्ति" को प्रधान रस माना है तथा करुण को उसी के अन्तर्गत गौण रस के रूप में स्वीकार कर लिया है । शोक रति (स्थायीभाव) अपने उचित विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर सहृदयजन के द्वारा करुण-भक्ति रस रूप में चर्वणा गोचर बन जाता है ।[१]

इन सब के अनुसार शोक स्थायिभाव ही अपने अनुकूल विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा उद्बुद्ध तथा पुष्ट होकर करुण रस के रूप में परिणत हो जाता है ।

शोकस्थायिभावरूप यह करुण रस लौकिक करुण से सर्वथा पृथक् तथा विलक्षण होता है । लोक में देखा जाता है कि एक ही शोकभाव मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर विभिन्न भावों को उत्पन्न करता है । जैसे शत्रु को शोक की दशा में देखने पर मनुष्य सुखी होता है, प्रियजन को शोकाकुल देखकर वह दुःखी हो जाता है तथा तटस्थ को शोक-विह्वल देख कर वह उदासीन रहता है । इसके विपरीत काव्य में वर्णित करुण रस सभी परिस्थितियों तथा सम्बन्धों में आनन्द रूप ही रहता है । करुण रस की चर्वणा में शोक स्थायीभाव देश, काल आदि की वैयक्तिक सीमा से परे हो जाता है तथा शुद्ध शोक भाव रह जाता है । काव्यानुशीलनवशात् उत्पन्न अलौकिक व्यञ्जना-व्यापार द्वारा करुण रस की साधारणीकृत विभावादि सामग्री के साथ (सामाजिकगत) शोक का हृदयसंवाद हो जाता है और इसी तन्मयीभाव के कारण आनन्दस्वरूप करुण रस का आस्वादन होने लगता है ।

१- आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि ।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ।।

भ०र०सि०, उत्तरविभाग, ४।१

करुणाभास

अनौचित्य से बढ़कर रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं होता है। औचित्य का निबन्धन ही रस का रहस्य है।[१] करुण रस की अनुचित प्रवृत्ति करुणाभास है।[२] इसमें अनुचित आलम्बन विभाव आदि सामग्री के कारण सहृदय को रस की अनुचित प्रतीति होती है, जैसे वीतराग व्यक्ति को आश्रय बना कर तथा कलहशील कुपुत्र को आलम्बन बनाकर किया गया करुण का प्रयोग करुणाभास होगा।[३] इस करुणाभास के विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारीभावों का आभास मात्र होता है। यहाँ तक कि इन विभावाभासादिकों से उद्बुद्ध प्रतीत और परिपुष्ट रस की चर्वणा चर्वणाभास ही कही जायेगी। करुणाभास में शोक नामक स्थायिभाव 'शोकत्व' की कोटि तक नहीं पहुँच पाता है। वह चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, निर्वेद मात्र रूप व्यभिचारिभाव ही रह जाता है। वह शोक स्थायी न होकर

१- अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

ध्वन्या० ३।१४ वृत्ति में उद्धृत

२- तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्य-
प्रवृत्तिकृतमेव हास्यविभावत्वम् ।

ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ०२९६

३- एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमान:
शोक: - - - रसाभास: ।

र०गं०, आनन १, पृ० ३५६

स्थायिकल्पाभास कहा जा सकता है।[१] जो जिसका प्रियजन नहीं है उसके शोक से उत्पन्न करुण रस अनौचित्य के कारण हास्यस्वरूप हो है।[२] इस प्रकार करुण ही हास्यनिष्ठ होने पर 'करुणाभास' कहा जाता है।[३] शारदातनय ने करुणाभास को हास्य और श्रृंगार दोनों से युक्त माना है।[४] उनके अनुसार शोक के आश्रय की श्रृंगार-हास्य-बहुल चेष्टायें करुणाभास होंगी। उसका भाव चित्त के स्वभाव से उत्पन्न होता है।[५]

कविराज विश्वनाथ ने रस और भावों का आभास वहाँ माना है जहाँ वे अनुचित रूप से प्रवृत्त हों।[६] वृत्ति में इस अनौचित्य की व्याख्या करते

१- तत्रानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येवमेव वार्ता। अत एव औचित्यतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनैः रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते।

नाट्यशा०(अभि०भा०), भाग १, पृ० २६६

२- एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्।

वही।

३- करुणो हास्यभूयिष्ठः करुणाभास उच्यते।

र०सु०, पृ०१२१

४- हास्यश्रृंगारसंमित: करुणाभास उच्यते।

भा०प्र०, पृ०१३२

५- शोचतो हास्यश्रृंगारभूयिष्ठं चेष्टितं यदि।

स एव करुणाभासस्तद्भावश्चेतस्स्वभावजः।

वही, पृ०१३३

६- अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः।

सा०द०, ३।२६२

हुए उन्होंने यह बताया है कि भरत आदि आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट रसों के लक्षणों में वर्णित सभी सामग्री में से जहाँ किसी एक का भी अभाव रहता है, वहाँ अनौचित्य के कारण रसाभास अथवा भावाभास होता है।[1] इस प्रकार जहाँ करुण रस की सम्पूर्ण सामग्री न हो अर्थात् जहाँ करुण एकनिष्ठ रहता है वहाँ करुणाभास मानना चाहिए।

करुण रस की सामग्री

स्थायिभाव — शोक

करुण रस इष्टनाश तथा अनिष्टप्राप्ति रूप विभाव आदि सामग्री के द्वारा उत्पन्न होकर आस्वाद्य हो जाता है। इस आधार पर करुण रस का आत्मा है शोक की चर्वणा। फलस्वरूप करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' माना गया है।

शोक शब्द की व्युत्पत्ति शुच् धातु से हुई है। कर्मवाच्य में 'शोच्यते इति शोकः' अर्थात् जिसके विषय में शोक किया जाता है वह शोक है; कर्तृवाच्य में 'शोचति इति शोकः' अर्थात् जो शोक करता है वह शोक है; तथा ण्यन्त में शोचयति अर्थात् जो शोक कराता है वह शोक है।[2] शोक सभी

१- अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।

मही, ३।२६२ वृत्ति

२- शुक्क्लेशः शोषणात्मैः शोच्यते शोचतीति वा।
शोचयत्यपरानेवं शोकशब्दस्य निर्वहः।।

भा०प्र०, पृ० ३५

इन्द्रियों के लिए अत्यन्त कष्टदायक स्वभाव वाला होता है । यह सत्त्व, रजस् तथा तमस् भेद से तीन प्रकार का होता है।[1]

इष्ट के नाश से उत्पन्न होने वाली चित्त की विकलता का नाम शोक है।[2] इसका लक्षण है 'निर्वेदानुविद्धं दुःखं शोकः'।[3] ऐसा दुःख जो निर्वेद से युक्त होता है 'शोक' कहा जाता है । यहाँ पर दुःख और शोक में भेद बतलाया गया है । शोक और दुःख प्रायः समान रूप से अनुभूत हुआ करते हैं; किन्तु जिस दुःख में निर्वेद (तत्त्वज्ञान से उत्पन्न संसार के प्रति उदासीनता) भी रहा करती है वह सामान्य दुःख न होकर 'शोक' कहा जाता है । उदाहरणार्थ, किसी दुःखी व्यक्ति को देखकर मन में जो उद्विग्नता उत्पन्न होती है वह दुःख है; किन्तु इस उद्विग्नता के साथ जहाँ पर संसार के प्रति उदासीनता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है उसे शोक कहते हैं । क्रीडा करते हुए क्रौञ्च-युगल में से एक का वध हो जाने पर वाल्मीकि के मन में जो उद्विग्नता उत्पन्न हुई उसमें संसार की नश्वरता को देखकर निर्वेद ही उत्पन्न हुआ, अतः वह सामान्य दुःख न होकर शोक की कोटि में आ गया और

१- सर्वेन्द्रियपरिक्लेशः शोक इत्यभिधीयते ।
सत्त्वादिपरिभेदेन स त्रिधा परिपठ्यते ।।

वही ।

२- (i) इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।

सा०द०, ३।१७७

(ii) पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

र०गं०, आनन १, पृ०९६१

(iii) मनोवैक्लव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः ।

अ०पु०का० भा०, ३।१४

३- ना०द०, पृ० १७६

शोकाकुल मुनि के हृदय से प्रस्फुटित होकर जो भाव निकल पड़ा वही काव्य कहलाने लगा — 'शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ।'[1]

प्रिय के आत्यन्तिक वियोग में जब उसकी मृत्यु का ज्ञान हो जाये तब उस दशा में विकलता रूप चित्तवृत्ति ही प्रधान होती है । निरपेक्षता के कारण शोक रूप उस चित्तवृत्ति में रति का तनिक भी अंश नहीं रहता है ।[2] इसमें दु:ख की आत्यन्तिक अनुभूति हुआ करती है ।[3] रति भाव के पूर्ण अभाव हो जाने पर वही विभावादि सामग्री चित्त के वैधुर्य रूप विकार (शोक) को उत्पन्न करती है ।[4] रघुवंश में इन्दुमती अजनिष्ठ रति का विभाव है, किन्तु इन्दुमती की मृत्यु हो जाने पर वही अज के शोक का विभाव बन जाती है। अत्यधिक विकलता अथवा वैधुर्य के कारण अज मूर्च्छित हो जाते हैं । उनका स्वाभाविक धैर्य लुप्त हो जाता है, कण्ठ बाष्प-गद्गद हो जाता है।[5]

१- रामा० १।२।१८

२- इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिङ्गितो मित: ।
विकारश्चेतस: शोक: स पूर्ण: करुणो रस: ।

र०दी०, पद्य २२

३- आशाविनाशे सर्वेषामिन्द्रियाणां बलमोऽथवा ।
दु:खस्यानुभवोऽत्यन्तं करुण: स निगद्यते ।

वही, पद्य २३

४- रत्यभावे रतेर्भङ्गे शोकक्रोधसमुद्भव: ।।

भा०रा०भ०, पद्य १७

५- पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमा: ।।

रघु०, ८।४२

वह साधारण शरीरधारियों के समान विलाप करने लगते हैं— 'अयि प्रिये ! यह माला यदि तुम्हारा प्राणहरण कर सकती था तो यह वक्ष:स्थल पर धारण कर लेने पर मेरे प्राणों का अपहरण क्यों नहीं कर रही है?'[1] आत्यन्तिक वियोग रूप होने के कारण 'शोक' का स्वरूप विप्रलम्भमूलक होता है।[2] विप्रलम्भ की व्युत्पत्ति है— वि+ प्र+ लम्भ् , अर्थात् विविध रूप से प्रकृष्ट रूप में वञ्चना या धोखा देना । शोक का स्वभाव भी बहुत कुछ विप्रलम्भ से मिलता है । विप्रलम्भ की भाँति शोकोत्पत्ति इष्टनाश अथवा अनिष्टप्राप्ति से होती है । यह इष्टनाश अथवा अनिष्टप्राप्ति आश्रय में शोक की उद्भावना का हेतु होने के कारण आश्रय की दृष्टि में वञ्चना रूप ही है । अत: विप्रलम्भ का अर्थ केवल नायिका-नायक-गत वियोग ही नहीं होता है। इस प्रकार इष्टनाश के कारण उपचारत: आत्मा में उत्पन्न अतिशय दु:ख-परिप्लावित चित्त की किञ्चित् विकृति ही शोक है।[3]

शोक स्थायीभाव प्रियजन के वियोग, सम्पत्ति-नाश, वध, बन्धन और दु:खानुभव आदि विभावों से उत्पन्न होता है । अश्रुपात, विलाप, मुख-

---

१- स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।।

वही, ८।४६

२- स्थायी च करुणे शोको विप्रलम्भोऽप्यसन्नुदः ।

नाट्यदर्पण,पद ८८

३- (i) इष्टजनवियोगादिनात्मनि दु:खातिभूमि: शोक: ।

प्र०रू०य०भू०, पृ० २३१

(ii) इष्टवस्तुवियोगेन या स्वल्पा विकृतिर्भवेत् ।
चेतसो भावतत्त्वज्ञै: स शोक इति कीर्तित: ।।

र०र०प्र०, २।१४

विवर्णता, स्वरभङ्ग, अङ्ग-शैथिल्य, भूपात, सशब्द रुदन, क्रन्दन, दीर्घ निःश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह तथा मरण आदि अनुभावों से इसका अभिनय होता है।[१]

अभिनवगुप्त के अनुसार भी शोक एक दुःखप्रधान मनोवृत्ति है। यद्यपि क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा — ये चारों ही भाव दुःखप्रधान तथा (सुख-दुःख) उभयात्मक हैं,[२] तथापि इनमें से शोक द्विगुणित दुःखरूप है।[३] अभीष्ट के नाश से शोक की उत्पत्ति होती है और उस शोक के आवेग में मनुष्य उस अभीष्ट के सम्पर्क के कारण प्राप्त होने वाले सुखों को ही विविध रूप में स्मरण करके दुःखी होता है। अभीष्ट का नाश तो दुःखात्मक होता ही है, परन्तु उसके साथ पूर्वानुभूत सुख की जो स्मृति होती है वह भी दुःखात्मक ही होती है। इसीलिए इसमें द्विगुणित दुःखरूपता होती है। जैसे,कुमारसम्भव में काम के भस्मीभूत हो जाने पर रति में दुःखरूप शोक उत्पन्न होता है और उस समय स्मृतिपथ पर आता हुआ पूर्वानुभूत सुख उद्बुद्ध शोक को और भी उद्दीप्त कर देता है। विलाप करती हुई रति कहती है कि "अये प्रियतम! तुम मुझसे

१- शोको नाम — इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धदुःखानुभवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्याश्रुपातपरिदेवितविलपितवैवर्ण्यस्वरभेदस्रस्तगात्रताभूमिपतनसस्वनरुदिताक्रन्दितदीर्घनिःश्वसितजडतोन्मादमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

नाट्यशा० ७, पृ०३५१

२- स च सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुगताः न तु तदेकात्मा। क्रोधभयशोकजुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता।

नाट्यशा०(अभि०भा०) भाग १,पृ०४३

३- ऐकान्तिकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः।

वही।

मीठी-मीठी बातें बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदय में सदा रहती हो। तुम्हारी ये बातें प्रवञ्चना मात्र थीं; क्योंकि यदि ये सब औपचारिक न होतीं तो तुम्हारे भस्म हो जाने पर यह रति जीवित कैसे रह जाती[1]। यहाँ शोक (इष्टनाश से उत्पन्न दुःखरूप होने के कारण) वर्तमानकालिक तथा (पूर्वानुभूत सुख के स्मरण से उद्दीप्त अतः पुनः दुःखरूप होने के कारण) अतीतकालिक होने से दोनों कालों में दुःखरूप ही है। इसलिए शोक को त्रैकालिक तथा सर्वथैव दुःखरूप कहा गया है।

अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने रस को सुखदुःखात्मक माना है[2]। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने रसों के स्थायी भावों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है। इनमें से रति, हास, उत्साह और विस्मय स्थायी भाव सुखरूप हैं, किन्तु उनमें दुःख का भी थोड़ा बहुत अंश विद्यमान रहता है[3]। इसके

१- हृदये वससीति मत्प्रियं
यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं
त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः।
कु०सं०, ४।६

२- --- लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम्। स च सुखदुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतः। न तु तदेकात्मा।
ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ० ४३

३- तथा हि— रतिहासोत्साहविस्मयानां सुखस्वभावत्वम्। तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुबन्धिरूपत्वेन विषयोन्मुख्यप्राणतया तद्विच्छेदाशङ्काकुलत्वेनापायभीरुत्वाद्दुःखांशानुवेधो रतेः। हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्स्फुरत्तात्कालिकाल्पदुःखरूपसुखानुगतो। उत्साहस्य तात्कालिकदुःखायासरूपनिमज्जनानुसन्धानीयपि (नाऽपि) भाविबहुजनोपकारिचिरतरकालभाविसुखसङ्कीर्णात्मना सुखरूपता। विस्मयस्य निरनुसन्धानतडित्तुल्यसुखरूपता।
वही।

विपरीत क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा को उन्होंने माना तो दुःखरूप ही है, किन्तु उन सब में सुख का थोड़ा बहुत अंश उन्हें अभीष्ट है। केवल शोक ही ऐसा स्थायी भाव है, जो सर्वथा दुःखरूप है।[1]

क्रोध और भय में दुःख की प्रधानता होते हुए भी उत्तरकालिक सुख की सम्भावना से उनमें दुःख के साथ सुख का सम्मिश्रण माना गया है; किन्तु शोक में अभीष्ट विषय का सर्वथा नाश होने से उत्तरकालिक सुख की सम्भावना भी नहीं रहती है तथा पूर्वकालिक सुख की स्मृति भी दुःखरूप होती है, अतः शोक नितान्त दुःख रूप ही है।

यद्यपि रूपगोस्वामी ने शोक को भक्तिरस से सम्बद्ध माना है,[2] तथापि उन्होंने भी उसका प्रतिपादन 'चित्त की विकलता' के रूप में ही किया है। शोक उत्पन्न तथा परिपक्व होकर भी सुख की किसी दुरूह अवस्था को ही प्रत्यक्ष कराता है।[3]

१- क्रोधभयशोकजुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता। तत्र चिरकालसुखानुबन्धिप्राणी विषयगतामन्तिकानां (तात्यन्तिकनाश) भावनाकाहुताप्राणतया सुख-दुःखानुवेधवान् क्रोधः। निरनुबन्धितात्कालिकदुःखप्राणतया तदपगमाकाङ्क्षोत्प्रेक्षितसुखानुबन्धिभिन्नं भयम्। ऐकालिकस्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्धः सर्वथैव दुःखरूपः शोकः। उत्पाद्यमानसुखानुसन्धानबोधितविषयात्य(या प)लायनपरायणरूपाभि(पा नि)षिध्यमान-शङ्कितसुखानुविद्धा जुगुप्सा। अस्ताम(त)स्तुर्वदुःखरूपबस्मरणप्राणित: (तो) सम्भावितसुपरमबहुलसुख(दुःख)मयो निर्वेदः।

वही।

२- आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः॥

भ०र०सि० उत्तरविभाग, ४।१

३- अतः प्रादुर्भवन् शोको रूकवाऽप्युद्भटतां मुहुः।
दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि॥

वही, ४।१२

शोक का प्रभाव भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों पर उनकी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में पड़ा करता है। वह उत्तम और मध्यम कोटि के मनुष्यों द्वारा धैर्यपूर्वक सहन कर लिया जाता है; किन्तु निम्न श्रेणी के मनुष्यों में वह रुदन द्वारा प्रकट हो जाता है[1]। उत्तम मनुष्य विवेकपूर्वक शोक को सहन कर लेता है, मध्यम व्यक्ति रुदन करता है, अथवा कभी-कभी मूर्च्छा तक भी पहुँच जाता है तथा स्त्री और नीच पुरुष या तो हाहाकार मचा देते हैं या मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं[2]।

विभाव

जो भाव स्थायीभाव को उद्बुद्ध करके उन्हें विभावित (चर्वणायोग्य) कर देते हैं, उन्हें विभाव कहा जाता है[3]। लगभग सभी आचार्यों ने इष्टनाश और अनिष्टप्राप्ति को करुण रस के विभावों के रूप में बतलाया है। इनमें इष्टजन-विप्रयोग के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र अथवा पुत्री, भाई-भाई अथवा भाई-बहन आदि अनेकानेक सम्बन्धों को ग्रहण करना चाहिए।

१- स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेष शोको व्यसनसम्भव: ।
धैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां रुदितेन च ।।

नाट्यशा०,७।२४

२- स्त्रीनीचादिषु शोकोऽयं मरणव्यवसायद: ।
मध्यमानां भवेच्छोके मुहुर्मूर्च्छा मृतिरेव वा ।।
उत्तमानामतिप्रौढो विवेकेनैव शाम्यति ।
पराभवस्तूत्तमानात्मनो व्यसनप्रद: ।।

भा०प्र०,पृ०६३

३- अर्थान्विभावयन्तीति विभावा: परिकीर्तिता: ।

वही,पृ०४

ऐसे सम्बन्ध जब दीर्घकालिक विप्रयोग के रूप में उपस्थित होते हैं जिससे मिलन की आशा नहीं रह जाती है तब इन्हीं विभावादि के कारण तदनुकूल शोक-स्थायीभाव करुण रस में परिवर्तित हो जाता है । अनिष्ट-प्राप्ति का अर्थ केवल यह नहीं है कि इष्ट का सर्वथा नाश हो जाय अथवा केवल अनिष्ट की ही प्राप्ति हो, अपितु इष्ट की हानि मात्र से तथा उसके सम्बन्धी के अनिष्ट-ग्रस्त होने से भी करुण रस की विभावना हो सकती है । अनिष्ट की प्राप्ति में शाप, बध, बन्धन आदि आते हैं । यहाँ तक कि क्लेश, अर्थ-हानि, राज्य अथवा देश-परिभ्रंश के फलस्वरूप भी करुण का विधान हो सकता है ।

शारदातनय ने करुण रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों की गणना अलग-अलग की है । उनके अनुसार दुर्बल, विषादयुक्त, मलिन, रोगी, दुःखी तथा दरिद्रता से आक्रान्त मनुष्य करुण के आलम्बन होते हैं ।[1] करुण-रस के उद्दीपन विभाव रूक्ष प्रकृति वाले होते हैं ।[2] ये रूक्ष उद्दीपक विभाव तत्तद् विषयों के द्वारा तत्क्षण इन्द्रियों को क्लेश पहुँचाते हैं, अत: वे करुणोत्पादक होते हैं ।[3] उद्दीपन विभाव के रूप में प्रियजन की हानि, शव-दर्शन, मृत की प्रिय वस्तुयें, मृतक का गुण-श्रवण, उसके कष्ट की कल्पना, दुःखित दशा आदि आते हैं ।

१- कृशा विषण्णा मलिना रोगिणो दुःखितस्तथा ।
करुणालम्बना भावा: दारिद्र्योपहताश्च ये ।
वही, पृ० ६

२- खरा रूक्षा विभावा: स्यु रौद्रस्य करुणस्य च ।
वही, पृ० ४

३- स्वगोचरैश्च विषयै: क्लिश्यन्तेऽक्षाणि तत्क्षणात् ।
ते रूक्षा इति कथ्यन्ते करुणोत्पत्तिकारका: ।।
वही, पृ० ५

अनुभाव

जिन अङ्ग-विकारों के द्वारा विभावित अर्थ की अनुभूति होती है उन्हें अनुभाव कहा जाता है।[1] करुण रस में आश्रयगत शोक स्थायी भाव की प्रतीति उसके अश्रुपतन, शोक-प्रलाप, मुख सूखना, विवर्णता, अङ्गों की शिथिलता, उच्छ्वास तथा स्मृति-लोप से होती है, अतः शोक स्थायी भाव का प्रकाशन करने के कारण ये करुण रस के अनुभाव हैं।[2] शारदातनय ने अनुभाव के चार भेद माने हैं।[3] उन्होंने इनमें से वागारम्भानुभाव अर्थात् वाणी से उत्पन्न होने वाले अनुभाव के अन्तर्गत अनुलाप, प्रलाप, विलापादि बारह भेदों को स्वीकार किया है।[4] शोक स्थायी भाव में दुःखातिरेक के कारण मनुष्य बह ही जाता है अथवा ज़ोर-ज़ोर से रोना, अश्रुपतन आदि करने लगता है, अतः उनमें वाक् का प्राधान्य रहता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से शारदातनय ने इन अनुभावों का वर्णन वागारम्भानुभाव के अन्तर्गत किया है।

१- विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः।

वही, पृ० ४

२- रुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।

अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ।।

भा०शा०, ६।६२

३- अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः।

भा०प्र०, पृ० ६

४- वागारम्भा इमे तेषामालापः प्रथमो भवेत् ।।

प्रलापश्च विलापोऽनुलापः संलापः स्व च।

अपलापश्च सन्देशो विदेशश्चाष्टमस्स्मृतः ।।

निर्देश उपदेशश्चापदेशो व्यपदेशकः ।।

वही, पृ०१०

शोक का एक अनुभाव रुदन भी है, किन्तु यह रुदन तीन परिस्थितियों में उत्पन्न हो सकता है। यह परिस्थितियां हैं— आनन्द, आर्ति और ईर्ष्या। इनमें से आनन्द से उत्पन्न होने वाला रुदन शोक की परिधि से बाहर है, किन्तु आर्ति और ईर्ष्यावश होने वाला रुदन करुण भी हो सकता है। आनन्द- रुदन और आर्ति तथा ईर्ष्या से उत्पन्न रुदन में इसीलिए पर्याप्त अन्तर माना गया है। आनन्द से उत्पन्न होने वाले रुदन में हर्ष के कारण कपोल पुलकित हो उठते हैं, (आनन्दप्रद बात का) अनुस्मरण होता रहता है और इसमें नेत्रों की कोरकों से अश्रुपात होने लगता है। इसमें स्पष्ट रूप से शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हो जाता है।[1] इसके विपरीत आर्ति और ईर्ष्याजनित रुदन कुछ और ही प्रकार के हुआ करते हैं। आर्ति से उत्पन्न होने वाले रुदन में आंसुओं की झड़ी लग जाती है, उसमें शब्दों का प्रयोग होता है, शरीर की चेष्टाएं अस्वस्थ हो जाती हैं और रुदन करने वाला व्यक्ति भूमि पर पछाड़ खाकर गिर-गिर जाता है।[2] ईर्ष्याजनित रुदन स्त्रियों की विशेषता है। इसमें ओठ और कपोल फड़कने लगते हैं, शिर में कम्प उत्पन्न हो जाता है, आहें भरी जाती हैं और भ्रुकुटियां चढ़ जाती हैं और चितवन में बांकपन उत्पन्न हो जाता है।[3]

कुमारसम्भव में पति की मृत्यु पर रति अत्यन्त दु:खी हो जाती है। वह सारा दोष अपने को देती हुई आलाप-प्रलाप करती है। उसे इस बात

१- आनन्देर्ष्यार्तिकृतं त्रिविधं रुदितं सदा बुधैर्ज्ञेयम्।
तस्य त्वभिनययोगान्भावगतित: प्रवक्ष्यामि ।।
नाट्यशा०, ७।११

२- पर्याप्तविमुक्तास्रं सस्वनमस्वस्थगात्रगतिचेष्टम्।
भूमिनिपातनिवर्तितविलपितमित्यार्तिजं भवति ।।
वही, ७।१२

३- प्रस्फुरितौष्ठकपोलं सशिर:कम्पं तथा सनि:श्वासम्।
भ्रुकुटीकटाक्षकुटिलं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवति ।।
वही, ७।१३

का क्षोभ है कि कहीं कामदेव उस समय की बात का स्मरण करके तो नहीं रूठ गया है जब उसने कामदेव के द्वारा गोत्रस्खलन हो जाने पर उसे मेखला से बाँध दिया था और कर्णाभरण के रूप में धारण किये गये कमलपुष्प से उसके ऊपर प्रहार किया था, जिससे कमल पराग पड़ जाने से उसके नेत्र दुखने लगे थे।[1] कामदेव का पुरुषाकृति रूप भस्म को देखकर रति अत्यधिक कातर हो उठती है और मिट्टी में लोट-पोट कर, बाल बिखेर कर, बिलख-बिलख कर विलाप करने लगती है। वह कहती है कि —'हे प्रियतम! सुन्दरता के कारण आपका जो शरीर विलासी जनों का उपमान हुआ करता था, वह इस समय इस दशा को प्राप्त हो रहा है, फिर भी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हो रहा है। (वास्तव में) स्त्रियाँ अत्यन्त निष्ठुर होती हैं।'[2] इस प्रकार यहाँ प्रलाप, विलाप, भूपात तथा विवर्णता आदि करुण रस विधायक अनुभाव हैं।

सात्त्विक भाव

सत्त्व के उद्रेक से (सहज रूप से) उत्पन्न मनोविकार 'सात्त्विकभाव' कहे जाते हैं।[3] लगभग सभी आचार्यों ने रसों के लक्षण में सात्त्विक भावों का

१- स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा।।
कु०सं०, ४।८

२- उपमानमभूद्विलासिनां
करणं यत्तव कान्तिमत्तया।
तदिदं गतमीदृशीं दशां
न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः।।
वही, ४।५

३- विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।
सा०द०, ३।१३४

वर्णन अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत किया है । उनकी गणना अलग से नहीं की गयी है । भरत ने करुण रस से सम्बद्ध सात्त्विक भावों की गणना एक ओर अनुभावों में की है तथा दूसरी ओर उनको व्यभिचारी भावों के साथ रखा है ।[1] यहाँ अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों में सात्त्विक भावों का वर्णन होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए । वैवर्ण्य, अश्रु और स्वरभेद आदि सात्त्विक भाव वस्तुतः एक ओर चित्तवृत्ति रूप हैं तथा दूसरी ओर विकार रूप में प्रकाशित हो जाने के कारण अनुभाव भी हैं । जैसे कहा जाता है कि "इसका गला आँसुओं से भर गया है; परन्तु आँखों में आँसू दिखलायी नहीं दे रहे हैं ।" यहाँ अश्रु सूक्ष्म चित्तवृत्ति रूप है, जो स्थूल रूप में बाहर प्रकाशित होते हैं । ये अश्रु आदि चित्तवृत्ति के सूचक होने के कारण व्यभिचारी भाव रूप भी हैं तथा अभिनेयत्व के प्रदर्शन के लिए निर्दिष्ट बाह्य विकार होने के कारण अनुभाव भी हैं ।[2]

१- तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्यस्रस्तगात्रतानिःश्वासस्मृतिलोपा-
दिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदग्लानि-
चिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रमभयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मार-
त्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादयः ।

नाoशाo, पृo ३१७

२- "वैवर्ण्याश्रुस्वरभेदा" अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो
गृह्यन्ते । तथा हि वक्तारो भवन्ति "अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न
च नयनजलं दृष्टम्" इति । एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेय-
त्वोपजीवनायैव मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम, वक्ष्यामः । तेन न
पौनरुक्त्यम् । एवमन्यत्रापि ।

नाoशाo(अभिoभाo) भाग १,
पृo ३१८

करुण रस में सभी सात्त्विक भावों का न्यूनाधिक प्रयोग होता है।[१] ये सात्त्विक भाव विभिन्न कोटि के आश्रयों के स्वभाव अथवा उनकी सहनशक्ति के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि करुण रस का आश्रय स्त्री होगी तो स्वभाववश अश्रु, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, प्रलय, स्तम्भ तथा स्वेद का प्राधान्य होगा। जैसे कामदेव के भस्मीभूत हो जाने पर रति चारों ओर किंकर्तव्यविमूढ़ सी आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगती है।[२] वह कातर हो उठती है तथा पृथ्वी पर छटपटा कर बाल बिखेर कर बिलख-बिलख कर विलाप करने लगती है।[३] यहाँ स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु तथा विवर्णता आदि सात्त्विक भाव हैं। करुण रस का आश्रय यदि पुरुष हो तो अश्रु आदि के स्थान पर रोमाञ्च, स्तम्भ, वेपथु तथा स्वेद का प्राधान्य रहता है; क्योंकि पुरुष स्त्रियों की तुलना में अधिक विवेकशील होते हैं। अधिकांश पुरुष शोक को धैर्यपूर्वक सहन कर लेते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक

१- (i) सर्वे च सात्त्विका भावाः स्वेदस्तम्भनादयः।
स्वल्पं वाप्यथ भूयिष्ठं भवन्ति करुणे रसे॥
र०दी०, पद्य २७

(ii) अत्राष्टौ सात्त्विकाः जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः।
भ०र०सि०,उत्तरविभाग, ४।६

२- अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम्॥
कु० सं०, ४।३

३- अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम्।
वही,४।४

कोमलहृदया होती है, अतः उनका शोक अङ्गविकार तथा अश्रु, स्वरभङ्ग आदि द्वारा सहसा प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार करुणा रस में यत्र तत्र आवश्यकतानुसार आठों सात्त्विक भावों[1] का प्रयोग उपलब्ध होता है।

व्यभिचारी भाव

विभाव और अनुभाव की अपेक्षा जो भाव विशेष उत्कटता अथवा अनुकूलता से सामाजिकगत रत्यादि स्थायीभावों को रसास्वाद में परिणत कर दिया करते हैं तथा अनुकूल स्थायी भावों के अन्तर्गत आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं उन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है। ये संख्या में तैंतीस हैं।[2]

इन आत्मगत, परगत और मध्यस्थगत व्यभिचारी भावों का उपयोग देश, काल और अवस्था की अनुरूपता के सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों द्वारा प्रयोगवश विहित है। अतः व्यभिचारी भावों का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में हो जाता है।[3] उदाहरणार्थ जड़ता, ग्लानि,

---

१- स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

सा०द०, ३।१३५,१३६

२- विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ।।

वही, ३।१४०

३- एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा देशकालावस्थानुरूप्येणात्म-गतपरगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगवशादुपपाद्या इति ।

ना०शा०, अध्याय ७, पृ० ३७४

दैन्य, विषाद, अपस्मार आदि व्यभिचारी भाव करुण, विप्रलम्भ, शृङ्गार तथा भयानक तीनों रसों में पाये जाते हैं;[1] किन्तु आश्रय-भेद तथा स्थायी भावों के आधार पर यही व्यभिचारी भाव पृथक्-पृथक् रूप को प्राप्त कर लेते हैं । शोकात्मक करुण रस में स्त्री आश्रय के प्रसङ्ग में अपस्मार, दैन्य आदि भावों का प्राधान्य होता है । रति-विषयक विप्रलम्भ शृङ्गार में अधम पुरुष के आश्रय होने पर तो अपस्मार आदि भाव प्रधान होते हैं; किन्तु उत्तम कोटि के पुरुष के आश्रय होने पर केवल दैन्य और ग्लानि नामक व्यभिचारी भाव ही रहते हैं । उनमें अपस्मार अथवा मोह-मूर्च्छा आदि व्यभिचारी भावों का उदय नहीं होता है । भयानक रस में यदि बालक आश्रय होगा तो भयाधिक्य के कारण उसमें प्रधानतया अपस्मार अथवा मोह की अभिव्यक्ति होगी । देश अथवा काल, अन्धकारपूर्ण रात्रि, शून्य घर आदि परिस्थितियों से जब भयानक रस उद्बुद्ध होगा तो जड़ता, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव प्रमुख होंगे। इस प्रकार व्यभिचारी भाव मनुष्य की श्रेणी तथा देशकाल आदि के भेद के आधार पर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं ।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है । अत: उसी शोक से सम्बद्ध तथा उसको करुण रस की चर्वणा तक पुष्ट करने वाले निर्वेद, चिन्ता, उत्सुकता, आवेग, भ्रम, मोह, भय, विषाद, दीनता, व्याधि, उन्माद, त्रास, जड़ता, आलस्य और मरण व्यभिचारी भाव होते हैं । भरत,[2] रुद्रट,[3]

१- अश्रुपातादयोऽनुभावा: करुणस्येव शृङ्गारभयानकयोश्चिन्तादयो व्यभिचारिण: करुणस्येव शृङ्गारवीरभयानकानाम् ।

काव्यानु०, पृ० १०३

२- ना०शा० अध्याय ६, पृ० ३६७

३- दैन्यं चिन्ता तथा ग्लानिर्निर्वेदो जड़ता मृति: ।
व्याधिश्च करुणे वाच्या भावा भावविशारदै: ।।

का० ति०, ३।४५

धनञ्जय[1], शारदातनय[2], रूपगोस्वामी[3] आदि प्राय: सभी आचार्यों ने करुण रस में मरण व्यभिचारी भाव की गणना की है। करुण रस का स्थायी भाव शोक इष्टनाश आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अत: शृङ्गार रस की अपेक्षा शोक में मरण का उदय हो सकना स्वाभाविक है।[4] शोक के अन्तर्गत मरण आदि का वर्णन सदैव नहीं हुआ करता है; अपितु प्राय: अधम कोटि के आश्रयगत शोक स्थायी भाव में मरण, अपस्मार आदि सञ्चारी भाव पाये जाते हैं। मरण नामक व्यभिचारी भाव का वास्तविक अभिप्राय मृत्यु नहीं; अपितु मृत्यु की पूर्वावस्था है। यह अवस्था अभिघात आदि कारणों से उत्पन्न

१- स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमा: ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिण: ॥

दशरूपक, ४।८२

२- मोहो विषादनिर्वेदौ चिन्तौत्सुक्ये च दीनता ॥
जडता व्याधिरुन्मादापस्मारालस्यमृत्यव: ।

भावप्र० ३, पृ० ६३

३- अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनता: ।
चिन्ता-विषाद-औत्सुक्यचापलोन्मादमृत्यव: ॥
आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यभिचारिण: ॥

भ०र०सि०, उत्तरविभाग, ४।६,७

४- यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याधादीनाम् । x x x
तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान् ।

ध्वन्या०, ३।२० वृत्ति

होती है। महाकवि कालिदास की प्रस्तुत सूक्ति इसका एक सुन्दर निदर्शन है—

> तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
> र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
> पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयासौ
> लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥[1]

इसमें प्राणत्याग के पश्चात् संयोग का जो वर्णन है, वह 'मरण' रूप व्यभिचारी भाव की ही अभिव्यञ्जना है।

<u>रसों के क्रम में करुण की गणना हास्य के बाद ही क्यों?</u>

रसों की सङ्ख्या-निर्धारण पुरुषार्थ-चतुष्टय में रस की उपयोगिता और रञ्जनाधिकता की दृष्टि से किया गया है। इसी दृष्टि से इन रसों का पूर्वापर भाव भी निश्चित किया गया है। भरत,[2] उद्भट,[3] रुद्रट,[4]

१- रघु०, ८।९५

२- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।
नाट्यशा०, ६।१६

३- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥
का०सा०सं०, ४।४

४- शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च काव्ये नव रसाः स्मृताः॥
श्रृं०ति०, १।६

मम्मट,[१] विश्वनाथ[२] आदि आचार्यों ने रसों का विशेष क्रम स्थापित किया है। इसमें क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त रसों का परिगणन किया गया है। इस रसक्रम का एक विशेष प्रयोजन है। अभिनवगुप्त ने इसका प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। रति न केवल मनुष्य जाति में अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पायी जाती है और सबका उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए उसके पहले शृङ्गार को स्थान दिया गया है। हास शृङ्गार का अनुगामी है, इसलिए शृङ्गार के बाद हास्य रस को स्थान दिया गया है। संयोग शृङ्गार में नायक-नायिका का मिलन होता है, इसलिए उसमें एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भ शृङ्गार में भी दोनों को मिलन की आशा रहती है, अतः वे दोनों सापेक्ष-भावात्मक रस हैं।

हास्य से विपरीत स्थिति करुण रस की है, इसलिए हास्य के बाद करुण रस को स्थान दिया गया है। अपने प्रिय बन्धु के वास्तविक विनाश अथवा भ्रमवश ही उसके विनाश का निश्चय हो जाने के बाद करुण रस की सीमा प्रारम्भ होती है, उसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती है। अत एव करुण रस नैराश्यमय होने से निरपेक्ष रस माना जाता है और इसीलिए उसका वर्णन अपने से विपरीत सापेक्ष रस भावात्मक हास्य के बाद

१- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।
का० प्र०, ४।२९

२- शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ।।
सा०द०, ३।१८२

किया गया है। भवभूति ने "तटस्थं नैराश्यादपि"[2] कहकर करुण रस के निराशात्मक स्वरूप की ओर इङ्गित किया है। हेमचन्द्र ने भी करुण से सम्बद्ध इसी पूर्वापरभाव का समर्थन किया है। उनके अनुसार भी आशामय सापेक्षभाव से विपरीत नैराश्यमय निरपेक्ष रस होने के कारण शृङ्गार और उसके अनुगामी हास्य के बाद करुण रस को रखा गया है। करुण रस की सीमा मरण के बाद प्रारम्भ होता है। मरण का सम्बन्ध प्रायः रौद्र रस से होता है, इसलिए करुण के बाद उसके निमित्तभूत रौद्र रस को स्थान दिया गया है।[3]

यहाँ प्राचीन टीकाकार से सम्भवतः अभिनवगुप्त का अभिप्राय उद्भट से रहा होगा; क्योंकि एक यह मान्यता है कि उद्भट ने नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्यायों की व्याख्या की थी।[4] प्राचीन टीकाकार ने व्यभिचारी

१- तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रतिहृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः।

नाट्यशा०(अभि०भा०) भाग १,पृ०२६७

२- उ०रा०च० , ३।१३

३- (i) तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात्तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तमर्थप्रधानो रौद्रः।

काव्यानु० ,पृ० १०६

(ii) ततः शृङ्गारानुगामित्वाद् हास्यः। ततो हास्यविरोधित्वात् करुणः।

ना०द०,पृ० १६३

४- द्रष्टव्य— का०प्र०, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, भूमिका, पृ० ११६

भाव के साम्य के आधार पर करुण रस को शृङ्गार और हास्य के बाद रखा है । उद्भट के अनुसार विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण दोनों में लगभग समान व्यभिचारी भाव रहते है, अत: शृङ्गार रस के अनुरूप हास्यके बाद करुण ही औचित्य है । अभिनवगुप्त ने करुण-रस-क्रम के इस आधार का खण्डन किया है । उनके अनुसार रसक्रम के इस आधार में पूर्वापर विरोध है।[१] विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रस में जो व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं, लगभग वही सब भाव देश, काल तथा आश्रय के भेद के आधार पर बीभत्स, रौद्र, भयानक आदि रसों में भी पाये जाते हैं । अत: हास्य के बाद करुण के स्थान पर रौद्र, भयानक अथवा बीभत्स का भी गणना की जा सकती है, क्योंकि यही हेतु अन्य रसों के सम्बन्ध में भी व्याप्त हो जायगा । करुण रस के क्रम के इस हेतु में अतिव्याप्ति दोष है, अत: सापेक्ष्य-निरपेक्ष्य के आधार पर किया गया पूर्वोक्त रस-क्रम ही मनोवैज्ञानिक तथा अधिक ग्राह्य है ।[२]

करुण रस — भेद-निरूपण

शास्त्रों में करुण रस के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है । करुण रस का स्थायी भाव शोक किसी प्रियजन के शव को देखने से अथवा उससे सम्बद्ध वस्तुओं के स्मरण से अथवा उसका दु:खद समाचार सुनने से उत्पन्न होता होता है । इस साधन-भेद की दृष्टि से करुण रस को इष्टनाशजन्य, नाश

१- सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षित: । विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारित्वात् करुण इति टीकाकार: । एतच्च पूर्वापरविरुद्धम् ।

ना०शा०(अभि०भा०) भाग १, पृ० ३१७

२- अस्माभिस्तूद्देशविभाग एव क्रमो दर्शित: ।

वही।

को प्राप्त इष्ट से सम्बद्ध वस्तुओं को देखकर इष्ट की स्मृति से जन्य और नाश को प्राप्त इष्ट के अमाचार-श्रवण से जन्य, इन तीन भेदों में विभाजित किया जा सकता है। वैसे तो करुण रस के अन्तर्गत जितने विभावों की गणना हो सकती है, करुण का क्षेत्र उतना ही विस्तृत माना जा सकता है; किन्तु इस सङ्ख्या-गौरव से न कोई लाभ होगा, न ही भेदों की सङ्ख्या निर्धारित की जा सकेगी। अत: स्थूल रूप से करुण को — अनिष्ट-प्राप्तिजन्य तथा इष्टनाशजन्य — इन दो रूपों में मानना चाहिए।[1]

भरत ने करुण रस के तीन प्रकार माने हैं— धर्मोपघातज, अर्थापचयोद्भव तथा शोककृत।[2] जहाँ अग्निष्टोम आदि क्रियारूप धर्म का अनिष्ट हो वहाँ धर्मकरुण होता है। यह (धर्म आदि) उत्तम कारण से उत्पन्न होने के कारण मुख्यतया उत्तम प्रकृति के मनुष्यों में होता है। 'धर्मनाश' में भी साधारण वस्तुओं के नाश की भाँति नाश उत्पन्न नहीं होता है, उत्पन्न है धर्मरक्षा का मूलभाव। अत: यह शोभन हेतुभूत है।[3] जहाँ अर्थ, विभव आदि का क्षय हो, वहाँ अर्थहानिजन्य करुण होता है। यह अधिकांशत: मध्यम श्रेणी के मनुष्यों में देखा जाता है। स्वजन के नाश, वध, बन्धन आदि से उत्पन्न करुण शोककृत कहा जाता है। यह अधम प्रकृति के प्राणियों में ही

१- इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणो द्विविधो रसः।
नष्टो वानिष्टयुक्तो वा बन्धुरालम्बनं यथा॥
अ०सं०, ३।१५

२- धर्मोपघातजश्चैव तथार्थापचयोद्भवः।
तथा शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः॥
ना०शा०, ६।७८

३- धर्मोपघातज उत्तमानामपि, शोभनहेतुत्वात्। धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया।
ना०शा० ,६।७८

देखा जाता है। यहाँ इष्टजन के नाश पर (काम के वशीभूत होकर) अत्य-धिक रुदन करते हैं अथवा मूर्च्छा, मरण आदि अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति को उत्तम प्रकृति के मनुष्य विवेकपूर्वक सहन कर लेते हैं। इस प्रकार करुण के पूर्ण परिपोष की दृष्टि से इन भेदों में शोककृत करुण ही प्रधान तथा विशेष प्रभावशाली है, शेष दोनों भेद (धर्मोपघातज और अर्थापचयोद्भव) केवल सञ्चारी के रूप में ही देखे जाते हैं।[१]

अग्निपुराण में भरत-सम्मत तीन करुण-भेदों में से अर्थनाश से उत्पन्न करुण के स्थान पर चित्त की ग्लानि से उत्पन्न करुण माना गया है।[२] शारदातनय ने भी करुण रस के तीन भेदों को स्वीकार किया है—

१- The Uttamas are chiefly sorry on losses of Dharma; the Madhyamas, on loss of wealth and other possessions (Artha), and perhaps, only Adhamas are supposed to sorrow too much over the loss of those whom they love (Kāma). This, however, does not rule out Karuṇa on the loss of the beloved in an Uttama-prakṛti. It appears that only the third variety is Śoka and Karuṇa proper, and that the first two varieties of Śoka in Dharma and Artha seem to be only Vyabhicārins.

N.R., page 151.

२- यस्थायी करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत् ।
धर्मोपघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा ॥
शोक: शोकाद्भवेत्स्थायी क: स्थायी पूर्वजो मत: ।

अ०पु० का० भा०, ६।११, १२

मानस, वाचिक तथा आङ्गिक।[1] मानस करुण में वाक्यार्थ का अस्पष्ट होना, निःश्वासोच्छ्वास की दीर्घता, केश, वस्त्र तथा अङ्गसंस्कारादि में दीनता, अनुभूत के प्रति अनभिज्ञत्व तथा अनवस्थित चित्त आदि लक्षण होते हैं। इसमें अपने प्रिय पात्र के प्रति भी उदासीनता का भाव बना रहता है। शोकाकुल मनुष्य शून्य में टकटकी लगाए रहता है।[2] वाचिक करुण में हा-हा करके रुदन, प्रलाप, दीर्घभाषण, आक्रन्दन आदि क्रियाएँ पायी जाती है।[3] आङ्गिक करुण में भी तथानुरूप अनेक क्रियाएँ हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों से प्रतीत होता है कि शारदातनय की करुण से सम्बद्ध भेद-परिकल्पना का आधार अनुभाव है। उनके अनुसार अनुभाव-भेद के आधार पर ही करुण रस पूर्वोक्त तीन रूपों में विभक्त हो जाता है।

१- करुणोऽपि त्रिधा भिन्नो मनोवागङ्गकर्मभिः।

भा०प्र०, पृ० ६४

२- वाक्यार्थाननुसन्धानं निःश्वासोच्छ्वासदीर्घता।
उपेक्षा केशवासोऽङ्गसंस्कारादिषु दीनता॥
अनुभूतानभिज्ञत्वमनवस्थितचित्तता।
विरक्तिः अंविषयया स्निग्धेष्वनभिभाङ्गता॥
आकाशवीक्षणाश्चेति मानसः करुणः स्मृतः॥

वही, पृ० ६६

३- हाकारो रोदनं क्रोशः प्रलापो दीर्घभाषणम्।
दूराह्वानमथाक्रन्दो वाचिकः करुणः स्मृतः।

वही, पृ० ६७

भानुदत्त ने करुण रस को स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ दो प्रकार का बतलाया है। भानुदत्त के अनुसार अपने शाप, बन्धन, क्लेश आदि अनिष्ट विभावों के द्वारा उत्पन्न करुण स्वनिष्ठ होता है, किन्तु जब वह दूसरे के दर्शन और स्मरण रूप विभावों से उत्पन्न होता है तब उसे परनिष्ठ कहा जाता है।[1] इसी प्रकार कवि विद्याराम ने भी करुण को द्विविध माना है— स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। करुण स्वनिष्ठ तब होता है जब वह अपने में उत्पन्न दुःखों से उद्भूत होता है। जहाँ पर वह दूसरों के दुःखों को देखने से उत्पन्न होता है वहाँ वह परनिष्ठ कहलाता है। इन दोनों प्रकार के करुण का विभाव है— इष्टनाश, दुःख, क्लेश और बन्धन।[2] कवि विद्याराम ने अपने रसदीर्घिका नामक ग्रन्थ में स्वनिष्ठ करुण का यह उदाहरण दिया है—

अयि नाथ विमुच्य मामनाथां
किमगम्याध्वनि केवलः प्रयातः।
इति कामवधूर्विलप्य गाढं
हृदयं ताडयति स्म सा कराभ्याम्॥[3]

अर्थात् 'हे नाथ! मुझ अनाथ को छोड़कर आप अकेले ही किस अगम्य मार्ग से चले गये' इस प्रकार ज़ोरज़ोर से विलाप करती हुई कामदेव की

१- स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टैर्विभावैः स्वनिष्ठः। परेष्टनाशशापबन्धन-
क्लेशादीनां दर्शनस्मरणैर्विभावैः परनिष्ठः।

र०त० तरङ्ग ७, पृ० ४६

२- स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च द्विविधोऽसावपि स्मृतः॥
स्वनिष्ठः स्वोद्भवैर्दुःखैः परदुःखेक्षणात् परः।
विभावोऽस्येष्टनाशश्च व्यसनं क्लेशबन्धनम्॥

र०दी०, पद्य २४-२५

३. वही, पृ० २६

प्रियतमा (रति) दोनों हाथों से अपने वक्षःस्थल को पीटने लगी ।

यहाँ पर अपने इष्ट (कामदेव) के विनाश से विह्वल रति के करुण क्रन्दन का वर्णन है । इष्टनाश रति का ही हुआ है, जिससे विह्वल होकर वह करुणाविभूत हो उठी है, इसलिए यहाँ स्वनिष्ठ करुण है ।

परनिष्ठ करुण के उदाहरणस्वरूप रसदीपिका में उद्धृत यह पद्य द्रष्टव्य है—

> हा सीते जनकात्मजे क्व नु गतेत्येवं लपन्तं मुहु-
> र्मुह्यन्तं च मुहुः स्खलन्तमभितो रोरुध्यमाणं वने ।
> दृष्ट्वेत्थं रघुनन्दनं जनकजाविश्लेषदुःखाकुलं
> विश्वं स्थावरजङ्गमं व्यधुवहत्काण्यो घमुच्चैस्तराम् ॥[१]

अर्थात् 'हाय सीते ! जनकनन्दिनि ! तुम कहाँ चली गयी हो' इस प्रकार बार-बार विलाप करते हुए, बार-बार मूर्च्छित होते हुए, (पद-पद पर) लड़खड़ाते हुए और वन में चारों ओर (भटक-भटक कर) रुदन करते हुए जानकी के वियोग से विह्वल रघुनन्दन (राम) को इस दशा में देखकर जड़-जङ्गमात्मक समस्त जगत् बिलख-बिलख कर आँसुओं की धार बहाने लगा ।

यहाँ पर सीता के वियोग से विह्वल राम के दुःख को देखकर समस्त जगत् करुणाभिभूत हो उठा है । अत एव यहाँ पर परनिष्ठ करुण है ।

रूपगोस्वामी ने करुण को भक्ति रस के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[२]

१- वही।

२- आत्मोचितैर्विभावाद्यैर्नीता पुष्टिं सतां हृदि ।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसोऽयं करुणाभिधः ॥
भ०र०सिं०, उत्तरविभाग,४।१

इसमें भगवान् के किञ्चित् वियोग से उत्पन्न शोक की प्रतीति मात्र ही होती है। रति-मिश्रित होने के कारण यह शुद्ध शोक नहीं कहा जा सकता है।[1] इसमें शोक और रति का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इस प्रकार रति (भगवद्भक्ति अथवा प्रेम) की अधिकता तथा न्यूनता के आधार पर इस शोक रति के दो रूप हो सकते हैं— अधिक करुण भक्ति रस तथा न्यून करुण भक्ति रस। रति के बिना न रह सकने के कारण इस शोक रति (अथवा करुण रस) में अन्य रसों की अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है।[2]

इस प्रकार आचार्यों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर करुण के भेदोपभेदों का निर्देश किया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत ने विभाव के आधार पर, शारदातनय ने अनुभाव के आधार पर, भानुदत्त ने आश्रय के आधार पर तथा रूपगोस्वामी ने वर्णना के आधार पर करुण के भेदों का निर्धारण किया है। ये सभी मत अपनी-अपनी दृष्टि से उचित हैं; किन्तु इनमें करुण के भरत-सम्मत भेद सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक तथा तर्कसङ्गत हैं।

करुण— विरोधी तथा अविरोधी रस

रस विरोध के प्रकरण में 'रस' शब्द का अभिप्राय है उसका स्थायी भाव, क्योंकि रस तो सामाजिक की चित्तवृत्ति में होता है, नायक आदि में नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि सभी रस आनन्दमय ही होते हैं,

---

१- हृदि शोकतयाऽऽसिन गता परिणतिं रतिः।
उक्ता शोकरतिः सैव स्थायीभाव इहोच्यते॥

वही, ४।८

२- रतेर्भूम्ना कृशिम्ना च शोको भूयान् कृशश्च सः।
रत्या सहाविनाभावात्काप्येतस्य विशिष्टता॥

वही, ४।१०

अतः उनमें विरोध का अवसर ही नहीं है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में `रस-विरोध` का प्रयोग उसके लाक्षणिक अर्थ स्थायीभाव के विरोध अर्थ में किया गया है ।[1]

भरत ने रसों के विरोध - अविरोध का कहीं स्पष्ट विवेचन नहीं किया है तथा उनके परवर्ती आचार्यों में भी रुद्रट तक इसका विवेचन नहीं प्राप्त होता है । इसका सर्वप्रथम उल्लेख ध्वन्यालोक में हुआ है । आनन्दवर्धन के अनुसार रस के विरोधी तत्त्वों में सबसे पहले आता है— विरोधी रसों से सम्बद्ध विभावादि का ग्रहण ।[2] किन्तु विरोधी रस कौन से हैं अर्थात् किस रस का किसके साथ विरोध है, और क्यों तथा किन रसों में परस्पर विरोध नहीं है इसका प्रत्यक्ष प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है । रस-भङ्ग के विवेचन में प्रसङ्गात् करुण के विरोधी रसों के कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं । जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में मरण नामक व्यभिचारी भाव यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गार का ही अङ्ग होता है तथापि उसका वर्णन करना उचित नहीं है ।[3] यहाँ यदि यह कहा जाये कि 'मरण' नामक व्यभिचारी भाव करुण से सम्बद्ध है विप्रलम्भ से नहीं तो यह उचित न होगा, क्योंकि यहाँ पर करुण का प्रसङ्ग ही नहीं है ।[4]

१- रसशब्देनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभाव गृह्यते रसस्य सामाजिकवृत्त्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात् । अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधाभावाच्च ।

र०गं० आनन १, पृ० २०५

२- विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।

ध्वन्या०, ३।१८

३- तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान् ।

वही, ३।२० वृत्ति

४- करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न; तस्याप्रस्तुतत्वात् ।

वही ।

उपर्युक्त तथ्यों का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि करुण और शृङ्गार परस्पर-विरोधी रस हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसी का समर्थन किया है।[1] इसके विपरीत सिङ्गभूपाल ने केवल हास्य को करुण का प्रतिकूल रस माना है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने करुण के विरोधी रसों में शृङ्गार और हास्य दोनों को सम्मिलित कर लिया है।[3] रूपगोस्वामी के अनुसार हास्य, सम्भोग शृङ्गार तथा अद्भुत रस करुण के शत्रु (रस) हैं।[4]

रस-विरोध के मुख्य आधार ये हैं— विभावैक्य अर्थात् आलम्बनैक्य, आश्रयैक्य तथा नैरन्तर्य आदि।[5] इसमें करुण और शृङ्गार का विरोध

१- एतेषां परस्परं कैरपि विरोधः। . . . शृङ्गारबीभत्सयोः, शृङ्गारकरुणयोः . . . विरोधः।

रसगं०, आनन १, पृ० २०३

२- रौद्राद्भुताबुभौ हास्यकरुणौ प्रतिकूलिनौ ॥

र०सु०, २।२५७

३- करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः।

सा०द०, ३।२५५

४- करुणस्य सुहृद्रौद्रो वत्सलश्च विलोक्यते।
वैरी हास्योऽस्य सम्भोगशृङ्गारश्चाद्भुतस्तथा ॥

भ०र०सिं०, ४।८।११

५- विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥

ध्वन्या०,३।१८,१९

आलम्बनैक्य की दृष्टि से है, किन्तु हास्य और करुण में विरोध सभी दृष्टियों से है। इन दोनों का स्वभाव एक दूसरे से सर्वथा विपरीत है। हास्य में चित्तवृत्ति का विकास तथा करुण में उसका विक्षेप माना गया है।[१]

परस्पर प्रतिकूल रसों के विरोध-परिहार के सम्बन्ध में आचार्यों ने कुछ नियमों का निर्धारण किया है जिनके पालन से रस-विरोध का परिहार हो जाता है तथा विरुद्ध रसों का सहाभिव्यञ्जन हो सकता है। आलम्बन-भेद से करुण और शृङ्गार रस में विरोध नहीं रह जाता है। यदि करुण का आलम्बन कोई एक मनुष्य है तो शृङ्गार का आलम्बन उससे पृथक् कोई अन्य होना चाहिए। एक ही पुरुष शृङ्गार तथा करुण नामक दो विरोधी रसों का आलम्बन नहीं हो सकता है।

अङ्गी रस में विरोधी रस अथवा उसका कोई अङ्गपोषक भी हो सकता है। यह तीन प्रकार से सम्भव है जब कि लब्धप्रतिष्ठ अङ्गी रस में विरोधी रस के अङ्गों का वर्णन बाध्यत्व रूप में कर दिया जाता है। उदाहरण के लिये यह पद्य द्रष्टव्य है—

> क्वाकार्यं शशलक्ष्मण: क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
> दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
> किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा: कृतधिय: स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
> चेत: स्वास्थ्यमुपैहि क: खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥[२]

१- विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै: स चतुर्विध:।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनस: क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥ द०रू०, ४।४३,४४

२- द्रष्टव्य— ध्वन्या०, ३।२० वृत्ति

अर्थात् कहाँ तो (ब्राह्मण वंश में उत्पन्न देवयानी के प्रेम में क्षत्रिय वंश में उत्पन्न मेरा मदोन्मत्तता रूप) यह दुष्कर्म और कहाँ तो मेरा यह चन्द्रवंश; अरे ! वह (देवयानी) तो मुझे पुनः दिखाई पड़ने लगी । मेरा शास्त्रज्ञान तो (इस प्रकार के) दोषों का शान्ति के लिये है; कितना आश्चर्य है कि क्रोध में भी उसका मुख अत्यन्त कमनीय प्रतीत हो रहा है । (मेरी इस मदोन्मत्त दशा को देखकर) निष्पाप बुद्धिमान् जन क्या कहेंगे; अरे ! वह (देवयानी) तो स्वप्न में भी दुर्लभ है । रे मन ! स्वस्थ हो जा; न जाने वह कौन धन्य युवक होगा जो उसका अधर पान करेगा ।

यहाँ पर प्रकृत रस वियोग श्रृङ्गार है । उसके व्यभिचारी भावों औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य तथा चिन्ता की अभिव्यक्ति हो रही है । साथ ही श्रृङ्गार के विरोधी शान्त रस के व्यभिचारी भावों वितर्क, मति, शङ्का और धृति की भी अभिव्यञ्जना हो रही है । वितर्क औत्सुक्य के द्वारा, मति स्मृति के द्वारा, शङ्का दैन्य के द्वारा और धृति चिन्ता के द्वारा बाधित हो जाते हैं, किन्तु ययाति के कथन का पर्यवसान चिन्ता में ही होता है, जो श्रृङ्गार का व्यभिचारी है । इस प्रकार श्रृङ्गार रस का पूर्ण परिपोषण हो जाता है । विरोधी रस (शान्त) के व्यभिचारी वितर्क आदि भावों का सर्वथा बाध हो जाता है । अतः ये सभी व्यभिचारी भाव श्रृङ्गार के व्यभिचारी भावों के विरोधी होते हुए भी परिपोषण श्रृङ्गार का ही करते हैं ।

विरोध-परिहार की दूसरी विधि यह है कि जहाँ पर एक ही तत्त्व की सम्भावना अङ्गी रस तथा उसके विरोधी रस दोनों में हो, किन्तु उस तत्त्व का ग्रहण विरोधी रस के अङ्ग के रूप में न करके अङ्गी रस के अङ्ग के रूप में ही किया जाये । उदाहरण के लिये —

> कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।

मुग्धो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ।।[१]

अर्थात् सायंकाल (कृतापराध नायक को देखने पर उसकी) प्रियतमा ने उसे क्रोध से अपनी कोमल बाहुलता-पाश में दृढ़ता पूर्वक निरुद्ध कर लिया। तदनन्तर उसे (पकड़ कर) सखियों के सामने निवासस्थान पर ले गयी। वहाँ उसने (नायक को) दुश्चेष्टाओं के चिह्नों को दिखाती हुई उसने लड़खड़ाती हुई वाणी से नायक से कहा कि 'फिर ऐसा न करना' इस प्रकार कहकर वह रोती हुई अपने प्रियतम को पीटती जा रही थी और वह हँस-हँस कर (अपने अपराधों को) छिपाता जा रहा था। धन्य है वह नायक !

यहाँ पर क्रोध से (कोपात्) बाँधकर (बद्ध्वा) और मारा जाता है (हन्यते) ऐसे तत्त्व हैं जो श्रृङ्गार में ही नहीं, अपितु उसके विरोधी रौद्र में भी सम्भव हैं। प्रस्तुत पद्य में बाहुलता पर बन्धनपाश का तो आरोप किया गया है, किन्तु प्रियतमा इत्यादि पर व्याध इत्यादि का आरोप नहीं किया गया है। इस प्रकार रूपक का पूर्ण निर्वाह न होने के कारण रौद्र का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। इसके विपरीत अङ्गी रस श्रृङ्गार का भलीभाँति परिपोषण हो गया है।

विरोधी रस के परिहार की तीसरी विधि वह है जहाँ पर प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों को अङ्गता हो जाने पर उनके परस्पर विरोध का परिहार हो जाता है। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत पद्य में श्रृङ्गार और करुण दोनों स्वतन्त्र न रह कर प्रधानभूत वीररस के अङ्ग बनकर आये हैं। अतः परस्पर विरोधी होते हुए भी उनका सहाभिव्यञ्जन हुआ है—

१- अ०श०, पद्य ६

क्षिप्तो हस्तावलग्न: प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षित: सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभि: साश्रुनेत्रोत्पलाभि:
कामीवार्द्रापराध: स दहतु दुरितं शाम्भवो व: शराग्नि: ॥[1]

त्रिपुरदाह के अवसर पर भगवान् शङ्कर की शराग्नि अपराध में आर्द्रकामी के समान जब त्रिपुर-युवतियों के हाथ में लगी तब उन युवतियों ने अपने नेत्र-कमलों को आंसुओं से भर कर उस (अग्नि को) एक ओर फेंक दिया । जब उसने वस्त्र का छोर पकड़ा तब बलात् उसको (अग्नि पक्ष में शराग्नि को, कामीपक्ष में आर्द्रकामी को) तिरस्कृत कर (झटक) दिया, केश पकड़ने पर (कामीपक्ष में केश सहलाने पर) उसको दूर फेंक दिया, पैरों पर गिरने पर सम्भ्रम (कामीपक्ष में क्रोध) के कारण उसको ओर देखा भी नहीं, और आलिङ्गन (अग्निपक्ष में —सारे शरीर में व्याप्त, कामी पक्ष में प्रत्यालिङ्गन) करने पर उसे दूर हटा दिया । भगवान् शङ्कर की वही शराग्नि आप लोगों के पापों को जलाकर भस्म करे ।

प्रस्तुत पद्य में वीर रस की अभिव्यञ्जना मुख्य है । करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार गौण हैं । ये दो ही रस वीर रस के अङ्ग हैं । अत: इनमें परस्पर विरोध होते हुए भी इनमें विरोध का परिहार हो जाता है ।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त स्मृति-रूप में वर्णित किए जाने पर भी परस्पर-विरोधी रसों का विरोध हट जाता है—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दन: ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसन: कर: ॥[2]

१- वही, पद्य २

२- महा०, ११।२४।१६

महाभारत में भूरिश्रवा की पत्नी उस (मृत) के कटे हुए हाथ को देखकर विलाप कर रही है। यहाँ विवक्षित (अङ्गी) रस करुण है। भूरिश्रवा की पत्नी पूर्वभुक्त सम्भोग-प्रसङ्गों का स्मरण कर रही है, जो उसके शोक को और भी अधिक उद्दीप्त कर देता है। अतः स्मृति रूप होने के कारण श्रृङ्गार रस करुण का विरोधी नहीं, अपितु उसका पोषक है[1]।

हास्य तथा करुण रसों में उनके मध्य में यदि ऐसे किसी अन्य (वीर आदि) रस का समावेश कर दिया जाय जो दोनों का विरोधी नहीं है, तो इस व्यवधान के कारण पूर्वोक्त रसों में नैरन्तर्यगत विरोध समाप्त हो जाता है।

मालतीमाधव में एक और श्रृङ्गार का वर्णन है और उसी के बाद बीभत्स का भी वर्णन है, तथापि उनमें विरोध के कारण उत्पन्न वैरस्य नहीं है, क्योंकि विरोध का कारण होता है दो विरोधी रसों का एक आलम्बन में निबन्धन, किन्तु जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में किसी ऐसे रस का समावेश कर दिया जाय तो इस दशा में उन दोनों रसों में विरोध नहीं होता है[2]।

१- ध्वन्या०, ३।२० वृत्ति

२- तथा च मालतीमाधवे श्रृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थितं विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः, स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी।

द०रू०, ४। ३४(अवलोक)

इस प्रकार सभी रसों में परस्पर अनुकूलता-प्रतिकूलता किसी न किसी आधार पर होती है; किन्तु यदि उन रसों का औचित्येन तथा विरोध परिहार के नियमों का पालन करते हुए प्रयोग किया जाये तो उनका दोष तथा विरोध सर्वथा समाप्त हो जाता है।

अध्याय ३

करुण रस—निष्पादक विविध तत्त्व

करुण रस — तद्विषयक विविध तत्त्व

प्रस्तुत अध्याय में उन तत्त्वों का विवेचन करना अभीष्ट है जो किसी न किसी रूप में करुण रस से सम्बद्ध है । गुण और रीति— ये दोनों तत्त्व ऐसे है जिनका समुचित प्रयोग करुण रस के आस्वादन में विशेष सहायक होता है । रस के साथ गुणों और रीतियों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, अत: करुण रस के प्रसङ्ग में इन दोनों पर विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहां पर करुण रस से सम्बद्ध देवता, छन्द, वर्ण तथा अर्धरात्रि की सार्थकता के विषय में भी विचार किया गया है ।

गुण- विवेचन

व्यापक अर्थ में काव्य शब्द में नाट्य का भी समावेश हो जाता है क्योंकि काव्य के ही दो भेद माने गये है— श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य।[1] भरत ने नाट्य को उदार और मधुर शब्दों से युक्त कहा है।[2] इस कथन का बीज भरत की गुण विषयक मान्यता है । भरत ने न तो गुण शब्द का सामान्य लक्षण दिया है, न उसके व्यापार की ओर इङ्गित किया है और न तो अलङ्कार इत्यादि से उसके भेद को ही स्पष्ट किया है । उन्होंने दोषों के प्रसङ्ग में ही गुणों का भी निरूपण किया है । उनके अनुसार

१- दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्यं द्विधा मतम् ।
सा०द०, ६।१

२- उदारशब्दैर्मधुरै: कार्यास्तेऽर्थवशानुगा: ।
ना०शा०, १७।११८

दोषों का अभाव ही गुण है।[1] उन्होंने केवल दस गुणों का उल्लेख अवश्य किया है। भरत के द्वारा मान्य दस गुण हैं— श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति।[2]

नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती नाम्नी टीका में अभिनवगुप्त ने दो प्रकार के गुणों को स्वीकार किया है। प्रथम प्रकार के गुणों को रस-गुण कहा गया है। उसके अन्तर्गत उन्होंने माधुर्य, प्रसाद और ओज को स्वीकार किया है। द्वितीय प्रकार के गुण वे हैं जिनका सम्बन्ध उन्होंने शब्दों और अर्थों के साथ स्थापित किया है।[3] अभिनवगुप्त ने गुणों और अलङ्कारों को काव्य-शरीर का अलङ्करण उसी प्रकार बताया है, जिस प्रकार किसी भवन की शोभा की वृद्धि को सुशोभित करने के लिये भित्ति-चित्रों का निर्माण किया जाता है।[4] अभिनवगुप्त ने वामन के मत का अनुसरण करते हुए काव्य में गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार गुणों के बिना काव्य-स्वरूप बन ही नहीं सकता है किन्तु उपमा इत्यादि अलङ्कारों

१- एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।।

वही, १७।९५

२- श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।।

वही, १७।९७

३- कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारबलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरूपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः।
- - - - शब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरं उचितानि वक्ष्यमाणश्लेषादि-गुणदशकासमभिव्यञ्जनव्यापाराणि - - - -।

ना॰शा॰(अभि॰भा॰),खण्ड २, पृ॰ २९६

४- चित्रकर्मप्रतिममलङ्कारगुणनिवेशनम्।

वही, पृ॰ २९२

के बिना भी काव्य का अस्तित्व सम्भव है।[1]

भामह ने गुणों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने केवल तीन गुणों को स्वीकार किया है— माधुर्य, प्रसाद और ओज। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने गुणों के सम्बन्ध में जो कुछ भी उल्लेख किया है, उसका कारण यही है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणों के सम्बन्ध में विचार किया है। यही कारण है कि भामह के काव्यालङ्कार में गुणों के स्पष्ट लक्षण उपलब्ध नहीं होते हैं। माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणों का आधार भामह की दृष्टि में श्रव्यत्व, असमस्तार्थत्व, कर्णप्रियता, असमासत्व, अर्थबोधत्व तथा समासत्व है, क्योंकि माधुर्य और प्रसाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि काव्य में इन दोनों गुणों की इच्छा रखने वाले कवियों के द्वारा अनेक समस्त पदों का प्रयोग नहीं किया जाता है।[2] इसी के साथ उन्होंने मधुर काव्य उसे कहा है जिसमें श्रव्यता होती है, किन्तु जिसमें अत्यन्त समस्त पदों का प्रयोग नहीं किया जाता है। उनकी दृष्टि में प्रसाद गुण से युक्त काव्य वह है जिसका अर्थ विद्वानों से लेकर स्त्रियों तथा बालकों तक के लिये भी बोधगम्य हुआ करता है।[3] ओज गुण के सम्बन्ध में उनका कथन है

१- गुणशून्यं तु न काव्यं किञ्चिदपीयति च महापुरुषो दृष्टान्तः अहेत्व-प्रदर्शनार्थमेवं हि प्रसादादीनां गुणवाचोयुक्त्या व्यवहारः तद्विना काव्य-रूपत्वाभावात्। सुन्दरास्यदं तु शरीरमुपलक्षणमुपमाद्यन्तरेण तु भेमत्येव काव्यमिति प्रकटीकर्तुमुपमादीनामलङ्कारत्वेन व्यवहारः।

वही, पृ० ३२२

२- माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।।

का० (भा०), २।१

३- श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।।

वही, २।३

कि काव्य में इस गुण का आधान करने के इच्छुक कवि अनेक पदों को समस्त रूप में प्रयुक्त करते हैं।[1]

भामह ने रीतियों के सम्बन्ध में कुछ गुणों का उल्लेख किया है जिससे गुणों और रीतियों के सम्बन्ध का कुछ सङ्केत अवश्य प्राप्त होता है, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से इन दोनों के सम्बन्ध का निरूपण नहीं किया है। उनके अनुसार यदि कोई रचना अपुष्टार्थयुक्त तथा वक्रोक्ति से रहित होते हुए भी प्रसन्नता, ऋजुता और कोमलता (गुणों) से युक्त हो तो वह सामान्य वाक्य से उतनी ही भिन्न होती है, जितना कि सामान्य रचना से सङ्गीत भिन्न होता है, क्योंकि सङ्गीत श्रुतिपेशल होता है।[2] इसी प्रकार गौडीया रीति के सम्बन्ध में भी उन्होंने अग्राम्य, अर्थ्य, न्याय्य और अनाकुलत्व (गुणों) की ओर सङ्केत किया है।[3]

दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण माना है।[4] दण्डी ने ही सर्वप्रथम रीतियों के साथ गुणों को सम्बद्ध किया है। वास्तव में गुणों

१- केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ।।
वही, २।२

२- अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।।
वही, १।३४

३- अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।।
वही, १।३५

४- श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।
काव्या०, १।४१,४२

का विवेचन भी उन्होंने वैदर्भ तथा गौड मार्गों के प्रसङ्ग में किया है । दण्डी को इन दस गुणों का सङ्केत भरत से ही प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि उन्होंने भी काव्य के दस गुणों का उल्लेख किया है ।

वामन ने भी भरत और दण्डी के द्वारा मान्य दस गुणों को स्वीकार कर लिया है, किन्तु गुणों के सम्बन्ध में वामन ने कुछ मौलिक तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है । सर्वप्रथम उन्होंने तो गुणों और अलङ्कारों के भेद को स्पष्ट किया है । उनके अनुसार काव्य में शोभाधायक धर्म गुण कहलाते है[1] तथा उसमें अतिशयता को उत्पन्न करने वाले हेतु अलङ्कार कहे जाते है ।[2] काव्य के शोभाधायक धर्म होने के कारण ही वामन ने इन गुणों को नित्य माना है, क्योंकि इनके बिना काव्य में शोभा की उपपत्ति हो नहीं हो सकती है ।[3] वामन के अनुसार उस रचना को 'काव्यपाक' कहा जा सकता है जो स्फुट और सकल गुणों से युक्त हो । अभिप्राय यह है कि जिस रचना में गुणों का स्फुट और सकल प्रयोग नहीं रहता है उस रचना को 'पाक' से रहित माना जाता है । सुबन्त और तिङन्त पदों का संस्कार यदि इस प्रकार के गुणों से रहित हो, तो वह पाक की कोटि में आ ही नहीं सकता है और

१- काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।

का०सू०वृ०, ३।१।१

२- तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।

वही, ३।१।२

३- पूर्वे नित्याः ।। पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।

वही,३।१।३ तथा वृत्ति

सहृदय जन उससे दूर भागते हैं।[1] इसीलिये वामन ने उसी रीति को उचित माना है, जो सभी शब्द और अर्थगुणों से युक्त होती है। उन्होंने गुणों का विवेचन पहले बन्धगुणों के रूप में किया है। 'बन्ध' से उनका अभिप्राय पदरचना से है। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने रीति को विशिष्ट पदरचना कहा है और इसकी व्याख्या करते हुए यह बताया है कि यह वैशिष्ट्य गुण रूप होता है।[2] वामन की विशेषता इसमें है कि उन्होंने गुणों को शब्दगुण और अर्थगुण के भेद से दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। उनके शब्द और अर्थगुणों के नाम तथा उनकी संख्या तो समान है, किन्तु दोनों के लक्षणों में अन्तर है। उदाहरण के लिए प्रसादगुण को लिया जा सकता है। शब्द गुण के रूप में उन्होंने रचना के शैथिल्य को ही प्रसाद गुण माना है,[3] किन्तु अर्थगुण के रूप में उन्हें प्रसाद गुण वहाँ मान्य है जहाँ अर्थ का वैमल्य हुआ करता है।[4]

आनन्दवर्धन ने भी गुणों के सम्बन्ध में आनुषाङ्गिक रूप से विचार किया है। उन्होंने ही सर्वप्रथम अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद को स्पष्ट

१- गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ।।
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ।।
गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ।।
वही, ३।२।१५

२- विशेषो गुणात्मा । वही, १।२।८

३- शैथिल्यं प्रसादः । वही, ३।१।६

४- अर्थवैमल्यं प्रसादः । वही, ३।२।३

किया है । उनके अनुसार जहाँ पर रसादि अङ्ग रूप में रहते हैं, वहाँ उनकी अलङ्कारता होती है, किन्तु जब वही रस अथवा भाव अङ्गी हो जाते हैं, तब वहाँ अलङ्कार्य कहलाते हैं और तभी ध्वनि (काव्य) की आत्मा माने जाते हैं।[1] इसी प्रसङ्ग में आनन्दवर्द्धन ने यह स्पष्ट किया है कि रसादि रूप अङ्गी अर्थ का अवलम्बन लेकर रहने वाले काव्य-धर्म गुण कहलाते हैं जो मनुष्यों के शौर्यादि गुणों के समान हैं । वाच्य-वाचक रूप में रहने वाले अर्थ और शब्द काव्य के अङ्ग माने जाते हैं । इन दोनों के आश्रित धर्मों को अलङ्कार कहा जाता है, जो (विभिन्न अङ्गों के शोभाधायक) कटक, कुण्डल आदि आभूषणों के समान हुआ करते हैं।[2]

गुणों के प्रसङ्ग में आनन्दवर्द्धन ने एक और बात कही है जो वामन तथा दण्डी की मान्यताओं से नितान्त भिन्न है । वह यह है कि उन्होंने गुणों को सङ्घटना के आश्रित न मानकर रसादि के आश्रित माना है । यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्द्धन के अनुसार गुणों को (उपचार से) शब्दाश्रित स्वीकार कर लेने पर भी उन्हें अनुप्रासादि अलङ्कारों से भिन्न ही

१- तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ।

ध्वन्या०,२।५ वृत्ति

२- तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।

वही, २।६ तथा वृत्ति

मानना पड़ेगा, क्योंकि अनुप्रास इत्यादि तो काव्य के ऐसे धर्म हैं जिन्हें शब्द और अर्थ की अपेक्षा नहीं रहा करती है, जबकि गुण, शब्द और अर्थ के ऐसे धर्म माने गये हैं, जिनसे व्यङ्ग्य विशेष की अभिव्यक्ति हुआ करती है। रस रूप आत्मा का धर्म होते हुए भी उन गुणों को शब्दों का धर्म उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जाता है जिस प्रकार आत्मा के धर्म होते हुए भी शौर्यादि को शरीर के आश्रित मान लिया जाता है।[1]

गुणों के विवेचन में मम्मट ने आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के मतों का अनुसरण करते हुए वामन के मत का खण्डन किया है, यद्यपि गुण-विवेचन में ऋणी वे वामन और आनन्दवर्द्धन दोनों के हैं। काव्य में गुणों की अचल स्थिति मानकर उन्होंने वामन के मत को अङ्गीकार कर लिया है और उन्हें आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान अङ्गी रूप में रहने वाले रस के धर्म कहकर उन्होंने आनन्दवर्द्धन के मत का अनुकरण किया है।[2] मम्मट की मौलिकता इस बात में है कि आनन्दवर्द्धन ने दण्डी और वामन के द्वारा मान्य दस गुणों को अस्वीकार करके केवल ओज, प्रसाद और माधुर्य नामक तीन गुणों को ही स्वीकार किया है, जब कि मम्मट ने भी उन्हीं तीनों

१- ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते— प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्। . . . अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।
वही, ३।६ वृत्ति

२- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ काव्यप्र०, ८।६६

गुणों को स्वीकार करके दण्डी और वामन के द्वारा मान्य दस गुणों को न मानने का कारण भी स्पष्ट कर दिया है । उन्होंने स्वयं इस प्रश्न को उठाया है कि ये गुण तीन ही क्यों हैं, दस क्यों नहीं और साथ ही उन्होंने इसका उत्तर देते हुये बताया है कि (वामन द्वारा मान्य दस गुणों में से) कुछ तो इन्हीं तीन (ओज, प्रसाद और माधुर्य)में अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ दोषों के परित्याग से उत्पन्न हो जाते हैं और कुछ अन्य हैं जो (गुण न रहकर) दोष बन जाया करते हैं ।[1]

भोज ने गुणों और अलङ्कारों के भेद-निरूपण में वामन के मत का अनुसरण किया है । वह काव्य में गुणयोग को उसी प्रकार अपरिहार्य मानते हैं जिस प्रकार काव्य में रस अपरिहार्य है;[2] यद्यपि अलङ्कारों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, क्योंकि वे काव्य में अनित्य हुआ करते हैं । उनका कथन है कि काव्य में अलङ्कारों का परित्याग तो कभी कभी सम्भव भी हो सकता है, किन्तु रस और गुणों का परित्याग काव्य में सर्वथा असम्भव हुआ करता है।[3] गुणों की उपादेयता तो उन्होंने यहां तक स्वीकार की है कि गुणयुक्त वाक्य में ही अलङ्कारसाङ्कर्य सम्भव है ।[4] इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी

१- कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।। वही,८।७२

२- नित्यो हि काव्ये गुणयोग एव रसादियोगः ।
स०क०,पृ०३२८

३- कदाचिदलङ्कारयोगोऽपि त्यज्यते न तु रसादियोगो गुणयोगश्च अव्यभिचरितसम्बन्धौ इति ।
वही,पृ० ३३७

४- गुणवत्स्येव वाक्ये सङ्करयोगः - - - । वही, पृ०३३२

वाक्य में गुणों का सन्निवेश न हो तो उसे अलङ्कृत ही नहीं किया जा सकता है। वह गुणों और अलङ्कारों में कारण-कार्य भाव मानते हैं,क्योंकि प्राय: गुणों के द्वारा ही अलङ्कारों की उत्पत्ति होती है।[१]

भोज गुणों को काव्य के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध मानते हैं। इस विषय में उनकी निश्चित धारणा है कि अलङ्कार से युक्त होते हुये भी काव्य में यदि गुणों का अभाव हो तो उस काव्य में श्रव्यता नहीं रह जाती है। अत: गुण और अलङ्कार के योग में से काव्य में गुणों का संयोग ही प्रधान है।[२] इसी बात को उन्होंने शृङ्गारप्रकाश में इस प्रकार कहा है कि गुणोपादान और अलङ्कारयोग में गुणोपादान ही श्रेष्ठ है। गुणों तथा अलङ्कारों में विशेषता यही है कि काव्य में गुणों के उपादान के कुछ निर्धारित नियम रहते हैं जबकि अलङ्कारों का प्रयोग कवि की इच्छा पर निर्भर रहा करता है।[३]

भोज ने गुणों का विभाजन तीन श्रेणियों में किया है— बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक।[४] इनमें से शब्दाश्रित गुण बाह्य, अर्थाश्रित गुण आभ्यन्तर और दोष होते हुये भी विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाने वाले धर्म वैशेषिक कहलाते हैं।[५] भोज ने इसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया

१- गुणोर्हि गुणाश्रितैरेवालङ्कारा: प्राय आरभ्यन्ते। वही,पृ०३२३

२- अलङ्कृतमपि श्राव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयो: ।। वही, १|५६

३- तत्र गुणोपादानालङ्कारयोगयोर्गुणोपादानं गरीय: - - - अयमेव गुणालङ्कारयोर्विशेष: यद्गुणोपादाने नियम:,अलङ्कारयोगे तु कामचार इति। शृ०प्र०,नवम प्रकाश,पृ०३४०

४- त्रिविधाश्च गुणा: काव्ये भवन्ति कविसम्मता:।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति ।। स०क०,पृ०१७

५- बाह्या शब्दगुणास्तेषु आन्तरास्त्वर्थसंश्रया:।
वैशेषिकास्तु ते मूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणा: ।। वही।

है । किसी रमणी में कुल, वय, रूप, लावण्य आदि उसके बाह्य गुण हैं, शील, वैदग्ध्य, माहाभाग्य, सौभाग्य आदि आभ्यन्तर गुण हैं तथा दोष होते हुये भी आश्रयविशेष तथा अवस्थाविशेष आदि उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण वैशेषिक कहे जाते हैं । उदाहरण के लिए अविनय आदि धर्म (स्त्रियों में दोष होते हुये भी) वाराङ्गनाओं में गुण बन जाया करते हैं, जैसे कि (अप्रिय होते हुये भी) सुगन्धित काष्ठ के जलने से उत्पन्न धूम्रपुञ्ज रुचिकर ही प्रतीत होता है ।[1] भोज ने गुणों की सङ्ख्या चौबीस तक पहुंचा दी है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि गुणों की सङ्ख्या को लेकर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है । सर्वप्रथम भरत ने दस गुणों की कल्पना की थी, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने गुणों की इस सङ्ख्या में परिवर्तन करते करते किसी ने दस,[3] तो किसी ने तीन[4] और किसी ने उनकी सङ्ख्या का

१- युवत्याः शरीरेषु त्रिविधास्तदर्थिनामादरातिशयहेतवो भवन्ति बाह्या आन्तरा वैशेषिकाश्च । तत्रान्वयवयोरूपलावण्यादयो बाह्याः शील-वैदग्ध्यमाहाभाग्यसौभाग्यादयश्चान्तराः । ये तु दोषा अप्याश्रयविशे-षाद्युपाधेर्गुणत्वमाश्रीयन्ते ते वैशेषिकाः । यथोच्यते -

सामण्णसुन्दरीणं विब्भममावहइ अविणओच्चेअ ।
धूमोच्चिअपज्जलिआणं बहुमओ सुरहिदारूणं ।।
(सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममावहत्यविनय एव ।
धूमोऽपि प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणाम् ।।)

शृ०प्र०, नवम प्रकाश, पृ०३४०-३४१

२- अत्र शब्दगुणाश्चतुर्विंशतिः । वही, पृ०३४१

३- भरत, दण्डी, वामन ।

४- भामह, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ और शारदातनय।

विस्तार चौबीस[1] तक कर दिया। इसके अतिरिक्त शब्द और अर्थ के भेद से ये गुण दो प्रकार के भी मान लिये गये और भोज ने तो उन्हें तीन प्रकार का कह डाला। मम्मट ने गुणों की संख्या के इस विवाद को यह कह कर समाप्त कर दिया कि गुण (वास्तव में तीन ही हैं) दश नहीं, क्योंकि दश गुणों में से कुछ का अन्तर्भाव तो इन्हीं तीनों गुणों में हो जाता है, कुछ दोषत्याग से गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं और कुछ ऐसे हैं जो (वस्तुतः गुण है ही नहीं अपितु) दोष हैं।[2] अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुये उन्होंने यह बताया है कि श्लेष, समाधि, उदारता और (ओजमिश्रित शैथिल्यात्मक) प्रसाद का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है और पृथक्पदत्व माधुर्य में तथा अर्थव्यक्ति प्रसाद में अन्तर्भूत हो जाती है। मार्गाभेद रूप समता नामक गुण कहीं कहीं दोष बन जाता है। कष्टत्व और ग्राम्यत्व नाम से जिन धर्मों की गणना दोष के अन्तर्गत की गयी है उन (कष्टत्व और ग्राम्यत्व) का निराकरण कर देने से सौकुमार्य और कान्ति नामक गुण मान लिये जाते हैं। अत एव दश शब्दगुणों की कल्पना सर्वथा अमान्य है।[3] इसीलिये मम्मट

१- भोजराज।

२- कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।। का॰प्र॰,८.७२

३- बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। - - - कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

वही, वृत्ति

को वामन-सम्मत अर्थगुण तथा शब्दों के दश गुण मान्य नहीं है।[1]

मम्मट के द्वारा स्वीकार्य ओज, प्रसाद, माधुर्य गुणों की पृष्ठभूमि में चित्त की विभिन्न वृत्तियाँ ही है,क्योंकि वीर रस में रहने वाली चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज है, सभी प्रकार के रसों तथा सभी प्रकार की रचनाओं में रहने वाली चित्त की व्याप्ति रूप वृत्ति प्रसाद गुण है और शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में उत्पन्न होनेवाली चित्तद्रुति माधुर्य है। इस विषय को विभिन्न गुणों के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जायेगा।

प्राय: सभी आचार्यों के अनुसार ओज गुण करुण में हेय माना गया है, किन्तु प्रसाद और माधुर्य गुणों की उपादेयता करुण में सभी को मान्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध का वर्ण्यविषय करुण रस है, अत: उसमें उपादेय प्रसाद और माधुर्य गुणों के स्वरूप आदि पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल लेना अप्रासङ्गिक न होगा।

<u>प्रसाद गुण</u>

प्रसाद शब्द प्र पूर्वक 'सद्' धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। इसका अर्थ है— प्रसन्नता, स्वच्छता, प्रफुल्लता। इसी आधार पर उस काव्य को प्रसादगुणयुक्त कहा जाता है जिसके पठन अथवा श्रवण मात्र से ही चित्त प्रसन्न हो उठता है और इस चित्तप्रसाद का कारण है— झटिति अर्थावबोध।

१- तेन नार्थगुणा वाच्या: प्रोक्ता: शब्दगुणाश्च ये।
वही, ८।७३

भरत[1], भामह[2], दण्डी[3], आनन्दवर्धन[4], कुन्तक[5], भोज[6], मम्मट[7],

---

१- अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः परिकीर्त्यते ॥

ना०शा०, १६।१००

२- (क) माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥

(ख) आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥

का०(भा०), २।१,३

३- प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥

काव्या०, १।४५

४- समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

ध्वन्या०, २।१०

५- अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥

व०जी०, १।३१

६- प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते ।

स०कं०, १।६६

७- श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

का०प्र०, ८।७६

विश्वनाथ[१] आदि आचार्यों ने इसी तथ्य को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है । आनन्दवर्द्धन ने शब्द और अर्थ की स्वच्छता को प्रसाद माना है । यह गुण सभी रसों में और सभी प्रकार की रचनाओं में रहा करता है, क्योंकि[२] यह मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही व्यवस्थित माना गया है । प्रसाद गुण का महत्त्व बतलाते हुए आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट किया है कि जिस काव्य में प्रसाद गुण का अतिक्रमण हो जाता है, उसमें समासरहित पदों की रचना होते हुए भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार रसों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है । इसके विपरीत मध्यम समासा सङ्घटना में भी यदि प्रसाद गुण का परित्याग न कर दिया जाय तो वह भी उपर्युक्त दोनों रसों की अभिव्यक्ति में समर्थ हो जाती है ।[३] इसका कारण यह है कि करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार अन्य रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमार होते हैं, अत एव उनमें शब्द और अर्थ की तनिक भी अस्वच्छता (अप्रसादता) उनकी गति को मन्थर कर

१- चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ।।

सा०द०,८।७,८

२- प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचना-साधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ।

ध्वन्या०, २।१० वृत्ति

३- प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न प्रकाशयति तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः ।

वही, ३।६ वृत्ति

देती है । शीघ्र अर्थावबोध में प्रसाद गुण की उपादेयता को स्पष्ट करने के लिए अभिनवगुप्त ने एक दृष्टान्त दिया है । जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ी को तुरन्त ही पकड़ लेती है और जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र में जल शीघ्रता से फैल जाता है उसी प्रकार प्रसाद गुण सर्वत्र (सभी रसों में) शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है[1]।

माधुर्य गुण

माधुर्य गुण के लक्षण को भी भरत,[2] भामह,[3] दण्डी,[4] वामन,[5] आनन्दवर्धन,[6]

१- समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन । अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः ।
वही (लोचन), २।१०

२- बहुशो यत्कृतं काव्यमुक्तं वापि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति तस्माद्धि तन्माधुर्यमुदाहृतम् ॥ ना०शा०, १६।१०३

३- श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते । का०(भा०), २।३

४- मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ काव्या०, १।५१

५- पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । का०सू० वृ०, ३।१।२०

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् । वही, ३।२।१०

६- शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥
ध्वन्या०, २।७

भोज[1], मम्मट[2], विश्वनाथ[3] तथा शारदातनय[4] ने अपने अपने ढङ्ग से प्रति-
पादित किया है । मम्मट और कविराज विश्वनाथ ने माधुर्य गुण के स्वरूप
को भी स्पष्ट किया है । इन दोनों आचार्यों के अनुसार अपने शिर पर
स्थित अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श
वर्ण, ह्रस्व रकार, णकार तथा असमासा अथवा अल्पसमासा रचना माधुर्य
में व्यञ्जक हुआ करती है[5] ।

माधुर्य गुण में चित्त अत्यन्त द्रवीभूत हो जाता है, जिसके कारण
एक विशेष प्रकार के आह्लाद की अनुभूति होने लगती है । आनन्दवर्द्धन के अनु-
सार यह चित्तद्रुति, सम्भोग शृङ्गार, विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण में क्रमशः

१- आ पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।

स०क०, १।६८

२- आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।।

का०प्र०, ८।६८

३- चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

सा०द०, ८।२

४- चित्तद्रवणतारूपाह्लादो माधुर्यमिष्यते ।

भा०प्र०,४।४

५- (क) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।

का०प्र०,८।७४

(ख) मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।।

सा०द०,८।३,४

उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।[1] अभिनवगुप्त ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्भोग शृङ्गार से मधुरतर होता है विप्रलम्भ शृङ्गार और मधुरतम है करुण।[2] मम्मट और विश्वनाथ इन दोनों आचार्यों ने शान्त रस में भी माधुर्य गुण की व्यञ्जकता को स्वीकार किया है। भेद केवल यह है कि मम्मट ने करुण, विप्रलम्भ और शान्त में उत्तरोत्तर माधुर्य की व्यञ्जकता को स्वीकार किया है,[3] जब कि विश्वनाथ ने माधुर्य को क्रमशः सम्भोग शृङ्गार करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रस में अधिकाधिक व्यञ्जक माना है।[4]

करुण रस में माधुर्य गुण की व्यञ्जकता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
> विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥[5]

यहाँ पर मदन-दहन के अनन्तर रति के विलाप का वर्णन है। महाकवि कालिदास ने शोकविह्वला रति के लिये सम्पूर्ण प्रकृति को ही शोकाकुल

१- शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥
ध्वन्या०, २।८

२- सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति ।
वही,(लोचन)|

३- करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।
का०प्र०, ८।६९

४- सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ।
सा०द०, ८।२

५- कु०सं०, ४।१५

बना दिया है। पति के वियोग में बिलखती हुई रति कामदेव का स्मरण करते हुए कहती है कि जिस कलिवहिक को आप प्रत्यञ्चा के रूप में अपने (पुष्प) धनुष् पर चढ़ाया करते थे, वह भी मुझ अतिशोकाकुला का अनुकरण करती हुई करुण स्वरों में विलाप कर रही है।

यहाँ पर विरहव्यथिता रति के द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति को शोकाकुल देखने में महाकवि ने मानवस्वभाव का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त 'पद्दिक' शब्द में ककार और उसी के पञ्चम वर्ण 'ङ' का प्रयोग तथा 'गुणाकृत्यैः' 'करुणस्वनैरियं' और 'गुरुशोकाम्' पदों में लघु रकार और णकार का प्रयोग हुआ है तथा इसमें अत्यल्प समासों का प्रयोग है। अत एव उपर्युक्त पद्य में माधुर्य गुण का समावेश अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से हुआ है जो चित्त के द्रवीभवन के सर्वथा अनुकूल है।

रीति-विवेचन

रीति का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है, जितना अलङ्कारशास्त्र का। रीति के नाम और उसकी संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतविभिन्य भले रहा हो, किन्तु काव्य में उसकी सत्ता किसी न किसी रूप में सभी आचार्यों को स्वीकार्य थी। भरत ने इसी के लिये प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है, उद्भट और मम्मट ने वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है, दण्डी तथा कुन्तक ने इसी को मार्ग कहा है, आनन्दवर्द्धन ने इसका परिचय सङ्घटना नाम से दिया है तथा वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने इसी को रीति नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग, सङ्घटना तथा रीति शब्द एक ही अर्थ (काव्य-शैली) में प्रयुक्त हुये हैं, किन्तु राजशेखर ने इन सबमें परस्पर भेद किया है। उनके अनुसार वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति है, विलासविन्यासक्रम वृत्ति है और वचनविन्यासक्रम रीति है।[1] वृत्तियों के सम्बन्ध में दो परम्परायें

१- तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्ति, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

काव्यमी०, अध्याय ३, पृ० २५

है । इनमें एक परम्परा भरतमुनि की है, जिनके अनुसार वृत्तियाँ चार होती हैं— सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी और भारती । इनकी उपयोगिता दृश्यकाव्य में ही होती है । दूसरी परम्परा अलङ्कारवादियों की है जो अनुप्रास जाति को ही वृत्ति कहते हैं । अनुप्रास के तीन भेदों के आधार पर ही उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों की कल्पना की गयी है ।[2] आनन्दवर्द्धन ने भरत तथा उद्भट द्वारा मान्य इन सभी वृत्तियों को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने भरतसम्मत सात्त्वती आदि वृत्तियों को अर्थगत तथा उद्भटसम्मत उपनागरिका आदि वृत्तियों को शब्दगत माना है ।[3]

१- शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकीति सा ।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया ।।
भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत् ।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया ।।

ना०शा०,२०।६२-६३

२- शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्ह्लह्वन्याद्यैश्च संयुता ।।
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ।।
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ।।

का०सा०सं०,१। ६,८,१०

३- शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ।।
अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति ।

ध्वन्या०,३।४७ तथा वृत्ति

मम्मट ने भी वृत्तियों को स्वीकार किया है, किन्तु उनके अनुसार वृत्ति रस-विषयक एक ऐसा व्यापार है, जो नियमित वर्णों के आश्रित रहा करता है।[1] इस प्रकार मम्मट ने परोक्ष रूप से उद्भट के ही सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने भी अनुप्रास-भेद के ही आधार पर वृत्ति-भेद की कल्पना की है। मम्मट के 'नियतवर्णगत' पद का अभिप्राय है कि विशिष्ट वृत्ति कुछ विशिष्ट वर्णों पर आश्रित रहकर ही रसाभिव्यक्ति में सहायक हुआ करती है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था।[2] यही कारण है कि प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग और संघटना की अपेक्षा रीति शब्द शैली के अर्थ में विशेष रूप से प्रसिद्ध हो गया है।

रीति शब्द गमनार्थक रीङ् धातु से बनता है। इसका अभिप्राय है कि जिसे आधार मानकर चला जाये अथवा जिस पर चला जाये वही रीति है।[3] मानव स्वभाव में भिन्नता एक नैसर्गिक धर्म है। प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति भिन्न हुआ करती है। यह भिन्नता देश-भेद से और भी वृद्धिगती होती जाती है। फलत: एक ही देश के विभिन्न प्रदेशों में भी भावाभिव्यक्ति में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है, जैसे स्थानविशेष के निवासियों के सम्भाषण में जो सौकुमार्य और लालित्य रहता है, उससे पृथक् अन्य स्थान के निवासियों के सम्भाषण में वह सौकुमार्य उपलब्ध नहीं होता है। देशभेद के कारण शैली

१- वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार: ।

काव्यप्र०, ९।७९ वृत्ति

२- रीतिरात्मा काव्यस्य ।

का०सू०वृ०,१।२।६

३- वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत: ।

रीङ् गताविति धातो: सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।

अ० क०, २।२७

में जो परिवर्तन हो जाया करता है, उसकी ओर बाण ने भी सङ्केत किया है । उनके अनुसार देश के उत्तरीभाग के कवियों की भाषा श्लेषप्रधान हुआ करती है, पश्चिम के कवियों में केवल अर्थ की ही प्रधानता रहती है (उनमें अलङ्कार और शब्दबन्ध पर विशेष बल नहीं रहता है), दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा का प्रधानता रहती है और गौडीय कवियों में केवल अक्षराडम्बर रहा करता है ।[१]

अलङ्कारशास्त्र के रचयिताओं में देशभेद के आधार पर शैली भेद का सङ्केत सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है । भरत ने शैली के लिये प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द के प्रयोग में उनका आधार सम्भवतः तत्तद् देशों के निवासियों का स्वभाव है जिसके कारण ही उनकी बोलचाल तथा लेखनशैली में एक विशेषता दिखाई पड़ती है ।[२] उन्होंने चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है,— आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी और पाञ्चाली, जिनका सम्बन्ध क्रमशः पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और उत्तर से है ।[३] भामह ने भी दो रीतियों का उल्लेख किया है— वैदर्भी तथा गौडी; यद्यपि वह स्वयं वैदर्भी

१- श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ।।
हर्ष०, १।७

२- पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः ।
ना०शा०,अ०१३, पृ० २१६

३- चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः ।
आवन्तीदाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ।।
वही, १३।३२

को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है । उनके अनुसार इन दोनों में कोई भेद हो ही नहीं सकता है । एक ही रीति के दो पृथक् नाम गतानुगतिक-न्याय से दे दिये गये हैं ।[1] भामह की मान्यता है कि गौडीया रीति भी अलङ्कारवती, अग्राम्य और उपयुक्त अर्थवती होने से ग्राह्य हो जाया करती है । वैदर्भी का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व है ही नहीं ।[2] दण्डी ने भी काव्यशैली के सम्बन्ध में विभिन्न मार्गभेदों का उल्लेख किया है । दण्डी के अनुसार ये मार्ग हैं— विदर्भ और गौड ।[3] उन्होंने ही सर्वप्रथम इन मार्गों का सम्बन्ध गुणों के साथ स्थापित किया और यह प्रतिपादित किया कि कौन सा गुण वैदर्भी मार्ग में उपलब्ध होता है तथा कौन सा गुण गौड मार्ग में उपलब्ध नहीं होता है । उनके अनुसार वैदर्भमार्ग के प्राणभूत दश गुण हैं, जब कि गौड मार्ग में प्राय: इन गुणों का अभाव रहा करता है ।[4] उद्भट ने इसी रचना शैली को उपनागरिका इत्यादि नामों से सूचित किया है ।[5]

१- गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ।। काा(भाा), १।३२

२- अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।। वही, १।३५

३- अस्त्यनेको गिरां मार्ग: सूक्ष्मभेद: परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ।। काव्याा, १।४०

४- श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज:कान्तिसमाधय: ।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा: स्मृता: ।
एषां विपर्यय: प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। वही, १।४१,४२

५- काासाासं०, १।४,८, १०

काव्य के आत्म तत्त्व को पहचानने की चेष्टा सर्वप्रथम वामन ने की थी। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[1] उनके अनुसार विशिष्ट पदों की रचना ही रीति है।[2] विशिष्ट शब्द से उनका अभिप्राय है ऐसे पद, जिनकी आत्मा गुण है।[3] इससे यह स्पष्ट है कि वामन ने रीति का आधार गुणों को माना है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति वह है जिसमें सभी गुण विद्यमान रहते हैं;[4] गौड़ीया रीति वह है जिसमें ओज और कान्ति नामक गुण रहा करते हैं[5] तथा पाञ्चाली रीति उसे कहते हैं जो माधुर्य और सुकुमार गुणों से उपपन्न हुआ करती है।[6] आनन्दवर्द्धन ने रीति के लिये संघटना शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार गुणों का आश्रय लेकर रहने वाली संघटना रसों को अभिव्यक्त करती है।[7] इस प्रकार संघटना को गुणाश्रित मानने में आनन्दवर्द्धन ने वामन के मत को ही स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भी संघटना और रीति एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। संघटना रसाभिव्यक्ति की निमित्त तथा रसभावादि की उपकर्त्री

१- का०सू०वृ० १।२।६

२- विशिष्टपदरचना रीतिः। वही, १।२।७

३- विशेषो गुणात्मा। वही, १।२।८

४- समग्रगुणा वैदर्भी। वही, १।२।११

५- ओजः कान्तिमती गौड़ीया। वही, १।२।१२

६- माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। वही, १।२।१३

७- गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्, - - - - - - - - - - - - - - - ॥ ध्वन्या०, ३।६

है।[1] गुण और अलङ्कारों की भाँति रीतियाँ भी काव्य में उत्कर्ष का आधान करने वाली हुआ करती हैं।[2]

रीति विषयक उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह तथा दण्डी ने केवल दो (वैदर्भी और गौडी) रीतियों को ही स्वीकार किया था, किन्तु कालान्तर में रीतियों की सङ्ख्या में वृद्धि होती गयी और उसकी सङ्ख्या छः तक पहुँच गयी। वामन[3], कुन्तक[4], आनन्दवर्धन[5] तथा मम्मट[6] ने इनकी सङ्ख्या तीन मानी है। रुद्रट[7], शारदातनय[8] तथा

१- पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां, - - - - - - ।।
सा०द०, ९।१

२- उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ।।
वही, १।३

३- सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति।
का०सू०वृ०, १।२।९

४- सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।
व०जी०, १।२४

५- असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ।।
ध्वन्या०, ३।५

६- माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमलाऽपरैः।
का०प्र०, ९।८०

७- पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।।
का०(रु०), २।४

८- रीतिवचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा।
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः ।।
भा०प्र० १, पृ०११

विश्वनाथ[1] ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी नामक चार रीतियाँ को स्वीकार किया है। भोज[2] ने इन्हीं चार रीतियों में आवन्ती तथा मागधी को मिलाकर उनकी संख्या छः कर दी है। इन सभी भेदों में से वस्तुतः केवल वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली नामक तीन ही रीतियाँ ग्राह्य हुईं, क्योंकि इनका स्वरूप स्पष्ट है — वैदर्भी असमस्त पदों वाली है, गौडीया समस्त पदों वाली होती है तथा पाञ्चाली मिश्रित पदों वाली होती है। इनके अतिरिक्त लाटी, मागधी तथा आवन्ती भेदों में परस्पर इतना स्वरूप-साम्य है कि इन तीनों का भेद स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः केवल वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली यही तीन रीतियाँ स्थिर रह सकीं।

अब यहाँ पर प्रस्तुतप्रसंगत करुण रस के सम्बन्ध में उपयुक्त रीति पर विचार किया जायगा। आचार्यों ने आर्द्रता की मात्रा करुण रस में अधिक स्वीकार की है[3]। मार्मिक तथा करुण प्रसंगों में मानव-चित्तवृत्ति अपनी द्रवणशीलता के कारण विशेष स्थिति में पहुँच जाती है[4], फलस्वरूप सहृदय-हृदय द्रवीभूत होकर अनायास ही अश्रु के रूप में नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित होने लगता है। अतिशय कोमल स्वभाव वाले ऐसे करुण रस की अभिव्यञ्जना के

१- - - - - सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा। सा०द०, ९।१,२

२- वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥ स०क०, २।२८

३- आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। का०प्र०, ८।६८,६९

४- स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः सः चतुर्विधः ॥
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ द०रू०, ४।४३,४४

लिए कोमलपदावली तथा माधुर्यगुणोपेत रीति का ही प्रयोग अपेक्षित है, जिससे उस रस की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके तथा उसके आस्वाद-प्रवाह में व्यवधान न प्रतीत हो। अत: करुण रस की अभिव्यक्ति में वैदर्भी रीति को ही उपयुक्त कहा गया है।[1] इसका कारण यह है कि अपने सरल रूप के कारण वैदर्भी रीति करुण रस को सहजतया स्पष्ट कर देती है।

वैदर्भी रीति

वैदर्भी रीति की मान्यता भामह और दण्डी से प्राचीन है। इसका प्रमाण दण्डी की वह उक्ति है जिसके अनुसार मुख्यतया दो मार्ग - सम्प्रदाय चलते आ रहे थे, किन्तु कविभेद से उसके अनेक अवान्तर प्रभेद माने जाने लगे थे। जिस प्रकार ईख और दूध के माधुर्य में अन्तर होता है, किन्तु उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती है, उसी प्रकार गौड़ तथा विदर्भ मार्गों के उपभेदों में स्थित महान् भेद का वर्णन सर्वथा असम्भव है।[2]

शारदातनय ने नागपुर आदि विदर्भ प्रदेश में प्रचलित रीति को वैदर्भी रीति कहा है।[3] अपने सरल तथा स्पष्ट स्वरूप के कारण वैदर्भी रीति प्रारम्भ से ही अत्यन्त आदर प्राप्त करती रही है। आनन्दवर्द्धन ने तो वैदर्भी रीति का अनुसरण करने वाले रससमाहितचित्त कालिदास को 'महाकवि' की

१- वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयो: ।

काo(रुo),१५।२०

२- इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता: ।।
इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।।

काव्याo,१।१०१,१०२

३- नागपुरादिविदर्भदेश: ।

भाoप्रo, पृo १३०

उपाधि दे डाली है।[1] नैषधीयचरित में श्रीहर्ष ने श्लेष अलङ्कार के माध्यम से वैदर्भी रीति की प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से की है।[2] दमयन्ती के पक्ष में उनके कथन का अभिप्राय यह है कि वह विदर्भराजनन्दिनी धन्य है, जिसने अपने उदार गुणों से निषध देश के राजकुमार (नल) को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब जितेन्द्रिय होते हुए भी नल दमयन्ती की ओर आकृष्ट हो गये तब उस चन्द्रिका की क्या प्रशंसा की जाये जो, सदैव उस धीर-गम्भीर सागर को भी आन्दोलित कर देती है। वैदर्भी रीति के पक्ष में इसका अभिप्राय यह होगा कि जिस प्रकार चन्द्रिका प्रशान्त महासागर को भी आन्दोलित कर दिया करती है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुणों के कारण वैदर्भी रीति जब साधारण पाठक को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तब सहृदय पाठकों का तो कहना ही क्या है। अतः यह वैदर्भी रीति ही श्रेष्ठ है। बिल्हण ने भी वैदर्भी का गुणगान किया है। वैदर्भी रीति का आविर्भाव उत्कृष्ट और सत् काव्य की रचना करने में निपुण तथा पुण्यात्मा कवियों में ही होता है। यह वैदर्भी रीति कानों को आनन्द देने वाली है, अमृत की अनभ्रवृष्टि है, वाणी के विलास का जन्म-स्थान है और पदों को कविता में यथोचित स्थान प्राप्त कराकर उनके सौन्दर्य में वृद्धि करने वाली है।[3]

१- येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।
ध्वन्या०, १।६ वृत्ति

२- धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥
नै०च०, ३।११६

३- अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥
वि०च०, १।९

सर्वप्रथम दण्डी ने ही रीति और गुण के सम्बन्ध को प्रकट किया था। इन्होंने दश काव्यगुणों को स्वीकार किया था। उनके अनुसार यही दशों गुण वैदर्भी रीति के प्राणभूत तत्त्व हैं। वैदर्भी रीति का स्वरूप इन्हीं दशों गुणों की समष्टि से सम्पन्न है।[१] वामन ने वैदर्भी रीति को समग्रगुणा कहा है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति प्रसादादि समस्त गुणों से युक्त और दोष की मात्रा से रहित वीणा के शब्द के समान मनोहारिणी हुआ करती है।[२] जो कवि वैदर्भी रीति का आश्रय नहीं ग्रहण करता है, उसकी वाणी सुन्दर तथा चमत्कारपूर्ण अर्थ से युक्त और शब्दशास्त्र पर पूर्ण अधिकार रखने पर भी सुधास्यन्दिनी नहीं हो सकती है।[३] अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति रुद्रट ने भी असमासा पदों वाली वृत्ति को वैदर्भी नाम की रीति माना है।[४]

१- श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ काव्या०, १।४१,४२

२- समग्रगुणा वैदर्भी।
अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ का०सू०वृ० १।२।११

३- सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥ का०मी०, ५, पृ० ५२

४- आरभ्यातान्युपवर्णैः संयुज्यन्ते कदाचिदपि।
वृत्तिरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥ का०(रु०), २।६

इसमें कभी-कभी एकाध समस्त पदों का प्रयोग भी किया जा सकता है । यह रीति श्लेष आदि दस गुणों से युक्त, द्वितीय वर्ग के वर्णों से निबद्ध तथा स्वल्प प्रयास से उच्चारित होने वाले शब्दचयन वाली होती है।[1] आनन्दवर्द्धन ने भी असमासा सङ्घटना को स्वीकार किया है।[2] असमस्तपदों वाली इस सङ्घटना को वामन आदि ने वैदर्भी रीति नाम से अभिहित किया है । आनन्दवर्द्धन के अनुसार सङ्घटना वर्ण्यविषय तक ही सीमित नहीं रहती है। यद्यपि नियमानुकूल असमासा सङ्घटना विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है तथापि कभी-कभी रौद्र आदि रसों में भी वक्ता और वाच्य के वैशिष्ट्य से असमासा सङ्घटना का प्रयोग देखा जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी औचित्य के कारण शृङ्गार आदि कोमल रसों में समासबहुला (गौडीया रीति) का प्रयोग किया जाता है । इस प्रसङ्ग में आनन्दवर्द्धन द्वारा उद्धृत दो पद्य द्रष्टव्य हैं । निम्नलिखित पद्य शृङ्गार रस से सम्बद्ध है—

> अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते ।
> करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ।।[3]

यह मानवती नायिका को मनाने के लिये नायक की चाटूक्ति है । यहाँ पर शृङ्गार का प्रकरण होने के कारण समासरहित पदों वाली सङ्घटना (वैदर्भी रीति) का प्रयोग होना चाहिये, किन्तु वक्तृ-औचित्य से यहाँ

१- अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता । (?) असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ।।
काव्या०, ६।३ वृत्ति

२- असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ।।
ध्वन्या०,३।५

३- वही, ३।६ वृत्ति

"अनवरतनयनजलनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं" पद में दीर्घ समास होते हुए भी शृङ्गार रस के आस्वादन में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता है ।

इसी प्रकार वेणीसंहार का निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम् ।
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया: गर्भशय्यां गतो वा ।।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः ।
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ।।[1]

यह भीमसेन की गर्वोक्ति है । वाच्यौचित्य की दृष्टि से यहाँ पर एक भी समस्त पद का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि परम्परानुसार वीर रस के प्रसङ्ग में ओजगुणयुक्त समासबहुला उद्भटना (गौडीरीति) का प्रयोग होना चाहिये था । यहाँ समस्त पदों के अभाव से वीर रस और भी अधिक आस्वाद्य हो गया है ।

भोजराज ने भी वैदर्भी रीति को परम्परानुसार श्लेषादि समस्त गुणों से युक्त माना है ।[2] मम्मट ने रीतियों के सम्बन्ध में कोई मौलिक विचार नहीं प्रकट किया है । उन्होंने रीतियों के स्थान पर उद्भट सम्मत वृत्तियों को स्वीकार किया है । उनके अनुसार माधुर्यव्यञ्जकवर्णों वाली वृत्ति उपनागरिका वृत्ति है[3] जिसे कुछ आचार्यों ने वैदर्भी रीति कहा है ।[4] इस प्रकार

१- वे०सं०, ३।३२

२- तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। स०कं०, २।२६

३- माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते । का०प्र०, ६।८०

४- केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः । वही, ६।८१

यद्यपि मम्मट ने वैदर्भी नामक रीति का लक्षण तो नहीं दिया है, तथापि माधुर्यगुण की अभिव्यञ्जना के साधन के रूप में उन्होंने असमासा अथवा मध्यमसमासा रचना को स्वीकार किया है[१]। शारदातनय[२] तथा कविराज विश्वनाथ[३] ने भी वैदर्भी के समासरहित तथा माधुर्यवर्णयुक्त स्वरूप का ही समर्थन किया है।

वैदर्भी रीति के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदर्भी को सभी आचार्यों ने असमासा माना है। यह रीति माधुर्यव्यञ्जक गुणों का आश्रय लेकर कोमल रसों को अभिव्यक्त करती है। रुद्रट[४], आनन्दवर्द्धन[५],

---

१- मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥
वही, ८।७४

२- अल्पवृत्तिस्तु वैदर्भी लाटिका मृदुभिः पदैः ॥
भा०प्र०, ४।३

३- माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥
सा०द०, ९।२

४- (i) वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
का०(रु०), १५।२०

(ii) इह वैदर्भीरीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया ।
मधुरा ललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे ॥
वही, १४।३७

५- करुणविप्रलम्भयोस्त्वसमासैव सङ्घटना ।
ध्वन्या०, ३।६ वृत्ति

मम्मट[1] आदि सभी आचार्यों ने वैदर्भी रीति की उपयोगिता मुख्यतया करुण, शृङ्गार तथा शान्त जैसे कोमल रसों में स्वीकार की है । इस तथ्य को लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है । सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण वैदर्भी रीति में रचित है । उसमें वाल्मीकि की सहज अभिव्यक्ति के कारण करुण रस के प्रसङ्ग और भी स्वाभाविक तथा सजीव हो उठे हैं । राम के वन चले जाने पर दशरथ पुत्रवियोग के कारण अत्यन्त शोकविह्वल हो जाते हैं और विलाप करते हुए कहते हैं कि 'हा वीर राम ! हा मेरे दुःखों को दूर करने वाले ! हा पितृभक्त ! हा मेरे नाथ ! बेटे ! तुम आज कहाँ चले गये हो? हा कौसल्ये ! हा तपस्विनि सुमित्रे ! हा कठोरहृदये ! कुल-कलङ्किनि ! मेरी शत्रुरूप कैकेयि ! मैं (कहीं भी राम को) नहीं देख पा रहा हूँ ।' इस प्रकार राम की माता (कौसल्या) और सुमित्रा के समीप शोक करते हुए दशरथ ने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया ।[2]

१- माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

काव्यप्र०, ९।८०

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

वही, ८।६८, ६९

२- हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन ।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत ।।
हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ।।
इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च सन्निधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ।।

रामा०,२।६४।७५-७७

इसी प्रकार लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम के विलाप में भी वैदर्भी का प्रयोग द्रष्टव्य है । विलाप करते हुए राम कहते हैं कि `हा भाई ! मनुष्यों में श्रेष्ठ ! वीरों में अग्रणी ! तुम मुझे एकाकी छोड़कर परलोक क्यों चले गये हो? हे भाई ! तुम मुझे विलाप करता हुआ देखकर भी बोलते क्यों नहीं हो ! उठो और देखो, तुम सो क्यों रहे हो? अपने ही नेत्रों से मुझ दीन को देखो । जब मैं शोकार्त होकर प्रमत्त की भांति पर्वतों पर और वनों में भटकता रहता था, उस समय (सीता के वियोग के कारण) मुझ दुःखी को तुम्हीं तो समाश्वासन दिया करते थे ।`[1]

कालिदास तो वैदर्भी रीति के ही कवि माने जाते हैं[2] तथापि कुमारसम्भव में रतिविलाप तथा रघुवंश में अजविलाप के प्रसङ्ग में कालिदास की वैदर्भी और भी निखर उठी है । शिव के कोपानल से भस्म कामदेव की आकृति पुरुष के समान पड़ी हुई है । उसे देखकर शोकमग्न रति उससे प्रश्न करती है कि `हे प्राणनाथ ! क्या आप जीवित हैं?, किन्तु कामदेव का उत्तर न पाकर वह पुनः विह्वल हो उठती है और भूमि पर लोट-पोट कर विलाप करने लगती है जिससे उसके बहुत धूसरित हो उठते हैं, केश बिखर जाते हैं और वह अपने विलाप से सम्पूर्ण पृथ्वी को भी शोकाकुल कर देती है ।[3]

१- हा भ्रातर्मनुजश्रेष्ठ शूराणां प्रवर प्रभो ।
एकाकी किं नु मां त्यक्त्वा परलोकाय गच्छसि ।।
विलपन्तं च मां भ्रातः किमर्थं नावभाषसे ।
उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा ।।
शोकार्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च ।
विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम ।।
वही, ६।१०१।२०-२२

२- वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते ।

३- अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ।।
अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ।।
कु०स०, ४।३,४

देवता विवेचन

भारतीय संस्कृति सदा से धर्ममूलक रही है। किसी भी कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम इष्ट देवता का स्मरण तथा उसकी प्रार्थना की जाती है और उनका आह्वान किया जाता है—

सर्वकर्माणि कुर्वीत प्रणिपत्येष्टदेवताम्।[1]

साहित्य संस्कृति का ही प्रतिबिम्ब [illegible] है, फलतः भारतीय साहित्य भी धर्म के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका है।

वैदिक वाङ्मय में अग्नि, वर्षा, मेघ, जल, सूर्य आदि प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा रुद्र, मृत्यु आदि चिरन्तन शक्तियों का मानवीकरण करके उनकी कल्पना देवरूप में की गयी है। ऋग्वेद के अग्नि, पृथिवी, वाक् आदि सूक्त इसके प्रमाण हैं। देवताओं के स्वरूप-साम्य तथा उनके निवास-स्थान के आधार पर उनको विभिन्न प्राकृतिक विषयों तथा शक्तियों का प्रतीक माना जाने लगा था। वर्षा की अधिष्ठात्री देवता के रूप में पर्जन्य की मान्यता हुई। वही वर्षा कराते हैं।[2] सूर्य जगत् को प्रेरणा देने वाले हैं।[3] रुद्र क्रोध तथा संहार के देवता हैं।[4] मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता के

१- कु०स०, पद्य १, (सङ्केत टीका)

२- महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।
घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः॥
ऋग्वे०, ५।८३।८

३- चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
वही, १।११५।१

४- मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥
वही, २।३३।४

रूप में यम को स्वीकार किया गया है ।

वैदिक काल से लेकर परवर्ती संस्कृत साहित्य तक देवताओं की सत्ता और महत्ता बराबर बनी ही रही है । वेद में प्राकृतिक तथ्यों के अतिरिक्त उलूखल-मुसल आदि जड़ पदार्थों की स्तुति भी देवता के रूप में की गयी है[1]। वैदिक ऋषियों की प्रत्येक पदार्थ को देवत्व प्रदान करने की यह प्रवृत्ति लौकिक साहित्य में भी किसी न किसी रूप में परिलक्षित होती है । नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद मानकर उसे ब्रह्मा की सृष्टि माना गया है[2]। उसी प्रसङ्ग में नाट्य में प्रयुक्त रसों को भी किसी न किसी देवता से सम्बद्ध कर दिया गया है । यहाँ पर सभी रसों के देवताओं के स्वरूप पर विचार न करके करुण रस के देवता के स्वरूप का विवेचन करना ही अभीष्ट है ।

<u>करुण रस के देवता — यम</u>

करुण रस के देवता यम माने जाते हैं[3], किन्तु कवि विश्वनाथ[4],

---

१- यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥
उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित् ।
अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ॥ वही, १।२८।५,६

२- एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥ ना०शा०, १।१६,१८

३- करुणो यमदैवतः । वही, ६।४४

४- वरुणश्चास्य देवतम् । र०दी०, पृ० २६

भानुदत्त[1] तथा श्रीकृष्ण कवि[2] ने इसके देवता के रूप में वरुण को स्वीकार किया है। करुण रस की उत्पत्ति रौद्र रस से मानी गयी है।[3] रौद्र के फलस्वरूप होने वाले वध आदि के द्वारा करुण रस उत्पन्न होता है; अतः रौद्र के देवता (रुद्र) की प्रेरणा से ही यम वध आदि में प्रवृत्त होते हैं, जिससे करुण रस की उत्पत्ति होती है।[4] रुद्र भयङ्कर, उग्र स्वरूप वाले तथा तीनों लोकों का संहार करने वाले हैं।[5] रुद्र के रौद्र रूप का संकेत ऋग्वेद में की गयी उनकी इस प्रार्थना में भी उपलब्ध होता है, जिसमें उनसे यह निवेदन किया गया है कि वे क्रोध में आकर अपने उपासकों,[6] उनके माता-पिता, पुत्रों, परिजनों, पशुओं और अश्वों का नाश न करें। रौद्र रूप धारण करने

१- देवतं वरुणः । र०त०, तरङ्ग ७, पृ० ४६०

२- देवता वरुणो मतः ।
म०प०व०, पृ० १०३

३- रौद्राच्च करुणो रसः ।
ना०शा०, ६।३९

४- रुद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता । अत एव चोदयतीति निय (च यमयतीति य)
येन वधादिके सम्पादिते करुणः ।

वही(अभि०भा०), भाग १, पृ० २९८-२९९

५- स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ॥

ऋग्वेद, २।३३।११

६- मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥

वही, १।११४।७,८

वाले यहाँ रुद्र करुण की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं । इष्ट के नाश से शोक उत्पन्न होता है, जिसके जनक यम हैं, अतः जन्य-जनक भाव के आधार पर भी करुण रस के देवता के रूप में यम की कल्पना उचित ही प्रतीत होती है । कहा भी गया है कि करुण का अधिष्ठान दया है । उस (दया) के द्वारा (यम) पाप को नियन्त्रित करते हैं और इसीलिये वहाँ यम इस (करुण) के अधिदेवता हैं ।[१]

अथर्ववेद में यमसूक्त के अतिरिक्त अतिमृत्यु[२] तथा मृत्यु[३] आदि सूक्त भी उपलब्ध होते हैं । इन सूक्तों में मृत्यु के दूतों को नमस्कार करके विभिन्न प्रकार से उनकी स्तुति की गयी है । ये मृत्यु और अतिमृत्यु देवता भी नाश के कारण माने जाते हैं । यम भी इसी श्रेणी में आते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मृत्यु से सम्बद्ध होने पर भी मृत्यु को करुण रस का अधिदेवता न मानकर यम को ही उसका अधिदेवता क्यों माना गया है । इसका उत्तर यह है कि जिस कार्य का आदि (प्रारम्भ) होता है, उसका अन्त अवश्य होता है । प्रत्येक मनुष्य के द्वारा अपने अपने कर्मानुसार फल का भोग करना भी निश्चित है । इस कर्मफल के निर्णायक यम देवता ही हैं । उन्हीं की आज्ञा से उनके दूत मनुष्य के पास जाते हैं और उनका प्राणहरण करते हैं । सम्भवतः इसी कारण यम को ही करुण रस का अधि-देवता माना जाता है, मृत्यु को नहीं ।

१- करुणस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते ।
पापं तया यमयति यमः सोऽस्याधिदेवतम् ।।
भा०प्र०, ३,पृ० ६८

२- अथर्व०, ४।७।३५

३- वही, ६।२।१३

यम — स्वरूप-विवेचन

यम शब्द नियन्त्रणार्थक 'यम्' धातु से निष्पन्न होता है। जो सभी प्राणियों का नियन्त्रण करता है, वह यम है। यम प्राणी का देवता है। वह मृतात्मा को वह मार्ग दिखाते हैं जिस पर पूर्व पितृगण चले थे। यम को स्पष्ट शब्दों में देवता न कहकर उन्हें मृतकों का राजा बताया गया है।[1] यम के पिता विवस्वान् तथा माता सरण्यु हैं।[2] यम मृतात्माओं के देवता हैं।

यम का सम्बन्ध वरुण[3], बृहस्पति[4] तथा अग्नि[5] के साथ है।

१- परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।।
ऋ०वे०, १०।१४।१

२- (i) यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।।
वही, १०।१७।१

(ii) अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्युः।।
वही, १०।१७।२

३- प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्।।
वही, १०।१४।७

४- देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्।।
वही, १०।१३।४

५- अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद् दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे।।
वही, १०।२१।५

उनमें अग्नि के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि अग्नि ही (दाह क्रिया के माध्यम से) मृतात्माओं को यम तक पहुँचाती है। पितरों में यम का सम्बन्ध विशेष रूप से अङ्गिरस् से है।[1] यम जीवों के शुभाशुभ निमित्त को जानने वाले हैं।[2] उनसे दीर्घायु प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।[3] शरीर के पञ्चभूतों में मिल जाने पर जब जीवात्मा विभिन्न लोकों में भ्रमण करता रहता है, तब यम ही उनके कर्मों के अनुसार उन्हें लोक-लोकान्तरों में पहुँचाते हैं।

यम का मार्ग मृत्यु है।[4] मरुतों से प्रार्थना की गयी है कि उनका स्तोता कभी उस मार्ग पर न जाये।[5] ऋग्वेद में एक स्थान पर मृत्यु के साथ यम का तादात्म्य स्थापित किया गया है। ओषधियों से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्यों को वरुण के पाश से मुक्त करायें, वे (उन्हें) यम की बेड़ियों

१- मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥
वही, १०।१४।३

२- यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्याऽनु स्वाः ॥
वही, १०।१४।२

३- यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥
वही, १०।१४।१४

४- पथा यमस्य गादुप ।
वही, १।३८।५

५- (i) तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ।
अथर्व०, ६।२८।३

(ii) यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथः ।
वही, ६।९३।१

से मुक्त करायें।[1] उपर्युक्त तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि पूर्व वैदिक काल में यम अपने दूतों के कारण आर्यों के लिये निश्चय ही भय का कारण रहे होंगे। परवर्ती संहिताओं में यम का उल्लेख अन्तक, मृत्यु[2] और निर्ऋति के साथ हुआ है। अथर्ववेद तथा परवर्ती वाङ्मय में यम का रूप और भी भयङ्कर होता गया। अब उन्हें मृत्यु का देवता समझा जाने लगा। अथर्ववेद के अनुसार मृत्यु ही यम का दूत है।[3]

मृत्यु मनुष्यों का स्वामी है तथा यम पितरों का स्वामी है।[4] उलूक और कपोत यम के दूत हैं।[5] दो श्वान भी उनके सेवक हैं जो चार आँखों तथा

१- मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या३दुत।
अथो यमस्य पड्बीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥
ऋग्वे०, १०।६७।२६

२- (i) यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा।
वा०सं०, ३६।१३

(ii) मृत्युर्वै यमः। मै० सं०, २।५।६

३- मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेताः।
अथर्व०, १८।२।२७

४- (i) मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु।
वही, ५।२४।१३

(ii) यमः पितृणामधिपतिः स मावतु।
वही, ५।२४।१४

५- यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे।
ऋग्वे०, १०।१६५।४

फैली नाक वाले हैं और सरमा के पुत्र हैं।[1] यही सारमेय मृतकों को यम के पास ले जाते हैं तथा यम लोक में गए हुए मनुष्यों की रक्षा करते हैं। परवर्ती वाङ्मय में यम के अश्वों का उल्लेख किया गया है, जहाँ उन्हें हिरण्याक्ष तथा आयसखुर कहा गया है।[2] यम मृतकों को दहन स्थान[3] तथा अदन भी प्रदान करते हैं।[4]

वैदिक वाङ्मय में यम के इन्हीं कार्यों का वर्णन वरुण के प्रसङ्ग में भी दिखाई पड़ता है। दोनों द्युलोक के स्वामी हैं। मृतक व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचने पर यम और वरुण को देखता है।[5] वरुण मनुष्यों के पाप-पुण्य तथा सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। वरुण का पाश पापियों को बन्धन में डालने वाला है।[6] वरुण से सदैव यह प्रार्थना की जाती है कि वह किसी

१- अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥
वही, १०।१४।१०

२- हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् ।
अश्वाननश्यतो दानं यमो राजाभितिष्ठति ॥
तै०आ० ६।५।२

३- अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥
ऋ० वे० १०।१४।९

४- एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ।
वही, १०।१८।१३

५- वही, १०।१४।७

६- उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत ।
अवाधमानि जीवसे ॥ वही, १।२५।२१

को अपने वध तथा क्रोध का पात्र न बनाये ।[1] इस प्रकार वैदिक काल में यम और वरुण के कार्य बहुत कुछ समान थे । अथर्ववेद के अनुसार वरुण का सम्बन्ध यम के साथ उसी प्रकार है, जिस प्रकार सोम का सम्बन्ध पर्वतों के साथ है ।[2] जल में निरन्तर निवास करने के कारण ही ऋग्वेद में उन्हें 'समुद्रिय:' कहा गया है ।[3] यजुर्वेद के अनुसार जल उनकी माता है तथा वह जल के पुत्र है ।[4] पौराणिक काल तक आते-आते वरुण जल के अधिदेवता तक सीमित रह गये और उनके दण्डित करने आदि के कार्य यम के कार्यों में सिमट कर रह गये । अन्तत: अपराध, पाप-पुण्य, मृत्यु आदि सभी के निर्णायक देवता यम माने जाने लगे । सम्भवत: मृत्यु से ही प्रधान रूप में सम्बद्ध होने के कारण यम को करुण रस का देवता भी मान लिया गया, क्योंकि करुण के विभावों (इष्टनाश तथा अनिष्टाप्ति रूपों) में इष्टनाश की ही प्रधानता हुआ करती है ।

छन्दोविवेचन

छन्द शब्द आच्छादनार्थक 'छदि' धातु से बना है । निरुक्त में कहा गया है— 'छन्दांसि छादनात्'[5] अर्थात् जो मन्त्रों के भावों का आच्छादन कर लेता है, उसे छन्द कहा जाता है । निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी छन्द शब्द

१- मा नो वधाय हत्नवे विहीळानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ।
वही, १।२५।२

२- अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
अथर्व०, ३।३।३

३- वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ।।
ऋ०वे०, १।२५।७

४- पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः ।
य०वे०, १०।७

५- निरु०, ७।१२।२

की व्याख्या करते हुए कहा है कि मृत्यु से भयभीत देवताओं ने अपने आपको इन छन्दों के द्वारा आच्छादित कर लिया था, इसीलिये छन्दों का 'छन्दस्त्व' है।[1] छन्द शब्द का निर्वचन आह्लादार्थक 'चदि'[2] धातु से भी माना जाता है, क्योंकि छन्द आह्लादकारक हुआ करते हैं।[3] गद्य की अपेक्षा छन्दोबद्धभाषा का स्मरण अधिक सुकर है। यही कारण है कि अधिकांश वेद छन्दोबद्ध हैं। इसी छन्दोबद्धता के कारण 'छन्दस्' शब्द वेद का पर्याय बन गया है[4]।

लौकिक संस्कृत में छन्दों के नाम प्रायः अन्वर्थक हैं। कुछ छन्दों के नाम स्त्रीवाचक होने के कारण अत्यन्त मधुर हैं, जैसे शालिनी, मालिनी, वसन्ततिलका, मञ्जुभाषिणी, इन्दुवदना इत्यादि। कुछ छन्दों के नाम पशु-पक्षियों की गति तथा उनकी क्रीडा से सम्बद्ध होने के कारण मनोहर हैं, जैसे— भुजङ्गप्रयात, शार्दूलविक्रीडित, क्रौञ्चपदा, अश्वललित, हरिणप्लुता मयूरविलसित इत्यादि।

भरत ने नाट्यशास्त्र में करुण के प्रसङ्ग में शक्वरी तथा वासितधृति नामक छन्दों को उपयुक्त बतलाया है।[5] निरुक्त में शक्वरी छन्द के इस नाम

१- अथ छन्दांसि कस्मात्? छादनात्। यदेभिरात्मानमाच्छादयन्देवा मृत्यो-र्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् इति विज्ञायते।

वही, दुर्गाचार्य की टीका

२- चदि (चन्द्) आह्लादने दीप्तौ च।

धा०पा०, १।५६

३- चन्दतेऽनेन वा।

अ०को०(रा०), ३।३।२३२

४- छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः इति मेदिनी।

वही।

५- करुणे शक्वरी चैव तथा वासितधृतिः स्मृता।

ना०शा०, १६।११४

का कारण यह बताया गया है कि इसी छन्द के द्वारा इन्द्र ने वृत्र का वध किया था।[1] वृत्रवध से सम्बद्ध होने के कारण ही सम्भवतः भरत ने इसे करुण के लिये उपयुक्त मान लिया था। इसी प्रकार भरत के द्वारा अतिधृति नामक छन्द को भी करुण के प्रसङ्ग में मानने का एक विशेष कारण हो सकता है। धृति शब्द का अर्थ है— धैर्य। जहाँ धृति (धैर्य) का अतिक्रम हो जाय, वही अतिधृति है। करुण रस में भी वस्तुतः यही स्थिति होती है, क्योंकि (करुण रस के) आश्रय का धैर्य नष्ट हो जाने के बाद ही उसके हृदय में शोक स्थायीभाव उद्बुद्ध होता है, जो अनुकूल विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर रस रूप में चर्वणा-योग्य बन जाता है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट ये दोनों छन्द वैदिक हैं। अतः लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है।

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में छन्दों की अर्थानुरूपता का उल्लेख किया है।[2] यहाँ पर उन्होंने वैतालीय आदि को करुण रस का प्रतिनिधि छन्द माना है।[3] मात्राओं की दृष्टि से इस छन्द को वैतालीय कहा जाता है तथा गणों की दृष्टि से इसका नाम वियोगिनी है।

वृत्तरत्नाकर में वैतालीय का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उसके प्रथम तथा तृतीय पादों में छः मात्राएँ, तदनन्तर रगण और उसके

१- शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते ।। निरु०१।८।१

२- अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम् । काव्यानु०,पृ० ४६०

३- करुणे वैतालीयादयः । वही ।

बाद लघु और गुरु मात्राएं होती हैं । द्वितीय और चतुर्थ पादों में आठ मात्राएं, एक रगण, एक लघु और एक गुरु मात्रा होती है ।[1] इसकी मात्राओं का क्रम निम्नलिखित है—

IISII	SIS	IS	IISSII	SIS	IS
६	र	ल.गु.	८	र	ल.गु.
IISII	SIS	IS	IISSII	SIS	IS
६	र	ल.गु.	८	र	ल.गु.

मन्दारमरन्दचम्पू में भी वैतालीय के इसी लक्षण को स्वीकार किया गया है ।[2] मन्दारमरन्दचम्पू के रचयिता कृष्णकवि ने वैतालीय के अतिरिक्त इन्हीं मात्राओं में निबद्ध वियोगिनी नामक एक अन्य छन्द को भी स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस छन्द के प्रथम और तृतीय पादों में दो सगण, एक जगण, एक गुरु होता है तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में सगण, भगण, रगण, लघु और गुरु होता है ।[3] इसमें गणों का क्रम निम्नलिखित रूप में होता है—

IIS	IIS	ISI	S	IIS	SII	SIS	IS
स	स	ज	गु.	स	भ	र	ल.गु.
IIS	IIS	ISI	S	IIS	SII	SIS	IS
स	स	ज	गु.	स	भ	र	ल.गु.

१- षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ।।
वृ०र०, २।३३

२- ओजयोः पादयोरादौ षण्मात्रा रलगा अथ ।
युक्तयोः पादयोरादावष्टमात्रा रलौ गुरुः ।।
म०म०च०,पृ०२५

३- ओजे वियोगिनी सौ ज्गावनोजे सभरा लगौ ।
वही,पृ०२१

केदारभट्ट के वैतालीय तथा कृष्णकवि के वैतालीय और वियोगिनी छन्दों के लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वैतालीय और वियोगिनी वास्तव में एक ही छन्द है। अन्तर केवल यह है कि कृष्ण कवि ने वैतालीय का आधार मात्राओं को तथा वियोगिनी का आधार गणों को माना है, किन्तु केदारभट्ट ने सम्भवतः स्वरूप-साम्य के कारण वैतालीय से भिन्न वियोगिनी नामक किसी अन्य छन्द की कल्पना ही नहीं की है।

वैतालीय और वियोगिनी छन्दों में मात्राओं का प्रयोग कुछ ऐसे आरोहावरोह क्रम से होता है, जिसे सुनकर सहृदय हृदय द्रवीभूत हो उठता है। वियोगिनी छन्द के नाम से ही उसके करुण विधायक स्वरूप की व्यञ्जना होने लगती है। यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने कुमार-सम्भव के रतिविलाप के प्रसङ्ग में[१] तथा रघुवंश में अजविलाप के अवसर पर[२] वैतालीय छन्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार रघुवंश में ही श्रवणवध के प्रसङ्ग में भी वैतालीय छन्द का प्रयोग हुआ है। एक बार मृगया के लिये तमसा के तट पर विचरण करते हुए महाराज दशरथ को तमसा में घट भरने की ध्वनि में हाथी के शब्द का भ्रम हो गया। उन्होंने उसी ओर अपना शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। बाण श्रवण के हृदय का वेधन कर गया और सहसा उनके मुख से 'हा तात' शब्द निकल पड़ा। इसे भाग्य की विडम्बना ही कहा जायेगा कि महाराज ने जल से भरे जाने वाले घट से उत्पन्न ध्वनि को गजगर्जना समझकर उधर की ओर अपना बाण छोड़ दिया, क्योंकि सामान्यतः हाथी का शिकार नहीं किया जाता है। कहा भी गया है कि ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले को युद्ध से अन्यत्र गजवध नहीं करना चाहिये— "लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्।"[३] दशरथ के द्वारा हाथी के शिकार

१- कु०स०, ४।१-४५

२- रघु०, ८।१-९०

३- रघु०, ९।७४ (मल्लिनाथ टीका)

करने का प्रयत्न ही अज के प्राणान्त का कारण बन गया, जिसमें करुण रस की व्यंजना होती है। अजविलाप की इस घटना की पूर्वपीठिका के रूप में ही कालिदास ने इस पद्य की रचना की है—

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।।[1]

अत एव इस पद्य में वैतालीय छन्द का प्रयोग उचित ही है।

करुण के अतिरिक्त वियोगिनी और वैतालीय छन्दों का प्रयोग गम्भीर चिन्तन अथवा धर्मोपदेश के प्रसङ्गों में भी माना गया है।[2]

वर्ण-विवेचन

रसों का वर्णन करते हुये आचार्य भरत ने विभिन्न रसों के देवताओं तथा उनके वर्णों के सम्बन्ध में भी विचार किया है। इन दोनों के सम्बन्ध में भरत के द्वारा जो विवेचन किया गया है अभिनवगुप्त के अनुसार उसका कारण यह है कि (रसों के) पूजन आदि के समय ध्यान करने में इन (वर्णों) की उपयोगिता होती है।[3] अभिनवगुप्त ने ही रसों के वर्णों के निरूपण का एक अन्य कारण भी बताया है, किन्तु यह मत अभिनवगुप्त का न होकर अन्य आचार्यों का है। इस मत के अनुसार (नाटक इत्यादि के अभिनय के समय) नट अपने मुखों को विभिन्न रङ्गों से रंग लिया करते होंगे। वे

१- रघु०, ८।७४

२- किरात०, सर्ग २; शिशु०, सर्ग १६; नैष०, सर्ग २।

३- वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि।

नाट्यशा०(अ०भा०), भाग १, पृ०२९८

सम्भवत: भिन्न-भिन्न रसों के अभिनय के अवसर पर भिन्न-भिन्न रङ्गों का प्रयोग किया करते होंगे । उसी आधार पर रसों के वर्णों की कल्पना कर ली गयी होगी ।[१] इसी प्रकार रसों के सम्बन्ध में उनके देवताओं की कल्पना की उपयोगिता भी पूजा की दृष्टि से ही की गयी है ।[२]

रसों के वर्णों का वर्णन करते हुये आचार्य भरत ने श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों का वर्ण क्रमश: श्याम, सित, कपोत, रक्त, गौर, कृष्ण, नील और पीत बतलाया है ।[३] भिन्न-भिन्न रसों के साथ भिन्न-भिन्न वर्णों के सम्बन्ध का भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य ही होना चाहिये । सम्भवत: भरत ने तत्तद् रसों में उपलब्ध मानसिक स्थिति के प्रतीक के रूप में तत्तद् रसों के वर्णों का निर्धारण किया है । शब्द के पर्यायों में मेघ और श्यामा शब्दों की भी गणना की गयी है ।[४] मेघ श्रृङ्गार के उद्दीपक होते हैं, चाहे संयोग श्रृङ्गार हो अथवा वियोग श्रृङ्गार । श्यामा उस स्त्री को कहते हैं, जो अप्रसूता है ।[५] श्यामा स्त्री का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है कि जिस स्त्री के सभी अङ्ग शीतकाल में सुखकर और उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में सुखकर और शीतल (प्रतीत) होते हैं

१- सुरार्णिऽपीत्यन्ये । वही।

२- तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणाम् । वही।

३- श्यामो भवति श्रृङ्गार: सितो हास्य: प्रकीर्तित: ।
कपोत: करुणश्चैव रक्तो रौद्र: प्रकीर्तित: ।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेय: कृष्णश्चैव भयानक: ।
नीलवर्णस्तु बीभत्स: पीतश्चैवाद्भुत: स्मृत: ।
ना०शा०, ६।४३-४४

४- अ०को० (रामाश्रमी), १।५।१४

५- वही, ३।३।१४३

तथा जिसकी आभा तपाये गये स्वर्ण के समान होती है, वह श्यामा कह-लाती है।[1] मल्लिनाथ के अनुसार श्यामा का अभिप्राय है नवयौवना स्त्री।[2] इसके अतिरिक्त 'शब्दकल्पद्रुम' में श्याम शब्द को कोकिल का पर्याय बतलाया गया है।[3] मेघों के समान कोयल को भी संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के शृङ्गारों का उद्दीपक माना गया है। श्याम के साथ मेघ, कोमल तथा श्यामा (यौवनमध्यस्था) स्त्री का सम्बन्ध होने के कारण ही सम्भवत: इसे शृङ्गार रस का वर्ण माना गया है। इसी प्रकार हास्य रस को श्वेत वर्ण कहने का कारण यह है कि हास में दन्तावलि दिखाई पड़ने लगती है और उसकी शुभ्र छटा सभी ओर छिटक जाती है। यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में हिमाच्छादित कैलास शिखर की उपमा भगवान् शङ्कर के अट्टहास से दी है।[4] रसों के वर्णों के निर्धारण का मनोवैज्ञानिक आधार भी है। हास्य का वर्ण उज्ज्वल स्वीकार करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि हास्य रस की निष्पत्ति की अवस्था में सहृदय की चित्तवृत्ति आनन्द और समुल्लास से सर्वथा सम्प्लुत हो जाती है। इसी प्रकार

१- शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।।
मेघदूत, ५।१८(टीका)

२- श्यामा यौवनमध्यस्था— शिशु०,८।३६(टीका); नैष०,३।८ (टीका)

३- शब्दक०द्रु०, पृ०१४६

४- गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धे:
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथि: स्या: ।
शृङ्गोच्छ्रायै: कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थित: खं
राशीभूत: प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास: ।
मेघदू०, १।६२

रौद्र रस का वर्ण रक्त इसलिये माना गया है, क्योंकि क्रोध में नेत्र लाल हो जाते हैं, मुख तमतमा कर रक्तवर्ण हो जाता है और लोक में भी क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिये यह कहा जाता है कि नेत्रों में रक्त उतर आया है।

करुणा को कपोत वर्ण मानने का भी एक कारण है। कपोत का वर्ण धूसर (धूमिल अथवा धूम्रवत्) होता है। उज्ज्वल वर्ण चित्त के विकास-विस्तार का सूचक है और रक्त वर्ण मानसिक तनाव का चिह्न है। दशरूपककार ने रसों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। धनञ्जय के अनुसार काव्य के द्वारा सहृदय हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है, जिसे स्वाद कहा जाता है। धनञ्जय ने रसास्वाद के चार भेद किये हैं, जो चित्त के विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप रूप हैं। धनञ्जय के अनुसार रौद्र और करुणा में चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है।[१] ऐसी अवस्था में मन की स्थिरता समाप्त हो जाती है और वह आन्दोलित हो उठता है। चित्तवृत्ति का यह आन्दोलन नैराश्य का सूचक है, क्योंकि जब तक मन अस्थिर रहता है, तब तक मनुष्य की इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रहती हैं। वह कोई भी रचनात्मक कार्य करने में समर्थ नहीं होता है। शोकातिरेक में मन का यह आन्दोलन ही मनुष्य को निराश और जीवन के प्रति उदासीन बना देता है। करुणा का जनक होने के कारण ठीक यही अवस्था रौद्र रस में भी मानी गयी है। कपोत का धूसर वर्ण करुण-रस-विषयक इसी

१- स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ।।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ।।

दशरू०, ४।४३-४४

निराशा और अवसाद का प्रतीक है । कपोत की ध्वनि भी कराहने की सी होती है, जिससे दुःख का संकेत प्राप्त होता है । ऋग्वेद में कपोत को निर्ऋति (मृत्यु अथवा पाप-देवता) का दूत बतलाया गया है।[1] उसे हनन का हेतु भी कहा गया है।[2] मृत्यु और अनिष्ट के सूचक के रूप में उलूक और कपोत का स्थान भी समान ही है । उलूक का शब्द तथा कपोत का गृहप्रवेश दोनों समान रूप से अनिष्ट के सूचक और यम के दूत कहे गये हैं।[3] इन्हीं सब आधारों पर भरत ने करुण रस का वर्ण कपोत बतलाया है । अलङ्कारसङ्ग्रह में करुण का वर्ण कषाय कहा गया है।[4] कषाय वर्ण भी निर्वेद का सूचक है, जो करुण रस में व्यभिचारी के रूप में आता है । सर्वेश्वराचार्य ने साहित्यसार में करुण रस का वर्ण हरित् बतलाया है।[5] हरित् शब्द हरणार्थक 'हृ' धातु से निष्पन्न होता है । करुण रस में शोकातिरेक के कारण प्राणों का अपहरण तक हो जाता है । इसलिये उसे हरित् वर्ण भी

१- देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
ऋ०वे०, १०।१६५।१

२- हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने ।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥
वही, १०।१६५।३

३- यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति ।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥
वही, १०।१६५।४

४- कषायवर्णः करुणो - - - - । अ०सं०, पृ०२१

५- हरिद्वर्णस्तु करुणो यमस्तदधिदैवतम् ॥ सा०सा०, पृ० ५८

माना जा सकता है । नाट्यशास्त्र, अलङ्कारसङ्ग्रह और साहित्यसार में करुण के भिन्न भिन्न वर्णों का उल्लेख है, किन्तु इनमें नाट्यशास्त्र के द्वारा निर्धारित करुण रस का कपोत वर्ण ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि, जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कपोत वर्ण का साक्षात् दुःख और निराशा, अवसाद आदि मनोविकारों का प्रतीक है ।

करुण और अंधरात्रि

करुण रस के प्रसङ्ग में अंधरात्रि का विशेष महत्त्व है । इसका भी कुछ कारण अवश्य होना चाहिये । इसके लिये सर्वप्रथम रात्रि शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना होगा । यास्क ने निरुक्त में रात्रि शब्द का निर्वचन करते हुए बतलाया है कि रात्रि को रात्रि इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह निशिचरों के लिये आनन्ददायिनी होती है, किन्तु अन्य प्राणियों को निश्चल (जड़) कर देती है ।[1] रात्रि का अन्धकार और उसकी निस्तब्धता भय, निराशा, रहस्य इत्यादि का प्रतीक है । रात्रि में चारों ओर फैला हुआ अन्धकार निराश और व्यथित मन को और भी नैराश्यमय बना देता है । ऋग्वेद में सूर्य को जड़-जङ्गमात्मक जगत् का आत्मा कहा गया है ।[2] रात्रि में सूर्य के छिप जाने के कारण मनुष्य स्वभावतः निष्प्राण सा हो जाता है, यदि उसी काल में विषादजनक घटनायें भी घटित होने लगें, तब तो मानव-मन नितान्त प्राणहीनवत् हो जायगा ।

१- रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तं चारीणि । उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति ।

निरुक्त, २।१८

२- चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।

ऋग्वेद,१।११५।१

अर्धरात्रि में रात्रि की नीरवता तथा विभीषिका और भी बढ़ जाती है। अमरकोष में निशीथ को अर्धरात्रि का पर्याय बताया गया है।[1] अर्धरात्रि को निशीथ कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय सभी लोग शयन करते हैं।[2] प्राणियों का यह शयन उनके अवसाद का सूचक है, इसीलिये सम्भवतः जो दुःख और पीड़ा दिन भर भूली रहती है, रात्रि के आगमन के साथ और विशेष रूप से अर्धरात्रि के तमसाच्छन्न वातावरण में उसका स्मरण अवश्य हो आता है। कालिदास ने निशीथ काल में कामियों की कामोद्दीपकता का वर्णन किया है।[3] इसी प्रकार अमरुक ने भी प्रियतमा से वियुक्त किसी ऐसे पथिक के अर्धरात्रि में अत्यन्त विह्वल होकर गला फाड़-फाड़ कर रोने का वर्णन किया है जिसे गाँव वालों ने उसी रात गाँव से बाहर निकाल

१- (i) अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ। अ०को०, १।४।६

(ii) निशीथस्तु पुमानर्धरात्रे स्याद्रात्रिमात्रके।

वही (रामाश्रमी टीका)।

२- (i) निशेरतेऽस्मिन्। वही।

(ii) नियतं शेरतेऽस्मिन्निशीथः। वही, (कृ०टीका)।

(iii) निशेरते जना अस्मिन्। S.E.D. Part II

३- सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं
प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं
शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः।

ऋतु०सं०, १।३

दिया है।[1] उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा की अनुभूति जितनी अर्धरात्रि की नीरवता में होती है उतनी किसी अन्य वेला में नहीं।

वाल्मीकि रामायण में करुण रस के जो प्रसङ्ग हैं, उनमें कुछ मार्मिक प्रसङ्गों के सम्बन्ध में आदिकवि वाल्मीकि ने भी अर्धरात्रि का उल्लेख किया है। राम के वनगमन के पश्चात् दशरथ की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो उठती है। राम का वियोग उनके लिये असह्य हो जाता है। उन्हें पुत्रवियोग के रूप में अपने कुकृत्यों का विपाक दिखाई पड़ने लगता है। इसी विषण्णावस्था में उन्हें श्रवण के माता-पिता का स्मरण हो आता है, क्योंकि उन दोनों ने भी पुत्रवियोगातिशय के कारण अपने प्राणों का परित्याग कर दिया था। पुत्र-वियोग के जिस कारण से श्रवण के माता-पिता का देहान्त हुआ था, उसके निमित्त वास्तव में दशरथ ही थे, अतः राम-वनगमन के अवसर पर अपने को पुत्र से वियुक्त देखकर उनकी आत्मा ग्लानि से भर जाती है और श्रवणवध के रूप में उनके द्वारा किया गया कुकृत्य उनके मस्तिष्क पर छा जाता है।[2] अन्त में अपने वनवासी प्रिय पुत्र राम के वियोग में दशरथ नाना प्रकार से विलाप करते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं। उस समय भी अर्धरात्रि ही बीत रही थी। अर्धरात्रि की

१- धीरं वारिधरस्य वारि किरतः श्रुत्वा निशीथे ध्वनिं
दीर्घोच्छ्वासमुदश्रुणा विरहिणीं बालां चिरं ध्यायता।
अध्वन्येन विमुक्तकण्ठमखिलां रात्रिं तथा क्रन्दितं
ग्रामीणैः पुनरध्वगस्य वसतिर्ग्रामे निषिद्धा यथा॥
अ०श०,पद्य १३

२- स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम्।
अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद्दुष्कृतं कृतम्॥
रामा०,२।६३।४

निस्तब्धता में दशरथ का पुत्रवियोग जन्य शोक इतना असह्य हो जाता है कि उनका प्राणान्त ही हो जाता है।[1]

बुद्धचरित में अश्वघोष द्वारा किये गये वर्णन से यह अभिव्यक्त होता है कि सिद्धार्थ के प्रव्रज्या ग्रहण के लिये अर्धरात्रि में ही गृह का त्याग करते हैं। शुद्धोधन के द्वारा किये गये बहुविध प्रयत्नों के बाद भी कुमार सिद्धार्थ का मन लौकिक सुखोपभोगों में नहीं लगता है। पिता द्वारा संसार के समस्त सुखोपभोगों के उपलब्ध कर दिये जाने पर भी कुमार सिद्धार्थ से इस संसार की असारता छिपी न रहती है। एक बार उपवन जाते समय मार्ग में उन्हें मृत्यु, रोगी और वृद्ध के रूप में संसार की वास्तविकता दिखाई दे पड़ जाती है। तब पिता शुद्धोधन की तो बात ही क्या, कुमार को उनकी प्रियतमा यशोधरा भी इस संसार से बद्ध करने में असमर्थ हो जाती है। परिणामस्वरूप एक दिन अर्धरात्रि के समय वह यशोधरा को एकाकिनी छोड़कर तथा संसार का मोह त्यागकर सत्य की खोज में निकल पड़ते हैं। अश्वघोष ने बुद्धचरित में इस घटना का वर्णन करते हुये कहा है कि इस प्रकार संसार की निस्सारता का बोध हो जाने पर सिद्धार्थ के मन में रात्रि में घर से निकल पड़ने की इच्छा जागृत हो उठती है। उनके मन की इस अवस्था को समझकर ही देवता राजप्रासाद के द्वार को उद्घाटित कर देते हैं।[2] कुमार सिद्धार्थ का यही रात्रि-

---

१- तथा तु दीनः कथयन्नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः
तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः॥ वही, २।६४।७८

२- इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निष्क्रमिषा समुद्बभूव।
अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव॥ बु०च०,५।६६

कालीन अभिनिष्क्रमण यशोधरा के आत्यन्तिक शोक का कारण बन जाता है।

दु:ख को उत्पन्न तथा उसकी वृद्धि करने में रात्रि के महत्त्व की ओर भट्टिकाव्य में भी सङ्केत किया गया है। राम और रावण की सेनायें युद्ध-स्थल में आ खड़ी हुई हैं। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हो रहा है। दोनों ओर शस्त्रास्त्रों की वर्षा हो रही है। दोनों ओर की सेनायें अपने शत्रुओं के रक्त से अपनी पिपासा को शान्त करना चाहती हैं। मेघनाद भी क्रुद्ध होकर राम और लक्ष्मण पर अपनी शक्ति का प्रहार कर देते हैं, जिससे वे दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं। इस समय भी रात ढल रही है।[१] राम और लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर उनकी सेना के योद्धा ही नहीं, देवता भी शोकमग्न हो उठते हैं।

अर्धरात्रि की भीषणता और उससे अभिवृद्ध शोक केवल संस्कृत काव्यों में ही वर्णित हो, यह बात नहीं है। अंग्रेजी साहित्य में भी इस प्रकार का वर्णन प्राय: उपलब्ध होता है। शेक्सपियर के नाटकों में रात्रि का विशेष महत्त्व है। हेमलेट को अपने मृत पिता की प्रेतात्मा का दर्शन रात में ही होता है।[२] 'मैकबेथ' में डुङ्कन की हत्या अर्धरात्रि में ही होती है।[३] ये सभी प्रसङ्ग ऐसे हैं, जो भय, निराशा तथा शोक को

१- निशान्ते रावणि: क्रुद्धो राघवौ च व्यमुमुहत् ।
भट्टि०, १५।६८

२- Horatio-- what art thou,that us-urp'st this time of night.
Hamlet,Act 1,Scene 1.

३- Lennox -- The night has been unruly; where we lay.
Our chimneys were blown down; and, as they say,
Lamentings head i'th'air, strange screams of death;
And prophesying, with accents terrible,
Of dire cumbustio-n and confused events.
New hatcht to th'woeful time;the obscure bird
Clamour'd the livelong night; some day,the earth
Was feverous and did shake.
Macbeth, Act 1, Scene III.

उद्बुद्ध करके करुणा की चर्वणा में सहायक होते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि करुणा के प्रसङ्ग में अर्धरात्रि का विशेष महत्त्व है।

अध्याय ४

करुण तथा करुणविप्रलम्भ— भेद-निरूपण

करुण तथा करुण-विप्रलम्भ—भेद-निरूपण

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों रस वियोग से सम्बद्ध चित्त की विकलता से उत्पन्न होते हैं । दोनों में वेदना की प्रधानता रहती है; अत: इन दोनों रसों के स्वभाव के विषय में भ्रम होना स्वाभाविक है । वस्तुत: उपर्युक्त दोनों रस भिन्न हैं । करुण-विप्रलम्भ रति स्थायीभाव से उत्पन्न होता है ।[1] इसके विपरीत करुण रस शोक स्थायीभाव से उद्भूत होता है । करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है, जबकि करुण रस में इसकी कोई सम्भावना नहीं रह जाती है ।[2]

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार में भ्रम की सम्भावना मुख्यत: दो प्रेमियों के वियोग की अवस्थाओं में रहती है । प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का हो सकता है— १.स्थायी वियोग, २.अस्थायी वियोग । दोनों प्रेमियों के जीवित रहते हुए किसी भी कारण वश जो वियोग हो जाता है, वह अस्थायी होता है और सापेक्ष्य होने के कारण वह शृङ्गार की सीमा

१- शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रस: ।
विप्रलम्भे रति: स्थायी पुन: सम्भोगहेतुक: ।।
सा०द०,३।२२६

२- य: शोक: स्थायीभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारो-
चितरतिस्थायीभावादन्य एव - - - - ।
ध्वन्या०(लोचन) २।५

में आता है, किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें पुनर्मिलन की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है । इसीलिये वह वियोग स्थायी होता है । निरपेक्ष होने के कारण वह करुण के अन्तर्गत आ जाता है । इस प्रकार जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस की सीमा रेखा 'आत्यन्तिक वियोग' है । यह आत्यन्तिक वियोग प्राय: मृत्यु के कारण उत्पन्न होता है । अत: मृत्यु से पूर्व तक विप्रलम्भ शृङ्गार तथा मृत्यु के बाद करुण रस का क्षेत्र होता है । यह सीमा रेखा केवल स्त्री-पुरुष विषयक वियोग में ही बनती है । इससे भिन्न सम्बन्ध होने पर वियोग चाहे स्थायी हो अथवा अस्थायी, वह करुण के ही क्षेत्र में आयेगा । उदाहरण के लिये वाल्मीकि रामायण में राम का वनगमन एक निश्चित अवधि के लिये ही होता है । इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् दशरथ को राममिलन की पूर्ण आशा रहती है, तथापि वह उनके विरह में व्याकुल हो उठते हैं और उनकी यह व्याकुलता उनके प्राणान्त का कारण बन जाती है । इसी प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में जब शकुन्तला कण्व के आश्रम से विदा होकर दुष्यन्त के घर जाने लगती है तब कण्व और शकुन्तला के पुनर्मिलन की आशा बिल्कुल समाप्त हो जाती हो यह बात नहीं है । इतने पर भी कण्व को शकुन्तला का वियोग असह्य हो जाता है और दु:खातिरेक से उनका कण्ठ बाष्प-गद्गद् हो उठता है।[१] इन दोनों प्रसङ्गों में आत्यन्तिक वियोग न होने पर भी

१- यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठ: स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकस:

पीड्यन्ते गृहिण: कथं नु तनयाविश्लेषदु:खैर्नवै: ।।

अ०शा०, ४।६

करुण रस की अनुभूति होने लगती है; क्योंकि यहाँ पर जो वियोग है वह स्त्री-पुरुष विषयक नहीं, अपितु अन्य सम्बन्धों से जनित है ।

रुद्रट[१], भोजराज[२], विश्वनाथ[३] आदि आचार्यों ने करुण रस से पृथक् शृङ्गार रस के अन्तर्गत 'करुण-विप्रलम्भ' नामक एक उपभेद की कल्पना की है । उनके अनुसार जहाँ दो प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाती है, परन्तु कालान्तर में उनका पुनर्मिलन हो जाता है अथवा वस्तुत: किसी की मृत्यु होती ही नहीं है किन्तु समझ ली जाती है, वहाँ करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार होता है । शरीरान्तर से पुनर्मिलन होने पर करुण-विप्रलम्भ नहीं माना जायगा । इसके लिये एक ही शरीर से पुनर्मिलन आवश्यक है ।

कादम्बरी में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में पुण्डरीक की मृत्यु के पश्चात् महाश्वेता और कपिञ्जल का विलाप स्पष्ट ही करुण रस विषयक है, किन्तु आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा जागृत हो उठने से उसके बाद विप्रलम्भ शृङ्गार माना जायगा[४] । पुनर्मिलन की आशा से महाश्वेता के हृदय में रतिभाव उद्बुद्ध हो

१- करुण: स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयो: ।
यदि वा मृतकल्प: स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ।।
का०(रु०), १४।३४

२- लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा ।
भृशं दु:खायते दीना करुण: स तदोच्यते ।।
स० कं०, ५।५०

३- यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य:।।
सा०द०, ३।२०६

४- वत्से महाश्वेते । न परित्याज्या: त्वया प्राणा:, पुनरपि तवानेन सह भविष्यति समागम: । कादम्ब०, पूर्वभाग, पृ० ३१२-३१३

जाता है और सहृदय हृदय करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार का आस्वादन करने लगता है।[1] आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार इस प्रसङ्ग में आकाशवाणी के पश्चात् कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है। उनकी मान्यता यह भी है कि प्रस्तुत उदाहरण में मृत्यु के पश्चात् पुण्डरीक का पुनर्जीवित होना कवि की कल्पना मात्र है। घटना की दृष्टि से तो यथार्थ में अन्त तक करुण ही रह जाता है, क्योंकि मृत्यु के बाद पुनरुज्जीवन की सम्भावना ही नहीं रहती है। ऐसा तो केवल तभी सम्भव है जब वास्तव में मृत्यु न हुई हो, किन्तु समझ ली गई हो। इन स्थलों पर पुनर्मिलन अप्रत्याशित रूप से होता है। अतः मिलन के पूर्व तक तो करुण की मर्यादा भले ही रहे, किन्तु आकस्मिक पुनर्मिलन में अद्भुत रस का उदय हो जाता है।[2]

वस्तुतः कादम्बरी के प्रस्तुत उदाहरण में करुण और अद्भुत रसों का मिश्रण नहीं माना जा सकता है। यहाँ पर पुण्डरीक की मृत्यु हो जाने के कारण महाश्वेता और उसका आत्यन्तिक वियोग हो जाता है जिससे यह प्रसङ्ग करुण की सीमा में आ जाता है, तभी आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के साथ पुनर्मिलन की आशा जागृत हो जाती है और वह अपने प्राण-त्याग का विचार छोड़ देती है। यहाँ महाश्वेता में पुनर्मिलन की आशा जागृत हो जाने के कारण करुण-विप्रलम्भ ही माना जायेगा, शोकस्थायिभावात्मक करुण नहीं। यहाँ पुण्डरीक और महाश्वेता का वियोग पुनर्मिलन में पर्यवसित होने के कारण सापेक्ष है। शिङ्गभूपाल ने

१- किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषणानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् । प्रथमं तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।

सा०द०, ३।२०६ (वृत्ति)

२- का०पू०, हिन्दी व्याख्या (विश्वेश्वर), पृ० १२६

भी रसार्णवसुधाकर में करुण और करुण विप्रलम्भ का भेद बतलाते हुए स्पष्ट किया है कि (नायक और नायिका) दोनों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जब तक उसके पुनर्मिलन की आशा रहती है, तबतक (करुण) विप्रलम्भ रहता है। इसके विपरीत जब पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है तब करुण हो जाता है।[1] उपर्युक्त उदाहरण में अद्भुत रस की व्यंजना तो केवल वहीं मानी जा सकती है जहाँ एक दिव्य पुरुष चन्द्रमण्डल से निकल कर महाश्वेता को पुण्डरीक के साथ पुनर्मिलन का आश्वासन देता है और तदनुसार कालान्तर में पुण्डरीक जीवित भी हो उठता है। इस प्रकार यहाँ पुण्डरीक और महाश्वेता का जो आत्यन्तिक वियोग प्रतीत हो रहा था, उसका पर्यवसान पुनर्मिलन में हो जाता है। अत: इसको शृङ्गार के ही क्षेत्र में रखा जा सकता है। इस प्रसङ्ग में करुण रस का पूर्ण परिपाक भी नहीं हो पाया है। विलाप के मध्य में ही आकाशवाणी के माध्यम से महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक से पुनर्मिलन की आशा जागृत हो जाती है और उसका रतिस्थायीभाव उद्बुद्ध हो जाता है। इस प्रकार यहाँ शोक स्थायी भाव है अवश्य, किन्तु उद्बुद्ध होकर शीघ्र नष्ट हो जाने के कारण उसको स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सका है, अपितु वह व्यभिचारी होकर ही रह गया है।[2] अत: यहाँ करुण-विप्रलम्भ मानना ही उचित है। पुण्डरीक की मृत्यु के पश्चात् महाश्वेता के विलाप के मध्य में नभोमण्डल से दिव्यपुरुष के अवतरित होकर उन दोनों के

१- द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ ।।
विरह: करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशानिवर्तन: ।
करुणाप्रकारित्वात् सोऽयं करुण उच्यते ।।

र०सु०, २।२१८, २१९

२- यथा कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते । शोकस्तत्र (करुण-विप्रलम्भे) व्यभिचारी बोध्य: ।

का०प्र०(फलकीकर टीका), पृ० १०३

पुनर्मिलन की भविष्यवाणी करने में विस्मय भाव जागृत अवश्य होता है, किन्तु बहुत थोड़े समय के लिये । अत: यहाँ विस्मय भी स्थायीभाव के रूप में न होकर व्यभिचारी के रूप में आया है ।

कुछ विद्वानों के अनुसार कादम्बरी में आकाशवाणी के द्वारा महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के मिलन की आशा जागृत हो जाने के बाद भी करुण-विप्रलम्भ नहीं, अपितु प्रवास विप्रलम्भ ही है । पुण्डरीक और महाश्वेता भिन्न देश के ही नहीं अपितु भिन्न लोक के निवासी अवश्य हो गये हैं, किन्तु आकाशवाणी के पश्चात् महाश्वेता के मन में पुण्डरीक के प्रति अनुराग उद्बुद्ध हो जाता है । अत: यहाँ प्रवास-विप्रलम्भ है ।[1] इस प्रकार धनञ्जय,[2] शारदातनय[3] तथा रूपगोस्वामी[4] ने भी इसको शापज नामक प्रवासमूलक विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर लिया है । उनके अनुसार किसी कार्य, आवेग तथा शाप वश जब नायक अथवा नायिका को भिन्न देश, स्वरूप तथा परिस्थिति में रहना पड़ता है तब प्रवास विप्रयोग होता है । उससे पृथक् शृङ्गार रस का

१- कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

दश०रू०, ४।६७ (अवलोक)

२- स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापज: सन्निधावपि ।

वही, ४।६६

३- प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वत: ।
सम्भ्रमादपि तत्रैव बुद्धिपूर्वस्त्रिधा मत: ॥

भा०प्र०, पृ०८६

४- पूर्वसङ्गतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभि: ।
व्यवधानं तु यत्प्राज्ञै: स प्रवास इतीर्यते ॥
तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते ।

उ०नी०श्रृ०भेद १३६,१४०

करुण-विप्रलम्भ नामक अन्य भेद नहीं माना जा सकता है।[1] किन्तु इस प्रसङ्ग में प्रवास-विप्रलम्भ मानना भी समीचीन नहीं प्रतीत होता है। प्रवास और करुण में परस्पर भेद है। प्रवास का अभिप्राय है— सशरीर देशान्तरगमन, तो करुण का अभिप्राय है— शरीर के बिना (केवल प्राणों का) देशान्तर-गमन।[2] महाश्वेता और पुण्डरीक के इस वृत्तान्त में पुण्डरीक का लोकान्तर गमन शरीर के बिना होने के कारण आकाशवाणी से पहले तक करुण रस माना जा सकता है, क्योंकि एक की मृत्यु हो जाने पर जहाँ दूसरा विलाप करता है वहाँ करुण ही हो सकता है, प्रवास-विप्रलम्भ नहीं। जब आलम्बन है ही नहीं तो शृङ्गार की सीमा ही नहीं हो सकती है। वहाँ तो शोक स्थायीभाव तथा करुण रस होगा;[3] किन्तु मरण के पश्चात् भी यदि दैवी शक्ति से मृत व्यक्ति पुनरुज्जीवित हो उठे तो वहाँ मिलन की आशा उत्पन्न हो जाने के कारण करुण-विप्रलम्भ मानना उचित होगा। उपर्युक्त उदाहरण में ऐसा ही स्थल है। इस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों में करुण से भिन्न करुण विप्रलम्भ नामक शृङ्गार रस का प्रभेद माना जाना ही उचित है। कादम्बरी के उपर्युक्त तथा सत्यवान् सावित्री जैसे अन्य प्रसङ्गों से यह स्पष्ट है कि करुण से भिन्न शृङ्गार रस का करुण-विप्रलम्भ नामक उपभेद अवश्य होता है। इसका अन्तर्भाव

१- विप्रलम्भं परं केचित्करुणाभिधमूचिरे।
स प्रवासविशेषत्वान्नेवात्र पृथगीरितः।

वही, पद्य १७७

२- शरीरेण देशान्तरगमने प्रवासः प्राणैर्देशान्तरगमने करुण इति।

र०सु०, २।२१६ वृत्ति

३- मृतेत्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेत्शोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः।।

द०रू०, ४।६७

न तो करुण रस में ही आता है और न ही इसके बिना विप्रलम्भ शृङ्गार के अभी भेदों की कल्पना की जा सकती है ।

इसी प्रकार कुछ अन्य प्रसङ्ग हैं जिनमें मृत्यु वास्तव में होती नहीं है, किन्तु परिस्थितिवश समझ ली जाती है करुण-विप्रलम्भ के ही क्षेत्र में आते हैं । जैसे— उत्तररामचरित में राम के आदेश से लक्ष्मण अन्तर्वत्नी सीता को वन में छोड़ आते हैं, किन्तु राम यह समझ बैठते हैं कि हिंस्र पशुओं द्वारा सीता का भक्षण कर लिया गया है[१] । प्रस्तुत उदाहरण में वस्तुतः सीता की मृत्यु नहीं हुई है । वह छाया रूप में विद्यमान है, किन्तु गङ्गा नदी के प्रभाव से राम उनको देख नहीं पाते हैं और समझते हैं कि हिंसक पशुओं के द्वारा सीता का वध कर डाला गया है । यहाँ पर राम और सीता का वियोग आत्यन्तिक (मृत्युजनित) नहीं है, राम केवल भ्रमवश इसे आत्यन्तिक समझ लेते हैं । कालान्तर में गङ्गा तथा वाल्मीकि आदि के आशीर्वाद से राम और सीता का मिलन हो जाता है और उनके आत्यन्तिक वियोग का कोई अवसर नहीं रह जाता है । अतः इसे करुण रस का स्थल न समझकर करुण-विप्रलम्भ का ही स्थल माना जाना चाहिये ।

भवभूति ने भी उत्तररामचरित में राम के माध्यम से करुण तथा करुण-विप्रलम्भ के अन्तर को स्पष्ट किया है—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै-
र्विमर्दैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुतरसः ।

१- अस्तिकायनहरदृग्विलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः ।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्यादिभिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ।।
उत्तरा०च०, ३।२८

वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभू-
त्कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः ।।[1]

सीता का वह पहला वियोग (सीताहरण) रावण आदि शत्रुओं के विनाशपर्यन्त रहने वाला था । अत एव वह सावधिक था । उसमें राम और सीता के पुनर्मिलन की आशा थी । अतः वह विप्रलम्भ शृङ्गार था; किन्तु सीता का यह महावियोग (सीता-परित्याग) उपाय के अभाव के कारण चुपचाप सहने योग्य है, अवधिशून्य है तथा यावज्जीवन रहने वाला है, अतः करुण-रस-विधायक है ।

कुछ आचार्यों का अभिप्राय यह है कि कादम्बरी के पूर्वोक्त प्रसङ्ग में न तो करुण विप्रलम्भ की सम्भावना है और न ही प्रवास विप्रलम्भ की । यहाँ इन दोनों से पृथक् एक अन्य ही रस है, क्योंकि मरण दशा के प्रतिपादन का वैशिष्ट्य एक और विप्रलम्भ प्रकार की सम्भावना करा रहा है ।[2] यदि प्रत्युज्जीवनाकाङ्क्षा के कारण मरण आपेक्षित हो (अर्थात् उसमें पुनर्मिलन की आशा हो) तो वह वियोग से उत्पन्न साधारण दुःख कहा जायेगा ।[3]

भोजराज ने विप्रलम्भ शृङ्गार की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं— पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण ।[4] उन्होंने विप्रलम्भ शब्द की व्युत्पत्ति

१- उ०रा०च०, ३।४४

२- तदन्ये मरणरूपविशेषसम्भवात्तद्भिन्नमेव इति मन्यन्ते ।
नाट्यद०, ३।२०६ (वृत्ति)

३- मरणं यदि सापेक्षं प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया ।
तद्वर्ण्यते वियोगोत्थदुःखसाधारणात्मकम् ।।
भा०प्र०, पृ० ८७

४- पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः ।
पुरुषास्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते ।।
सर०कं०, ५।४६

के आधार पर उनके पुनः चार उपभेद कर दिये हैं। वञ्चनार्थक प्र पूर्वक लम्भ् धातु में वि उपसर्ग के योग से 'विप्रलम्भ' बनता है। भोजराज ने 'वि' उपसर्ग के चार अर्थों को स्वीकार किया है — विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध तथा विनिषिद्ध।[1] ये चारों उपसर्गार्थ क्रमशः पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण-विप्रलम्भ के द्योतक हैं।[2] उनके अनुसार लज्जा, भयादि के कारण पूर्वराग में वञ्चना के विविध प्रकार हुआ करते हैं। मान की अवस्था में मानिनी का हृदय ईर्ष्याकुल रहता है, अतः उसका सभी व्यवहार नायक के विरुद्ध रहने के कारण वहाँ वञ्चना रहती है। प्रवासकाल में अवधि के दीर्घ अन्तराल के कारण उत्कण्ठा अत्यन्त बढ़ जाती है; अतः वहाँ पर व्याविद्ध (विषम) रूप वञ्चना है। करुण-विप्रलम्भ में परिस्थितियों के कारण नायक-नायिका के मिलन का पूर्ण निषेध हो जाता है, अतः यहाँ पर विनिषिद्ध रूप वञ्चना हुआ करती है। उदाहरण के लिये —

> अयं ते रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना
> तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
> जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
> रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्॥[3]

१- प्रलम्भेत्यत्र यदि वा वञ्चनामात्रवाचिनि।
विना समासे चतुरश्चतुरोऽर्थान् प्रयुञ्जते॥
विविधस्य विरुद्धस्य व्याविद्धस्य क्रमेण सः।
विनिषिद्धस्य पूर्वानुरागादिषु विभज्यते॥
वही, ५।६३,६४

२- पूर्वरागे विविधं वञ्चनं व्रीडितादिभिः।
माने विरुद्धं तत्प्राहुः पुनरीर्ष्यायितादिभिः॥
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात्प्रवासे तत्प्रतीयते।
विनिषिद्धन्तु करुणः करुणात्मेन गीयते॥
वही, ५।६५,६६

३- उ०रा०च०, १।२८

यहाँ नायक (राम) और नायिका (सीता) दोनों जीवित हैं, तथापि मारीच ने स्वर्ण मृग का रूप धारण करके राम का अपहरण कर लिया है। परिणामस्वरूप सीता को अकेली देखकर रावण उसका अपहरण कर लेता है। सीता के वियोग में राम विलाप करते हुए वन में इधर-उधर भटक रहे हैं। उनके इस करुण क्रन्दन को सुनकर पत्थर भी पिघल उठते हैं और वज्र का भी हृदय विदीर्ण होने लगता है।

प्रस्तुत वर्णन में राम और सीता का वियोग कपट-वेषधारी मारीच के द्वारा करा दिया गया है। उसके प्रभाव से यहाँ उन दोनों के परस्पर मिलन-सुख का अन्यथा प्रतिषेध हो गया है।

भोजराज ने इसी प्रकार विप्रलम्भ के इन भेदों के चार प्रकृत्यर्थों की भी व्याख्या की है।[१] उनके अनुसार पूर्वराग में नायिका के हावभाव द्वारा पहले तो आलिङ्गन आदि की आशा दिलाई जाती है, किन्तु लज्जा आदि अनेक बाधाओं के उपस्थित हो जाने के कारण उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है। इसे ही 'अदान' कहा जाता है, क्योंकि पहले जो आशा दिलाई जाती है वह अपूर्ण (अदत्त) ही रह जाती है। विसंवादन का अभिप्राय है विरुद्धाचरण। यह परिस्थिति प्रायः मान की अवस्था में उत्पन्न होती

१- प्रतिज्ञातो हि पूर्वानुरागे व्रीडितादिभिः।
अभीष्टालिङ्गनादीनामदानं ह्रीभयादिभिः॥
माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते॥
अयथावत् प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभिः॥
प्रवासे कालहरणं व्यतिक्रमेणां प्रतीयते।
प्रोष्यागतैर्व्यहेतानि कान्ताः कान्तेषु कुर्वते॥
प्रत्यादानं पुनस्तेषां करुणे को न मन्यते।
स्वयं दत्तानि हि विधिस्तानि तत्राकर्षति॥

स०कं०, ५।५६-६२

है । नायक-नायिका के मिलन-काल में जब नायिका को नायक के गोत्रस्खलन आदि अपराधों का स्मरण हो आता है तब वह नायक के अनुकूल आचरण के स्थान पर उसके प्रतिकूल आचरण करने लगती है, जिससे मिलनसुख में बाधा उपस्थित हो जाती है । अतः इसे विसंवाद कहा जाता है । कालहरण का अभिप्राय है— कालातिपात अथवा कालप्रक्षेप । यह अवस्था प्रवासकाल में उत्पन्न होती है, क्योंकि प्रवास में देश और काल की दूरी के कारण संयोग-सुख सुलभ नहीं हो पाता है । प्रत्यादान का अभिप्राय है— देकर पुनः वापस ले लेना । यह अवस्था करुण-विप्रलम्भ में रहती है । इसमें जिस दैव-योग से नायक-नायिका का मिलन सम्भव हुआ था उसी दैव के प्रतिकूल हो जाने पर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है जिससे नायक-नायिका का संयोग असम्भव प्रतीत होने लगता है । इस प्रकार दैव द्वारा उनका संयोग-सुख पुनः अपहृत कर लिया जाता है । उदाहरणार्थ—

> तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं
> मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
> अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं
> कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥[१]

उपर्युक्त पद्य में कामदेव की मृत्यु से प्राप्त आघात के कारण रति अकस्मात् मूर्छित हो जाती है । (यहाँ) दैव ने रति का उपकार ही किया है, क्योंकि उसे पति के महानाश का ज्ञान ही नहीं रह गया है । तत्काल मूर्छित हो जाने के कारण रति को कामदेव की मृत्यु का ज्ञान नहीं हो पाता है । यहाँ काम और रति को जो संयोग सुख प्राप्त हुआ था (भगवान् शङ्कर के द्वारा कामदेव को भस्म कर दिये जाने से) उसका पुनर्ग्रहण (प्रत्यादान) कर लिया गया है, अतः यहाँ प्रत्यादान रूप विप्रलम्भ है, करुण नहीं ।

१- कु०सं०, ४।७३

इस प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार अपनी परिस्थितियों के कारण अत्यन्त जटिल हो जाता है। विप्रलम्भ के इन सभी भेदों में अत्यधिक सूक्ष्म अन्तर होता है, जिसके कारण प्रतिशुत्यादान आदि पूर्वोक्त भेद प्रकृत्यर्थक तथा विविध, विरुद्ध आदि उपसर्गार्थक होकर अपने-अपने वैशिष्ट्य का परित्याग करते हुए एक दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर उसी में परिणत होते हुए से प्रतीत होने लगते हैं।[१]

भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश में करुण-विप्रलम्भ और शोक (स्थायीमूलक करुण) में हेतु, फल, विषय तथा स्वरूप का भेद भी निर्धारित किया है। उनके अनुसार करुण विप्रलम्भ का एक मात्र हेतु होता है रति, जबकि करुण के प्रीति, दया आदि अनेक हेतु होते हैं। करुण विप्रलम्भ की परिणति पुनः समागम में होती है, किन्तु करुण की परिणति कभी पुनः समागम में हो ही नहीं सकती है। करुण-विप्रलम्भ स्त्री और पुरुष में ही हो सकता है, जबकि करुण में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। करुण-विप्रलम्भ में (मिलन की) प्रत्याशा बनी रहती है, जबकि करुण में इसका सर्वथा अभाव रहा करता है।[२]

१- ननु च प्रतिशुत्यादाना(दयश्च)त्वारोऽपि प्रकृत्यर्थाः, विविधमित्याद-यश्चत्वारोऽपि चोपसर्गार्थाः प्रथमानुरागादिषु चतुर्ष्वपि व्यवस्था-सम्भवाभ्यामुपलभ्यन्ते। तत्कथम् ? उच्यते— प्रतिशुत्यादानमित्यादयो यथायथमुपसर्गा अविशिष्टाः प्रथमानुरागादिषु व्यवतिष्ठन्त इति ॥

शृ०प्र०, २४।६ गद्य

२- रत्येकहेतुः करुणः — प्रीतिदयाद्यनेकहेतुः शोकः
पुनःसङ्गमफलः करुणः — अपुनःसङ्गमफलः शोकः
स्त्रीपुंसविषयः करुणः — अस्त्रीपुंसविषयः शोकः
सप्रत्याशारूपः करुणः — निष्प्रत्याशारूपः शोकः

B.S.P., पृ० ६७

अपनी करुण-विप्रलम्भ विषयक मान्यता के उपसंहारस्वरूप भोज की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

तदेतदाजन्मपात्मजन्मन: निरीतिशृङ्गाररसस्य जीवितम् ।
परा च काष्ठा प्रणयस्य जीविता प्रियेण यत्प्रेत्य पुन: समागम: ।।
भेदा: पृथक्पृथगमी प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मनि विप्रलम्भे ।
उक्ता यथामति मयान्यदयोऽभियुक्तै: युक्त्यानयैव हि वक्ष्यितव्यतमूहनीय: ।[1]

निष्कर्ष यह है कि करुण-विप्रलम्भ करुण के अत्यन्त निकट है तथा कभी-कभी तो इन दोनों में अभेद का आभास भी होने लगता है । सम्भवत: विप्रलम्भ में शोक की प्रधानता को ध्यान में रख कर ही हेमचन्द्र ने करुण-विप्रलम्भ को करुण रस में अन्तर्भुक्त कर लिया है ।[2] मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में करुण-विप्रलम्भ का विवेचन नहीं किया है । उन्होंने शृङ्गार के दो भेद किये हैं— सम्भोग तथा विप्रलम्भ । विप्रलम्भ के उन्होंने पुन: पांच भेद माने हैं— अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप ।[3] इस प्रकार इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट को करुण-विप्रलम्भ मान्य नहीं था । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट-सम्मत विप्रलम्भ के इन्हीं पांच भेदों को स्वीकार किया है । इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज को भी करुण-विप्रलम्भ

१- वही, पृ० ६१

२- करुणविप्रलम्भस्तु करुण एव ।

काव्यानु०, पृ०१११

३- तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । x x x
अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविध: ।

का०प्र०, ४।२९ वृत्ति

नामक भेद स्वीकार्य नहीं था ।[1] इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने यद्यपि करुण-विप्रलम्भ नामक शृङ्गार के भेद का नामोल्लेख नहीं किया है तथापि उन्होंने प्रवास और शापज नामक विप्रलम्भ शृङ्गार के पांच भेदों को अवश्य स्वीकार किया है । प्रवास नामक विप्रलम्भ वहां होता है जहां नायक नायिका में से एक का देशान्तर-गमन हो जाता है और शापज विप्रलम्भ वहां होता है जहां पर किसी शाप के कारण प्रेमीयुगल या तो एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, जिसका उदाहरण कालिदास के मेघदूत का यक्ष है और या तो कभी-कभी शापवश नायक नायिका में से कोई एक दूसरे को विस्मृत कर देता है, जिसका उदाहरण कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्व के शाप से दुष्यन्त के मन में उत्पन्न शकुन्तला की विस्मृति है । यह दोनों ही परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमें मिलन की आशा क्षीण हो जाती है और प्रेमीयुगल एक दूसरे के लिये व्यथित हो उठते हैं किन्तु कालान्तर में परिस्थितिवश अथवा शाप से मुक्त हो जाने पर उन दोनों का पुन: मिलन हो जाता है । इस प्रकार यह करुण का विषय न होकर अन्य आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत आ जाता है । इससे यह कहा जा सकता है कि मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा मान्य प्रवासहेतुक और शापज विप्रलम्भ के अन्तर्गत करुण-विप्रलम्भ का समावेश हो जाता है ।

भरत आदि आचार्यों ने विप्रलम्भ शृङ्गार की दश दशाओं का वर्णन किया है । भरत ने इन दशाओं का परिगणन सामान्य अभिनय के प्रसङ्ग में

१- इमं च पञ्चविधं प्राञ्च: प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति । ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भादस्माभि: प्रपञ्चिता: ।

र०गं०, आनन १, पृ० १७३

किया है[1]। रुद्रट ने भी विप्रलम्भ शृङ्गार की दश दशाओं में मरण को स्थान दिया है[2]। नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भी (विप्रलम्भ) शृङ्गार में अभिलाषा से लेकर मरण पर्यन्त दश दशाओं का वर्णन किया है[3]। इसी प्रकार करुण रस में भी इष्ट का नाश होना अनिवार्य है अर्थात् इष्ट की मृत्यु वहाँ भी अपेक्षित है। यहाँ पर यह शङ्का की जा सकती है कि यदि मृत्यु करुण-विप्रलम्भ और करुण दोनों में हुआ करती है, तो फिर उन दोनों की मृत्यु में मूल भेद क्या है।

इस शङ्का का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि विप्रलम्भ शृङ्गार आशामय होने के कारण सापेक्ष होता है, जबकि करुण रस निराशा-मय होने के कारण निरपेक्ष होता है[4]। विप्रलम्भ में दुःख की अनुभूति होने पर भी पुनर्मिलन की आशा समाप्त नहीं होती है। इसमें मिलन की समुत्सुकता

१- पूर्वमेवाभिहितो सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः। ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः।

ना०शा०, अध्याय ६, पृ०३०८-३०६

२- आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम्।
तदनु च गुणसङ्कीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च॥
उन्मादस्तदनु व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम्।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः॥

का०(रु०), १४।४,५

३- शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शितः।

ना०शा०(अभि०भा०), भाग १, पृ०३०

४- करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।

ना०शा० ६, पृ० ३०६

बराबर बनी ही रहती है । कालिदास ने मेघदूत में इसी भाव को व्यक्त किया है कि (अपने प्रियतम के) वियोग में भी स्त्रियों के कुसुम-कोमल,प्रणयी और (विरह व्यथा के कारण) शीघ्र ही नाश की ओर उन्मुख हृदय को (प्रिय-समागम की) आशा ही जीवन-पाश में बांधे रहती है।[१] इसके विपरीत करुण रस में आलम्बन के नष्ट हो जाने से उसके पुनर्मिलन की आशा पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है । इसलिये आश्रय के जीवन का दृष्टिकोण नितान्त निराशामय बन जाता है । हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में विप्रलम्भ और करुण के भेद का निरूपण अत्यन्त सूक्ष्मता से किया है । उनके अनुसार जहाँ पर सम्भोगेच्छा का नाश नहीं होता है वहाँ विप्रलम्भ श्रृंगार कहा जाता है,किन्तु जहाँ सम्भोग की नितान्त निराशा उत्पन्न हो जाती है वहाँ करुण का क्षेत्र बन जाता है।[२]

करुण और करुण-विप्रलम्भ में होने वाली मृत्यु के अन्तर की ओर कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में संकेत किया है । उनके अनुसार करुण-विप्रलम्भ में पहले तो रसविच्छेद के कारण मृत्यु का वर्णन ही नहीं होना चाहिये । यदि उसका वर्णन आवश्यक ही हो तो उसे दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो (वास्तविक मृत्यु का नहीं, अपितु) मृतप्राय अवस्था का वर्णन होना चाहिये और दूसरे उसका वर्णन अभिलाषा के रूप में ही होना चाहिए (उसके व्यवहार रूप में परिणति का नहीं)। परिस्थितिवश जहाँ

१- आशाबन्ध: कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्य:पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।।

मेघदू०(पूर्वमेघ),पद्य ६

२- सम्भोगविप्रलम्भयोस्तु श्रृङ्गारशब्दो ग्रामेकदेशे ग्रामशब्दवदुपचारात्, तथा हि विप्रलम्भेऽनवच्छिन्न एव सम्भोगमनोरथ:, निराशत्वे तु करुण एव स्यात् ।

काव्यानु०,पृ० १०८

वास्तविक मृत्यु का वर्णन करना ही पड़े वहाँ शीघ्र ही मृत व्यक्ति के पुन-रुज्जीवन का वर्णन कर देना चाहिये।[1]

साहित्यदर्पणकार के पुनरुज्जीवन विषयक इस नियम के मूल में आनन्दवर्धन का यह कथन ही प्रतीत होता है कि शृङ्गार में मरण के पश्चात् शीघ्र ही पुनर्मिलन की सम्भावना उत्पन्न हो जाने पर मरण का उपनिबन्धन अधिक दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है। मृत्यु के पश्चात् पुनः प्रत्यापत्ति का वर्णन इतनी अल्प अवधि में होना चाहिये जिससे सहृदयों की बुद्धि में रति का विच्छेद न हो सके और परिणामस्वरूप उनके हृदय में शृङ्गार की प्रतीति भी व्यवच्छिन्न न हो सके।[2]

महाकवि कालिदास ने इन्दुमती के वियोग से उत्पन्न अज के करुण को विप्रलम्भ में परिणत करने के लिये एक निराली ही कल्पना कर डाली है। उनका कथन है कि—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।

१- रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥
सा०द०, ३।१६३,१६४

२- शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी । दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम् ।
ध्वन्या०, ३।२० वृत्ति

पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।।[१]

इन्दुमती की मृत्यु से विरह-व्यथित अज ने रो-रो कर गङ्गा और सरयू के सङ्गम-स्थल पर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया । तीर्थस्थल में प्राणत्याग करने के फलस्वरूप उनकी गणना अमरों में होने लगी । इन्दुमती मृत्यु के कारण पहले ही स्वर्ग में पहुँच चुकी थी । अमरत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् अज (स्वर्गनिवासिनी होने के कारण) पहले से भी अधिक रमणीय इन्दुमती के साथ नन्दनवन के लीलागारों में विहरण करने लगे । इस प्रकार इन्दुमती की मृत्यु के फलस्वरूप रति का जो विच्छेद हो रहा था, उसे कालिदास ने अज के साथ देहान्तर से पुनर्मिलन का वर्णन करके दूर कर दिया है । इससे यहाँ शृङ्गार रस की अनुभूति अविच्छिन्न रूप से हो रही है ।

प्रस्तुत पद्य में अज की मृत्यु उनके प्रेयसी-सम्मिलन और सम्भोग शृङ्गार में हेतु होने से रति का अङ्ग तथा शृङ्गार का पोषक ही है । यहाँ कालिदास ने अभीष्ट प्रकरणगत शृङ्गार की अविच्छिन्न प्रतीति के लिये मरण के स्थल पर देहन्यास शब्द का प्रयोग किया है, अन्यथा मरण पदबन्ध के प्रयोग से शोकात्मक करुण रस की प्रतीति होने लगती ।

यहाँ पर करुण और करुण-विप्रलम्भ के भेदक तत्त्वों पर भी विचार कर लेना असङ्गत न होगा । इन दोनों में आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों में समानता हुआ करती है, चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भाव भी दोनों में रहा करते हैं, तथापि इन दोनों में भेदकतत्त्व है— उनके स्थायी भाव की भिन्नता। करुण विप्रलम्भ का स्थायीभाव रति है, जब कि करुण का स्थायी भाव है शोक । शार्ङ्गदेव ने सङ्गीत-रत्नाकर में इन दोनों रसों का भेद-निरूपण

१- रघु० ८।९५

करते हुए बताया है कि (करुण-विप्रलम्भात्मक) विरह करुण से भिन्न माना जाता है। करुण-विप्रलम्भात्मक विरह में चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों में प्रिय-समागम की आशा रहती तो अवश्य है, किन्तु वह कुछ शिथिल पड़ जाती है, जबकि करुण विषयक चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव प्रिय-समागम विषयक नैराश्य से उत्पन्न होते हैं।[1]

आश्रय की प्रकृति के भेद के आधार पर भी करुण और विप्रलम्भ में परस्पर भेद रहता है। इस तथ्य को अभिनवगुप्त ने भलीभाँति स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अधमप्रकृति के मनुष्य में विप्रलम्भ हो ही नहीं सकता है, क्योंकि उसमें उसके स्थायी भाव (रति) का सर्वथा अभाव रहता है और इस अभाव का कारण है— विभाव की सामग्री (प्रेयसी इत्यादि) का अभाव। इसका कारण सम्भवतः यह है कि अधम प्रकृति के व्यक्ति में किसी स्त्री के प्रति जो आसक्ति रहती है वह रति स्थायी भाव मूलक शृङ्गार नहीं कही जा सकती है, क्योंकि रति को उभयनिष्ठ होना आवश्यक है। यह अवश्य है कि उस अधम प्रकृति के मनुष्य में शोक स्थायीभावमूलक करुण अवश्य रहा करता है। उत्तम प्रकृति के आश्रय में शृङ्गार और करुण दोनों हुआ करते हैं किन्तु उनमें भेद है — स्थायीभाव का। शृङ्गार का स्थायीभाव रति है, तो करुण का स्थायीभाव है शोक। यह (शोक) बन्धु आदि इष्ट जन के नाश से उत्पन्न होता है जिससे इसमें मिलन की आशा न रह जाने के कारण इसे निरपेक्ष कहा जाता है। दूसरी और रति भाव में बन्धुजन आदि (के मिलन) की जो अपेक्षा बनी रहती है वास्तव में वही आश्रय के जीवन का

१- आशाबन्धश्लथीभूतचिन्तादिव्यभिचारिकः ।।
विरहः करुणाद्भिन्नः प्रियनैराश्यकारितात् ।
कौर०, ७।१४१०-११

अवलम्ब हुआ करती है।[१]

भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश के बत्तीसवें प्रकाश में करुण-विप्रलम्भ के लक्षण और उसके स्वरूप का प्रतिपादन अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से किया है। उनके अनुसार करुण-विप्रलम्भ (करुणाकर होते हुए भी) प्रेमियों का मनोरञ्जन करता रहता है। अपनी इस उक्ति की पुष्टि करने के लिये उन्होंने अनेक दृष्टान्त दिये हैं। उनके अनुसार विप्रलम्भ में प्रेमियों को उसी प्रकार की आनन्दानुभूति हुआ करती है जिस प्रकार अत्यन्त असाध्यकार्य में भी मिथ्या प्रयास करने में धूर्तों को, अलौकिक आनन्द हेतु स्वाङ्ग परित्याग में भी व्रत-वादियों को, वेश को दूषित कर देने वाले धूलि और कीचड़ की क्रीडा के विनोद में भी बालकों को, बीभत्स और भीषण होने पर भी समराङ्गण विहार में शूरवीर बालकों को, अत्यन्त ग्राम्य होने पर भी प्रिय मित्रों के नर्मनिर्मर्त्सन में ठिठोली करने वालों को, कठोर होने पर भी कुपित कामिनियों के पादप्रहार में विलासियों को, मलिन होते हुए भी अन्धकार के समान अभिसारिकाओं के वेश में भी चौर्यरति-कामुकों को और दीनता का प्रदर्शन करने पर भी विलासिनियों के किलकिञ्चित आदि हाव-भाव में नागरिकों को आनन्दानुभूति हुआ करती है।[२]

१- अथप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः। स्थाय्यभावात्। तदभावो विभावसामग्रीविकल्यादिति। तत्र तावत् करुणः पृथक् तत्प्रतिष्ठः। एवमुत्प्रकृतावपि रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी। अत एवाह 'निर्वेदः' बन्धुजनादिविषये वाऽपेक्षा रताविवालम्बनम्।

नाट्यशा०(अभि०भा०) भाग १, पृ० ३१७

२- कः पुनरयं करुणो नाम? यत्रास्मिन् मिथ्याभिनिवेश इव दुर्वाराकारेऽपि धूर्तानाम्, स्वाङ्गपरित्याग इवालौकिकेऽपि व्रतविदाम्, रजः-कर्दमक्रीडाविनोद इव वेशदूषकेऽपि पौरपौगण्डानाम्, महाहवमही विहार

(क्रमशः——)

भोज ने करुण-विप्रलम्भ के अस्तित्व को स्वीकार तो किया ही है, उन्होंने इसके बारह भेदों की भी कल्पना की है । इन भेदों के आधार हैं आश्रय-भेद, जो इस प्रकार है— देवाश्रय, पौरुषाश्रय, देशाश्रय, कालाश्रय, स्वरूपाश्रय, परिमाणाश्रय, अनुरागाश्रय, सम्भोगाश्रय, विप्रलम्भाश्रय, नायकाश्रय और नायिकाश्रय ।[१]

भोज ने करुण-विप्रलम्भ के अनुभावों की सहृदया अच्छी बतलाई है, जो पांच विभिन्न अवस्थाओं में विभक्त है । प्रत्येक अवस्था में सोलह-सोलह अनुभाव माने गये हैं । ये पांच अवस्थाएँ रूपक की मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा निर्वहण नामक पांच सन्धियां ही हैं ।[२]

पूर्व पृष्ठों में करुण और करुण-विप्रलम्भ रसों के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर शृङ्गार रस के भेद के रूप में करुण-विप्रलम्भ नामक भेद को स्वीकार करना ही उचित है । शृङ्गार का भेद होने के कारण करुण-विप्रलम्भ रतिस्थायीमूलक है, अत एव शोकस्थायीमूलक करुण से इसकी सत्ता सर्वथा पृथक् है ।

(पिछले पृष्ठ का शेष - - -)

इव बीभत्सभीषणेऽपि सुरताहसिकानाम्, प्रियसुहृन्मर्मनिर्भर्त्सन इव अतिग्राम्येऽपि पारिहासिकानाम्, कुपितकामिनीपार्ष्णिप्रहार इव(अ)शृङ्गारेऽपि रागिणाम्, तिमिराभिसारिकावेश इव मलीमसेऽपि चौर्यरतरुचीनाम्, विलासिनीकिलकिञ्चितप्रपञ्च इव दीनप्रदर्शनेऽपि नागरिकाणाम् अतीव अनुरज्यते मनः प्रेमसामयिकानाम् । B.S.P. पृ० ६०

१- वही।

२- वही।

अध्याय ५

करुणा रस—आस्वाद

करुण रस — आस्वाद

रस आनन्दरूप है । रसों में करुण की गणना आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद से ही होती आ रही है । आदिकवि वाल्मीकि को ही करुणास्वाद का प्रवर्तक माना जा सकता है । महाकवि वाल्मीकि ने स्वयं कहा है—

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ: श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक:[१]

आनन्दवर्धन ने भी इसी धारणा की पुष्टि की है कि क्रौञ्च युगल के वियोग के दु:खद दृश्य से उत्पन्न महाकवि वाल्मीकि का शोक ही उनके काव्य का कारण बना ।[२] इस प्रकार रामायण का काव्यार्थ करुण ही है । इसीलिये वह (करुण रस) आनन्दस्वरूप है ।

संस्कृत साहित्य में करुण की रसरूपता अथवा आह्लादकता के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है । वामन,[३] रुद्रभट्ट[४]

१- रघु०, १४।७०

२- काव्यस्यात्मा स एवार्थ: तथा चादिकवे: पुरा ।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।
   — ध्वन्या०, १।५

३- करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लव: सुखदु:खयो: ।
   यथानुभवत: सिद्धस्तथैवौज:प्रसादयो: ।। — का० सू० ३।१।८

४- करुणादीनामप्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदु:खात्मकतया तदुभयलक्षणात्वेन उपपद्यते । अत एव तदुभयजनकत्वम् ।
   — द्रष्टव्य — N.R., पृ०१५५

तथा भोज[1] ने रस को सुखदु:खात्मक माना है । इन उक्तियों से यह स्पष्ट नहीं होता है कि ये आचार्य सभी रसों को सुखात्मक तथा दु:खात्मक स्वीकार करते हैं अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दु:खात्मक, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ये श्रृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे तथा बीभत्स, करुण आदि को दु:खात्मक; क्योंकि यदि स्वभावत: बीभत्स और करुण को सुखात्मक नहीं माना जा सकता है तो श्रृंगार, वीर और हास्य जैसे रसों को दु:खात्मक कहना भी उचित न होगा । अत: कुछ रसों को शुद्ध रूप से सुखात्मक अवश्य मानना पड़ेगा । इस दृष्टि से बीभत्स और करुण को शुद्ध सुख रूप नहीं माना जा सकता है । इस प्रकार वामन के अनुसार करुण रस का आस्वाद मिश्रित होता है, जिसमें सुखात्मकता तथा दु:खात्मकता दोनों विद्यमान रहती हैं । मधुसूदन सरस्वती ने भी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं । उनका अभिप्राय है कि सभी रसों में निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है परन्तु यह अनुभव सभी रसों में समान नहीं होता है। इसका एक मात्र कारण रसानुकूल सत्त्व, रजस् तथा तमस् का पारस्परिक सन्तुलन है । रस के स्वरूप के आधार पर उनमें सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का अंश भिन्न-भिन्न अनुपातों में विद्यमान रहता है। फलत: उभयात्मक होते हुए भी रसों में से कुछ सुखप्रधान तथा कुछ दु:खप्रधान होते हैं ।[2]

करुण रस को दु:खात्मक स्वीकार करने वालों में प्रमुख नाम रामचन्द्र गुणचन्द्र का है। उन्होंने सुखदु:खात्मक भेद से रस के दो भेद किये

१- रसा हि सुखदु:खावस्थारूपा: । शृ०प्र०, ११, पृ० ४३७

२- सत्त्वगुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभव: । द्रष्टव्य—भ.र. , पृ० १५६

है। उनके अनुसार इष्टविभावादि के द्वारा प्रकाशित होने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस सुखप्रधान हैं तथा करुण, बीभत्स, रौद्र और भयानक अनिष्ट विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण दुःखात्मक हैं[1]। रस को अलौकिक मान लेने पर तो करुण आदि सभी रस आनन्दरूप ही सिद्ध होते हैं, किन्तु नाट्यदर्पण के रचयिताओं को इस मत पर आपत्ति है। उनके अनुसार रस को केवल सुखात्मक मानना प्रतीति-विरुद्ध है[2]। अपने मत की प्रस्थापना में उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। अतः उसके सुखात्मक होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भयानक, रौद्र, बीभत्स और करुण रसों से सामाजिकों में उद्वेग उत्पन्न होते देखा जाता है। इसलिये ये रस सहृदय को दुःखानुभूति कराकर अनिर्वचनीय क्लेश दशा को प्राप्त करा देते हैं। यदि ये सभी रस सुखात्मक ही होते तो उनमें सामाजिकों की उद्विग्नता का कारण ही नहीं होता[3]। इसके अतिरिक्त काव्य और नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है[4]।

१- तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।

- ना०द०, पृ० १५६

२- यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत् प्रतीतिबाधितम्।
- वही।

३- भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अत एव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते। - वही।

४- कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।
- वही।

राम सीता आदि अनुकार्यों की करुण दशाएं निस्सन्देह दुःखात्मक होती हैं, अतः कवियों को भी उन दशाओं का वर्णन तद्रूप में ही प्रस्तुत करना अभीष्ट रहता है। इस स्थिति में उनके अनुकरण को सुखात्मक माना ही नहीं जा सकता है, अन्यथा अनुकरण वास्तविक न होगा।[१] करुण रस को दुःखात्मक सिद्ध करने में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अनेक सम्भव विरोधी तर्कों का सतर्कपूर्वक खण्डन किया है। रस को सुखात्मक मानने वाले यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार लोक में विरही तथा शोकाकुल जनों को कारुणिक प्रसंगों के वर्णन से सुख-सान्त्वना मिलती है, उसी प्रकार काव्य और नाटकगत करुण आदि रस से परिपूर्ण काव्य को पढ़ने अथवा नाटक को देखने से भी आनन्दानुभूति होती है, किन्तु नाट्यदर्पण के रचयिताओं को यह मत स्वीकार्य नहीं था। उनकी मान्यता है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में भी दुःखी जनों को जो सुखानुभूति होती है वह मूलतः दुःखरूप ही है। केवल उनकी संवेदनशीलता के कारण उन्हें इसमें सुखानुभूति होने लगती है। यदि यह मान लिया जाय कि दुःखी व्यक्ति दुःखपूर्ण बातों से आनन्दानुभूति करता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसे सुखपूर्ण बातों से दुःख की अनुभूति होनी चाहिए। इस प्रकार श्रृंगार, हास्य आदि हर्षमूलक रसों से दुःखानुभूति होने लगेगी, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है, क्योंकि श्रृंगार, हास्य इत्यादि रस सर्वथा सुखात्मक और आनन्दप्रद है। इस प्रकार रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार करुण आदि

१- तथानुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानि(नु) कार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युः न सम्यगनुकरणं स्यात्, विपरीतत्वेन भासनादिति।

वही।

रस दुःखात्मक ही है।[1] सहृदयों को इन दुःखात्मक रसों से यदि परमानन्द प्राप्त भी होता है, तो वह करुण आदि रसों के सुखात्मक स्वरूप के कारण नहीं, अपितु कवि के मार्मिक चित्रण तथा नट के हृदयस्पर्शी अभिनय के चमत्कार के कारण ही प्राप्त होता है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने सभी तर्कों को लौकिक व्यवहार तथा अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है, जबकि लोक जीवन तथा काव्य-जगत् में किसी भी दृष्टि से कोई साम्य नहीं है। लौकिक जीवन सुख-दुखात्मक होता है, किन्तु कविकृति तो ह्लादैकमयी होती है। लौकिक भाव एक ही देश, काल तथा व्यक्ति तक सीमित रहता है, किन्तु काव्यगत भाव देश, काल तथा व्यक्ति की सीमा से परे साधारणीकृत भाव होते हैं। लौकिक जीवन का अनुभवकर्ता एक साधारण मनुष्य होता है, किन्तु काव्य का पाठक अथवा नाटक का दर्शक सहृदय सामाजिक होता है। इस प्रकार काव्य-जगत् के सभी उपादान अलौकिक होते हैं और इसी अलौकिकता के ही कारण काव्यात्मभूत रस तत्त्व भी अलौकिक आनन्दमय होता है। रस में किञ्चिन्मात्र भी दुःख का संस्पर्श

१- योऽपीष्टादिविनाशदुःखवती करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दुःखी हि दुःखितवार्तया सुखमभिमन्यते, प्रमोदवार्तया तु साम्यतामिति करुणादयो दुःखात्मान एवेति।

वही।

२- यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते।

वही।

नहीं होता है। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त आदि अधिकांश परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य रस का यही सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक तथा सर्वग्राह्य प्रतीत होता है।

यदि काव्यगत करुण रस लौकिक करुण की भाँति दु:खात्मक ही होता तो रामायण जैसे करुण रस प्रधान महाकाव्यों की रचना नहीं होनी चाहिये थी। यदि हुई भी थी तो उसमें सहृदय की प्रवृत्ति न होती, किन्तु बात इसके नितान्त विपरीत है। सहृदय अन्य काव्यों की अपेक्षा करुण काव्यों के प्रति अत्यधिक प्रवृत्त होते हैं तथा दशरथमरण, राम-वनगमन, सीताहरण आदि जैसे मार्मिक प्रसङ्गों को बार बार पढ़ना और सुनना चाहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि करुण रस प्रधान काव्य आनन्दानुभूति ही कराते हैं। अत: करुण रस आनन्दरूप होता है।

काव्यगत करुण आदि लौकिक करुण आदि से सर्वथा भिन्न होते हैं। ये रस दु:खात्मक होते हुए भी रसिकों को आनन्द की प्रतीति उसी प्रकार कराते हैं, जिस प्रकार सुरत के समय स्त्रियों के कुट्टमित, नख-क्षत, दन्तक्षतादि रसिकों को सुख दु:ख से मिश्रित आनन्द प्रदान करते हैं।[1]

१- ताडुश स्यायावानन्द: सुखदु:खात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगाव-स्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुण:, तथा ह्युत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तय:। यदि च लौकिककरुणवद्दु:खा-त्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, तत: करुणैकरसानां रामा-यणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। ... तस्माद्रसान्तर-वत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

द०रू०(अवलोक), ४।४४

यहाँ यह कहा जा सकता है कि करुणात्मक काव्य को पढ़कर सहृदय जन का अश्रुपात होता है। इससे उनके हृदय में दुःख का ही आविर्भाव प्रतीत होता है। अत एव करुण रस दुःखात्मक है; किन्तु रस की 'साधारणीकरण' प्रक्रिया के आधार पर यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता है। रसानुभूतिकाल में सहृदय वैयक्तिक सीमा को पार करके साधारणीकरण की अवस्था में पहुँच जाता है। अनुकार्य के दुःख सुख से सहृदय का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, अपितु हृदय-संवाद तथा करुण रस में चित्त की अत्यधिक द्रवणशीलता के कारण उसमें अनायास अश्रुपात होने लगता है।[1] आनन्दातिरेक में भी इसी प्रकार की चित्तद्रुति होती है तथा अत्यधिक आनन्दित होने पर अश्रुपात होने लगता है। अत एव चित्तभूमि की इसी द्रवणशीलता के आधार पर यह सिद्ध होता है कि करुण-रस-विषयक अश्रु आनन्दरूप होते हैं। इस प्रकार करुण रस में भी परम सुख की प्राप्ति होती है। इस विषय में केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। रामायण आदि करुण रस प्रधान काव्यों में सहृदय की पौनःपुन्येन प्रवृत्ति करुण रस की आनन्दात्मकता को ही सिद्ध करती है।[2]

१- अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ।

— सा०द०, ३।८

२- (क) करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखे न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥

— वही, ३।४५

(ख) अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुम्, कथं प्रवृत्तिः ।
× × × इष्टस्यापि वियोगादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेप-
नादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः ।

यहाँ यह शङ्का भी हो जाती है कि यदि करुण रस को सुखात्मक मान भी लिया जाय तो सीतावनवासादि रूप दुःख-प्रसङ्गों से सुख की प्रतीति कैसे हो जाती है, क्योंकि कारण-कार्य समानधर्मा होते हैं। इसका समाधान यह है कि लोक तथा काव्य-जगत् में महान् अन्तर है। लोक में सीतावनवासादि को दुःख का कारण माना जाता है। इनसे लोक में भले ही दुःख उत्पन्न हो, किन्तु जब यही काव्य में वर्णित हो जाते हैं तब ये लौकिक कारण न रहकर विभाव रूप में परिणत हो जाते हैं। अब वह दुःखात्मक लौकिक कारण नहीं रह जाते हैं, अपितु अलौकिक विभाव (साधारणीकृत रूप) हो जाते हैं और इन अलौकिक विभावों से सुख की ही प्रतीति सम्भव है।[१] अन्य प्रमाणों से होने वाले अनुभव की अपेक्षा काव्य रूप प्रमाण से होने वाले अनुभव में विलक्षण कमनीयता हुआ करती है। इस प्रकार शोक स्थायी भावात्मक करुण रस भी आनन्दस्वरूप ही है।[२]

यद्यपि नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रस को सुखदुःखात्मक मानकर उसके दो भेद कर दिये हैं और करुण रस को दुःखात्मक रस की कोटि में रखा है, तथापि उन्होंने एक स्थान पर सङ्केत रूप में करुण रस की सुखात्मकता को भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि कविगण रामादि के चरित को सुखदुःखात्मक रूप में ही चित्रित करते हैं, तथापि इन स्थलों पर

१- हेतुत्वं हर्षशोकादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः । - सा०द०, ३।६७

२- विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात् । अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।

- र०गं० १, पृ० १३६

दु:खास्वाद से सुखानुभूति उसी प्रकार हुआ करती है, जिस प्रकार पने की तीक्ष्णता माधुर्य आदि आस्वाद के साथ मधुर ही प्रतीत होती है।[१] जो लोग करुण रस को आनन्दात्मक नहीं मानते हैं, वे या तो सहृदय की कोटि में ही नहीं आते हैं अथवा वे रस के उपादानों में अलौकिक व्यञ्जना व्यापार के स्थान पर एक अन्य साधारण व्यापार मान लेते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। लोक के शोक से दु:ख होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह शोकादि भाव लौकिक स्तर पर होने के कारण रस उपाधि को नहीं धारण करते हैं। नाट्यशास्त्र की टीका में अभिनवगुप्त ने लोकस्वभाव को सुख-दु:ख-समन्वित ही माना है। उन्होंने शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा में यद्यपि शोक को सबसे अधिक दु:खात्मक स्वीकार किया है,[२] तथापि उन्होंने करुण रस को सर्वथा सुखमय तथा आह्लादस्वरूप माना है।[३]

१- कवयस्तु सुखदु:खात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्त: सुखदु:खात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दु:खास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति।

- ना०द०, पृ० १५६

२- इष्टजातिस्वभावोत्थविभवनाशज: प्राक्तनसुखस्मरणानुविद्ध: सर्वथैव दु:खरूप: शोक:।

- ना०शा० (अभि०भा०), भाग १, पृ० ४३

३- एवं चर्वणोचितशोकस्थायीभावात्मककरुणरससमुच्छलनस्वभावात् स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावो परशाब्दवैलक्षण्यकारक:।

- ध्वन्या०, (लोचन) १।५

शारदातनय को भी करुण आदि रसों में आनन्दानुभूति अभीष्ट है । उनके अनुसार यद्यपि यह संसार दु:ख आदि से कलुषित है, तथापि मनुष्य राग, विद्या और कला संज्ञक तीन तत्त्वों के द्वारा उसमें भोग की ही प्रतीति करता है । इस प्रसङ्ग में उन्होंने राग, विद्या और कला — इन तीनों तत्त्वों का परिचय भी दे दिया है । उनके अनुसार सुखत्वाभिमान ही राग है । राग के उपादान तत्त्व को विद्या कहा जाता है । इसी के द्वारा विद्वान् पुरुष के ज्ञान की अभिव्यञ्जना होती है तथा आत्मा को प्रदीप्त करने वाला हेतु कला कहा जाता है । इस प्रकार परम्परा से प्राप्त विषय रूप में परिणत भावों के द्वारा मनुष्य बुद्धि इत्यादि इन्द्रियों से रस रूप में भोगों का उपभोग करते हैं ।[१] शारदातनय के अनुसार आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप है । इसीलिये वह संसार के दु:ख आदि माया जन्य आच्छादनों

१- रागविद्याकलाख्यै: पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभि: स्वत: ।
प्रवृत्तिर्भवेदुत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ ।।

भोगं मिथ्याय मिथ्यायै वासनात्मैव तिष्ठति ।
दु:खमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते ।।

यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्वं यद्रागोपादानमुच्यते ।।

तयाऽभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चित: ।
चैतन्यस्य मलेनैव संरुद्धस्य स्वभावत: ।।

अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदु:खात्मिका बुद्धेर्वृत्तिर्भवेदुच्यते ।।
एवं परम्पराप्राप्तैर्भावैर्विषयतां गतै: ।
बुद्ध्यादिकरणैर्भोगाननुभुङ्क्ते रसात्मना ।।
– भा०प्र०, पृ० ५३

को हटाकर उन्हें भोग्य बना देता है ।

इस प्रकार रस स्थायीभाव से विलक्षण होता है।[१] स्थायीभाव लोकानुगामी होने के कारण सुख-दु:खात्मक दोनों रूपों में हो सकता है, किन्तु ब्रह्मानन्दसहोदर रस शुद्ध चैतन्यानन्दस्वरूप होता है ।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि करुण 'रस' रूप होने के कारण सभी लौकिक सीमाओं से परे है । वह अलौकिक तथा चिदानन्दरूप है ।

१- स्थायिविलक्षण एव रस: ।

भाग १

- ना०शा० (अभि०भा०), पृ० २८४

खण्ड ब

प्रयोग पक्ष

अध्याय ६

महाकाव्यों में करुण रस–प्रयोग की दृष्टि से

महाकाव्यों में करुण रस— प्रयोग की दृष्टि से

संस्कृत महाकाव्यों में करुण रस के प्रयोग के सम्यक् निरूपण के लिए महाकाव्यों की परम्परा के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि आधारभूत महाकाव्यों के सम्यग् ज्ञान के बिना रसों के प्रयोग के औचित्यानौचित्य का विवेचन ही सम्भव नहीं है । फलतः यहाँ पर संस्कृत महाकाव्यों के विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर देना अभीष्ट है, क्योंकि प्राकरणिक विषय के प्रतिपादन के लिए यह सर्वथा उपादेय है ।

(क) संस्कृत महाकाव्य—परम्परा-निरूपण

संस्कृत काव्य के मुख्यतः दो भेद हैं— दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। श्रव्य काव्य के उपभेदों में पद्यकाव्य, गद्यकाव्य तथा चम्पू की गणना की जाती है । पद्यकाव्य के भी तीन अवान्तर भेद हैं— महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य ।

संस्कृत काव्य के बीज ऋग्वेद में ही प्राप्त हो जाते हैं । ऐसे ऋग्वेदीय सूक्तों में संवाद और मण्डूक आदि सूक्तों की गणना की जा सकती है । ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ स्थलों पर तथा इतिहास-पुराण में भी कहीं-कहीं काव्य की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है, किन्तु लौकिक संस्कृत महाकाव्यों का अभ्युदय वाल्मीकि रामायण से ही माना जा सकता है । काव्य की यही परम्परा कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि कवियों में देखी

जा सकती है । वास्तव में रामायण ने न केवल कालिदास और अश्वघोष जैसे महाकवियों को ही प्रभावित किया, अपितु उसने परवर्ती महाकवियों के समक्ष एक आदर्श भी प्रस्तुत किया है ।

प्राचीन काल में मानव सामूहिक नृत्य-गानों से अपना मनोरञ्जन किया करता था । कालान्तर में इन सामूहिक नृत्य-गानों में आख्यान भी जुड़ते गये । इन आख्यानों में महाकाव्यों के बीज निहित थे । किसी भी देश के मानव की स्वभावत: प्राप्त जीवन के प्रथम अनुभव के कथात्मक तथा कल्पनात्मक चित्रण ही उस देश के महाकाव्य हैं ।[1] ऋग्वेद में यम-यमी-संवाद,[2] पुरूरवा-उर्वशी-संवाद,[3] विश्वामित्र-नदी-संवाद[4] इत्यादि संवाद सूक्त उपलब्ध होते हैं । इन संवाद सूक्तों में संस्कृत नाटकों के बीज निहित हैं । कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् का स्रोत पुरूरवा-उर्वशी-संवाद में ही है । इसी प्रकार अथर्ववेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं, जिनमें देवताओं तथा राजाओं के शौर्य आदि गुणों का वर्णन है ।[5] इन्हें वीर रस प्रधान काव्यों का जनक माना जा सकता है । विन्टरनित्स के अनुसार इन संवाद सूक्तों तथा नाराशंसी में महाकाव्य का आदि रूप प्राप्त होता है ।[6] वैदिक काल से ही भारतीय साहित्य में आख्यानों का प्राचुर्य रहा है । इन आख्यानों और उपाख्यानों का गायन

१- ... the epic grew out of a poetic theogony glorifyin aristocratic history ....

I.R., p.12

२- ऋग्वे०, १०।१०

३- वही, १०।९५

४- वही, ३।३३

५- अथर्व०, ५।१९।२०, ६।९५।१२८, ८।१६।८, १९।२५।६, १८।३५।१३

६- These songs in praise of men probably soon developed into epic poems of considerable length, i.e. heroic songs and into entire cycle of epic songs centring around one hero.

H.I.L.,Vol.I, p.314.

सूतगण किया करते थे । अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए ही सूत-गण परम्परागत गाथाओं में परिवर्तन और परिवर्द्धन भी करते चलते थे । इस प्रकार की गाथाएँ लोकप्रियता की दृष्टि से विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न परिस्थितियों में मिलती हैं । एक ही कथा में अनेक उपकथाएँ समाविष्ट होती गई हैं, जिससे एक ही कथा ने बृहद् रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की कथाओं को ही लोक गाथाओं और महाकाव्यों के बीच की श्रृंखला माना जा सकता है । वैदिक वाङ्मय में महाकाव्य के जो सूक्ष्म बीज दिखाई पड़ते हैं, वही पुराण काल में अङ्कुरित होते हुए महाकाव्य के रूप में पल्लवित और पुष्पित हो गये ।

रामायण-महाभारत इन्हीं लोक गाथाओं द्वारा निर्मित हुये हैं । महाभारत में प्राप्त उपाख्यानों को लेकर अनेक महाकाव्यों की रचना हुई है । नलोपाख्यान जैसे उपाख्यानों को लेकर नैषधीयचरित जैसे अनेक महाकाव्यों की रचनाएँ हुई हैं । जय, भारत और महाभारत— ये नाम महाकाव्य के रूप में महाभारत के विकास के द्योतक हैं ।[१] वास्तव में लोक गाथाओं का कोई एक विशेष कवि अथवा गायक नहीं हुआ करता था । जिस प्रकार महाभारत आदि महाकाव्य अनेक लोक गाथाओं के विकसित रूप हैं, उसी प्रकार इलियड और ओडेसी जैसे पाश्चात्य महाकाव्य भी लोक गाथाओं के

१- जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।

म०भा०, १।६२।२०

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।।

उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ।।

वही, १।१।१०२,१०३

महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते ।।

वही, १।१।२७४

विकसित रूप है । महाभारत को अर्थसंहिता पुराण, आख्यान, उपाख्यान, कथा, इतिहास तथा काव्य कहा गया है ।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि व्यास के मत में महाभारत में उपर्युक्त प्रत्येक विषय की कुछ मौलिक विशेषताएं रही होंगी । रामायण को भी आख्यान कहा गया है।[2] वाल्मीकि ने स्वयं रामायण को काव्य की संज्ञा प्रदान की है ।[3] रामायण और महाभारत में प्रक्षिप्त अंशों का इतना प्राचुर्य है कि एक ओर तो इनमें परस्पर विरोधी वर्णन प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर प्रक्षिप्त और मूल कथानक के बीच कोई सीमा रेखा खींचना असम्भव सा हो जाता है ।

प्राय: सभी देशों का साहित्य वीरगाथाओं से ही प्रारम्भ होता है । यही कारण है कि इन वीर गाथाओं को जन्म देने वाले युग को 'वीर युग' कहा जाने लगा । भारतीय 'वीरयुग' में रामायण और महाभारत

१- इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धय: ।
वही, १।२।३८५

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रय: ।
वही, १।२।३८७

इदं कविवरै: सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
वही, १।२।३८९

अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
वही, १।२।३९०

२- तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्म्यमाख्यानमुत्तमम् ।
वाचो विधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ।।
रामा०, १।४।१२

३- काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रत: ।। वही, १।४।७

मध्ये सभं समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनय: सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणा: ।।
वही, १।४।१५

तथा यूनानी वीरयुग में इलियड और ओडेसी जैसी रचनाएँ हुई थीं । भारतीय साहित्य में वीरयुग का प्रारम्भ वैदिक काल से ही माना जा सकता है, क्योंकि संहिताओं तथा ब्राह्मणों में इन्द्र, अश्विनी आदि देवताओं से सम्बद्ध अनेक वीर आख्यान उपलब्ध होते हैं ।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ कला का भी विकास होता है । कला व्यक्तित्व प्रधान होती है । यही कारण है कि कवि महाकाव्य लिखने के उद्देश्य से महाकाव्यों की रचना करने लगे । अपनी कला के प्रति सजग रहने के कारण उनकी शैली परिष्कृत होती गयी और इस परिष्कृत शैली में विरचित महाकाव्य स्वतः कलापूर्ण और अलंकृत होते गए ।

ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से ईसा की बारहवीं शताब्दी तक के महाकाव्यों का स्वरूप निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—
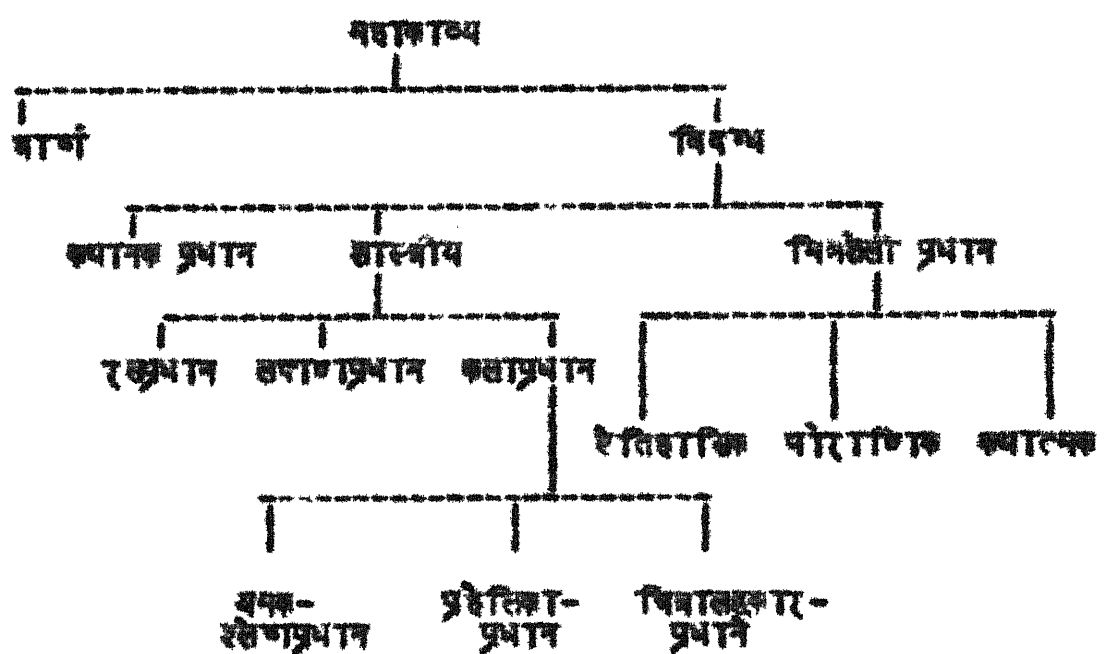
रामायण और महाभारत वीरयुगीन आर्ष महाकाव्य हैं । आनन्द-वर्द्धन के अनुसार रामायण और महाभारत इतिवृत्तप्रधान कथाकाव्य तथा शिक्ष-

रस काव्य है,[1] किन्तु कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रामायण और महाभारत के साथ आर्ष[2] विशेषण और जोड़ दिया है, जिससे उनकी प्राथमिकता, प्रामाणिकता, पवित्रता, स्वाभाविक विकासशीलता आदि गुण अभिव्यक्त होते हैं ।

रामायण और महाभारत जैसे कथाश्रित महाकाव्यों में कवियों की व्यक्तिगत भावनाओं और उनके विचारों का प्राधान्य नहीं होता है । रामायण और महाभारत उपजीव्य काव्य हैं, इसीलिए जहाँ रामायण के रचयिता ने उसके चिरस्थायित्व की कामना की है[3] वहाँ महाभारत के रचयिता ने उस उत्तम इतिहास को सभी प्रमुख कवियों का उपजीव्य कह डाला है[4] ।

प्रत्येक युग की चेतना तत्कालीन साहित्य को प्रभावित करती रही है । भारतीय परम्परा के अनुसार रामायण आदिकाव्य है तथा महाभारत इतिहास, पुराण तथा महाकाव्य है । विकासशील होने के कारण इन

१- सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।
ध्वन्या०, ३।१४

२- अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ।।
अस्मिन्महाकाव्ये । यथा— महाभारतम् ।
सा०द०, ६।३२५ तथा वृत्ति

३- यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
रामा०, १।२।३६

४- इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
एषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।।
म०भा०, १।२।३८५

काव्यों में सरलता, सुबोधता तथा संस्कृत भाषा का सहज सौन्दर्य अव्याज-मनोहर शैली में प्रस्फुटित हुआ है । वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के बीच की कड़ी होने के कारण इन महाकाव्यों में कहीं-कहीं पाणिनि व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन पाया जाता है किन्तु इन्हें आर्ष प्रयोग मानलिया जाता है । इन महाकाव्यों में इतिवृत्त तथा भावों का आकर्षक रूप देने के लिए अलङ्कार मानो परस्पर होड़ करते हुए स्वयं समाविष्ट हो गये हैं ।

रामायण और महाभारत के पश्चात् अश्वघोष और कालिदास आदि के महाकाव्य विदग्ध महाकाव्यों की कोटि में आते हैं, क्योंकि ये सामन्तयुगीन संस्कृत के द्योतक हैं । विदग्ध महाकाव्यों का अभिप्राय उन महाकाव्यों_ से है, जिनमें चातुर्य, कलात्मकता, पाण्डित्य इत्यादि की प्रमुखता है । इसलिए रघुवंश, किरातार्जुनीय इत्यादि महाकाव्यों के लिए ये विशेषण सर्वथा उपयुक्त है ।

संस्कृत के विदग्ध महाकाव्यों में अश्वघोषकृत महाकाव्यों का स्थान सर्वप्रथम है । रामायण और कालिदास के बीच की अवधि में किसी महाकाव्य की रचना न हुई हो ऐसा नहीं था । इस दीर्घकाल में भी विभिन्न महा-काव्यों की रचनाओं के प्रमाण मिलते हैं । वास्तविकता यह है कि कालिदास आदि कवियों की चमक-दमक में उनके पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों की छटा फीकी पड़ती गयी जिससे धीरे-धीरे ये काव्य विस्मृत होते गये ।

रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु ने पाणिनि को पातालविजय तथा जाम्बवतीविजय नामक दो महाकाव्यों का रचयिता बताया है ।[1] आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार वाल्मीकि के पश्चात्

१- तथा हि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये सन्ध्यावधूं गृह्यकरेण
   - - - तथा तस्यैव कवेः —

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति ।।

का०(रु०), पृ० २८

पाणिनि ही महाकाव्य के सर्वप्रथम रचयिता थे । समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में वैयाकरण व्याडि को एक कवि के रूप में निर्दिष्ट करके उनकी 'बलचरित' नामक कृति का उल्लेख किया है । इस काव्य की प्रशंसा करते हुए उन्होंने इसे महाकाव्यों के निर्माणमार्ग का दीपक बताया है[1]। कृष्णचरित में ही वररुचि को 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य का रचयिता बताया गया है[2]। वैयाकरण वररुचि को कण्ठाभरण और चारुमती नामक काव्यों का रचयिता भी माना जाता है[3]।

अश्वघोष और कालिदास का पौर्वापर्य यद्यपि सन्दिग्ध है, तथापि सौन्दरनन्द में उपलब्ध आर्ष प्रयोग[4] तथा कालिदास की अपेक्षा कम निखरी शैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि अश्वघोष कालिदास के पूर्ववर्ती थे। ईसा की प्रथम शताब्दी में रचित बुद्धचरित और सौन्दरनन्द महाकाव्यों

१- रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥
कृ० च०, पद्य १६,१७

२- यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान्भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥
वही, पद्य १४

३- H.S.L., P.761

४- द्रष्टव्य — द्वितीय सर्ग में लुङ् लकार का अत्यधिक प्रयोग ।

में कथानक की प्रधानता थी । महाकवि ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग कथा के विकास में प्रवाह लाने और उसे अधिक सरस, सरल और प्रभावोत्पादक बनाने में किया है । इन महाकाव्यों का मुख्य प्रयोजन कथा के माध्यम से धार्मिक उपदेशों का उत्कृष्ट निदर्शन था । अश्वघोष के समसामयिक मातृचेट के भी 'चतुःशतकस्तोत्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१] सर्वसेन कृत 'हरि-विजय'[२] भी इसी काव्य-परम्परा में आते हैं । सम्प्रति यह महाकाव्य उपलब्ध नहीं है, अतः प्रथम शताब्दी के महाकाव्यों में अश्वघोष के महाकाव्य ही प्रथम उपलब्ध महाकाव्य माने जा सकते हैं ।

रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख में प्रयुक्त 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य' समस्त पद तत्कालीन काव्य-साहित्य के विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है । प्रयाग स्थित अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की शैली से उसके पूर्व रचित महाकाव्यों का अनुमान किया जा सकता है । इसी प्रकार मन्दसौर के सूर्य-मन्दिर में उत्कीर्ण वत्सभट्टि कृत प्रशस्ति में कालिदास के ऋतुसंहार की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है । 'कीलहार्न' ने तो यहाँ तक कह दिया है कि इस अभिलेख का इकतीसवाँ पद्य ऋतुसंहार की प्रतिकृतिमात्र है।[३] उक्त अभिलेख का पद्य इस प्रकार है—

रामासनाथरचने दरभास्करांशु-
वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।

१- H.S.L., p.78

२- H.C.S.L., p.380.

३- .... that verse 31 of the Prasasti is an imitation of Rtusamhara V, 2-3.

वही, पृ० ६७

चन्द्रांशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्त-
हारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे ॥[१]

यहाँ पर हेमन्त ऋतु का वर्णन है । यह ऐसा समय है, जो अपनी प्रियतमाओं से उनके प्रियतमों का मिलन करा देता है । इस समय सूर्य की किरणों की ऊष्मा भी रुचिकर प्रतीत होने लगती है, मछलियाँ जल की तलहटियों में चली जाती हैं और (अपनी शीतलता के कारण) चन्द्रमा की किरणें भी उपभोग्य नहीं रह जाती हैं । यही बात प्रासाद-तल, चन्दन, ताल वृन्तों और हारों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो रही है । इस समय कमलों को पाला मार जाता है । इस पद्य के साथ ऋतु-संहार का निम्नोद्धृत पद्य तुलनीय है—

न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम् ॥[२]

यह ऐसा समय है जब न तो चन्द्र-किरणों के समान शीतल चन्दन, न तो शरद् ऋतु की चन्द्रिका से धवलित प्रासादतल और न सघन तुषार से शीतल वायु ही मनुष्यों के चित्तों का रमण कर पा रही है ।

संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के महाकाव्यों की भी रचना हुई थी, जिनमें प्रधानता व्यञ्जना की ही थी । इन महाकाव्यों में रसों और भावों का समन्वय रससिक्त शैली में हुआ है । ऐसे काव्यों में अधिकांशत: वर्णन विभावों और अनुभावों का ही हुआ है । इनकी भाषा प्राञ्जल तथा ललित है । अलङ्कारों का प्रयोग अलङ्कार्य रूप रस को अलङ्कृत करने के लिए ही हुआ है ।

१- बन्धुवर्मन का मन्दसौर शिलालेख, पद्य ३१

२- ऋ० सं०, ५।३

इन काव्यों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें कवि का उद्देश्य अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा बहुज्ञता-ज्ञापन करना न था और न इनकी रचना लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरणस्वरूप ही की गयी थी । इन काव्यों में कथा का प्रवाह सहज गति से चलता रहता है । कालिदास जैसे महाकवियों के महाकाव्यों में अवान्तर कथाओं की न्यूनता रहा करती है । स्पष्ट है कि अश्वघोष और कालिदास ने अपने महाकाव्यों की रचना लक्षण ग्रन्थों के उदाहरणरूप में ही नहीं की थी, अपितु उन्होंने रसप्रधान महाकाव्यों की रचना करके एक नई परम्परा को जन्म दिया था । इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है महाकवि कालिदास का 'रघुवंश' । इस महाकाव्य में अनेक रघुवंशी राजाओं का वर्णन हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि कविराज विश्वनाथ ने रघुवंश को आदर्श मानकर ही यह नियम बना दिया था कि महाकाव्य के नायक एक ही वंश में उत्पन्न होने वाले अनेक राजा भी हो सकते हैं।[१] इस परम्परा का पालन कुमारदास तथा अभिनन्द जैसे महाकवियों के काव्यों में भी परिलक्षित होता है ।

साहित्य और समाज में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहा करता है । एक ओर साहित्य समाज पर अपनी छाप छोड़ता है तो दूसरी ओर समाज भी साहित्य में प्रतिबिम्बित होता रहता है । यही कारण है कि विक्रम के सप्तम-अष्टम शतकों को संस्कृत साहित्य के इतिहास में परिवर्तन का युग माना जाता है । इस युग के साहित्य में चमत्कार और पाण्डित्य प्रदर्शन की बलवती भावना उभरकर सामने आ गयी । इससे महाकाव्यों का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया । तत्कालीन साहित्य पर वात्स्यायन के कामसूत्र और लक्षण ग्रन्थों का व्यापक प्रभाव पड़ा है । परिणामस्वरूप उसमें भाव पक्ष के स्थान पर कलापक्ष ही अधिक प्रकृष्ट रूप में प्रस्तुत हुआ है । इन महा-

---

१- एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।

सा०द०, ६।३१६

कवियों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं के चमत्कारिक तथा वैदुष्यपूर्ण वर्णनों में ही अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है । इन कवियों की रचनाओं में विषय की अपेक्षा उसकी अभिव्यञ्जना, स्वाभाविक प्रवाह के स्थान पर पाण्डित्य, अनुभूति के स्थान पर अलङ्कार तथा प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति प्रदर्शन का ही आधिक्य रहा है ।

यदि यह कहा जाय कि कालिदास के परवर्ती कवियों में मौलिकता तथा सरसता का स्थान नगण्य हो गया, तो भी अत्युक्ति न होगी । ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रधानता ने इन कवियों को स्वतन्त्र चिन्तन के सर्वथा अयोग्य बना दिया था । इस प्रकार के कवियों में भारवि, माघ इत्यादि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है क्योंकि इन्होंने पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ऐसे पद्यों की भी रचना कर डाली है जिसमें केवल एक ही अक्षर का प्रयोग किया गया है[1] ।

शास्त्र काव्य तथा यमक और श्लेष काव्य का उद्भव जिस भावना से हुआ वह भावना थी — लक्षणबद्ध काव्यों में व्युत्पत्ति प्रदर्शन । इसके अतिरिक्त शिक्षा देने के प्रयोजन की प्रवृत्ति ने भी इस प्रकार के काव्यों को जन्म दिया था । इन काव्यों में भट्टिकाव्य तथा रावणार्जुनीय प्रमुख हैं[2] । क्योंकि

१- न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नो नुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

किरात०,१५।१४

अभीभोभाभिभिन्नाभी सं ततौ तितताभितम् ।
भाभो भीमाभिभूभाभूरारारिररिरीररः ।

शिशु०, १६।३

२- दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ।

भ०का०, २२।३३

इनमें काव्य के माध्यम से पाणिनि व्याकरण के नियमों के प्रयोगों को बड़ी कुशलता से सिद्ध किया गया है। हलायुध-कृत 'कविरहस्य' तथा वासुदेव रचित 'युधिष्ठिर विजय' भी इस परम्परा के प्रतिनिधि काव्य हैं।[1] इन काव्यों का चरम लक्ष्य था— चमत्कार और पाण्डित्य-प्रदर्शन। यही कारण है कि यमक और श्लेष आदि प्रधान चित्रकाव्यों की रचना होने लगी थी। दण्डी ने काव्यादर्श में अनेक प्रकार के यमक-प्रयोग का उल्लेख किया है।[2] भट्टि ने भी अपने काव्य के दशम सर्ग में यमक अलङ्कार से युक्त कुछ पदों की रचना की है।[3] घटकर्पर नामक लघुकाव्य में भी यमक अलङ्कार का प्राधान्य है। यमक काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण नीतिवर्मन् रचित 'कीचकवध' है। इसके तृतीय सर्ग में श्लेष और चतुर्थ सर्ग में यमक का बाहुल्य है।

अलङ्कृत शैली का चमत्कार उस समय और भी अधिक हो जाता है जब कवि एक ही काव्य में एकाधिक नायकों का वर्णन एक साथ करने लगता है। उदाहरण के लिए द्विसन्धान काव्य का निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है जिसमें राम और पाण्डवों की कथा एक साथ वर्णित है—

१- H.S.L., p.330.

२- एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः ॥

काव्या०, ३।२

३- न गजा नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदा प्रमदामहता महतामरणं मरणं समयात् समयात् ॥

भ०का०, १०।६

मुक्तस्ततं प्रतपति श्रमन्रविः शशी नरन्स्वयमभिनन्दयत्यथम् ।
परैः स्थितिः पुरि सचराचरं जगत्परौद्य यः स्म जयति सन्धिनोति च ॥[1]

इस प्रकार के श्लिष्ट काव्यों में सन्ध्याकरनन्दिन् का 'रामचरित' अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण काव्य है । इस कोटि में विशेष रूप से उल्लेखनीय काव्य हैं— धनञ्जयकृत 'द्विसन्धान', विद्यामाधवरचित 'पार्वतीरुक्मिणीयम्', हरिदत्तसूरि विरचित 'राघवनैषधीयम्' तथा कविराजसूरि प्रणीत 'राघवपाण्डवीयम्' । त्र्यर्थक काव्यों में राजचूडामणिदीक्षितकृत 'राघवयादवपाण्डवीयम्', चिदम्बर सुमति रचित 'राघवपाण्डवयादवीयम्' आदि प्रमुख हैं ।[2]

जैन कवियों की रचनाओं में मेघविजयगणिकृत 'सप्तसन्धान' और सोमप्रभ कृत 'शतार्थकाव्य' का उल्लेख किया जा सकता है ।[3] सप्तसन्धान के प्रत्येक पद्य में ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर स्वामी, कृष्ण और बलदेव से सम्बद्ध साथ-साथ अर्थ निकलते हैं । इस प्रकार के काव्यों में सर्वाधिक कुतूहलोत्पादक काव्य वेंकटाध्वरि का 'यादवराघवीयम्' । 30 पद्यों में रचित इस काव्य को एक ओर से पढ़ने से राम और दूसरी ओर से पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन उपलब्ध होता है ।

इस शैली के अन्तर्गत चित्रकाव्यों की भी एक परम्परा पनप रही थी । इन कवियों ने ऐसे चमत्कारपूर्ण पद्यों की रचना की है, जिनमें खड्ग, मुरज, पद्म आदि बन्धों का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है । राजानक रत्नाकर प्रणीत 'हरविजय' इस प्रकार के बन्धों के लिए विशेष रूप से

१- कि० २।१५

२- H.S.L., p.340-341.

३- H.C.S.L., p. 192, 193.

द्रष्टव्य है, क्योंकि इसमें गोमूत्रिकाबन्ध,[1] सर्वतोभद्रबन्ध,[2] पद्मबन्ध,[3] तूणीर-बन्ध,[4] काञ्चीबन्ध[5] इत्यादि प्रसिद्ध बन्ध प्रयुक्त हुए हैं ।

आठवीं तथा नवीं शताब्दी में ऐतिहासिक काव्यों की रचना हुई थी। इन काव्यों में कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी इनमें अतिशयोक्तिपूर्ण तथा काल्पनिक घटनाओं का प्राचुर्य देखा जा सकता है । फलस्वरूप इनमें वास्तविकता तथा मौलिकता का अभाव है । डा० दासगुप्त के अनुसार इन काव्यों को ऐतिहासिक काव्य कहने का[6] तात्पर्य केवल यह है कि इनका कथानक ऐतिहासिक है, कविकल्पनाप्रसूत नहीं ।

इस प्रकार की शैली के अन्य महाकाव्यों में पद्मगुप्तकृत 'नवसाहसाङ्कचरित' (११वीं शताब्दी), बिल्हणकृत 'विक्रमाङ्कदेवचरित' (११वीं शताब्दी), कल्हण कृत 'राजतरङ्गिणी' (१२वीं शताब्दी) और जयानककृत पृथ्वीराज विजय (१२वीं शताब्दी) प्रमुख हैं । गुजरात के इतिहास से सम्बद्ध अरिसिंहकृत सुकृत-सङ्कीर्तन (१३वीं शताब्दी), तथा बालचन्द्रसूरिकृत 'वसन्त-विलास' (१३वीं शताब्दी) नामक महाकाव्य भी इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं ।

१- ह०वि०, ४३।६३
२- वही, ४३।१०२
३- वही, ४६।८०
४- वही, ४३।२०६
५- वही, ४३।१३८
६- In making an estimate of these works, therefore, it should be born in mind that they are, in conception and execution, deliberately meant to be elegant poetical works rather than sober historical or human documents; .... The qualification 'historical', therefor, serves no useful purpose except indicating imperfectly that these kavyas have an historical, instead of a legendary or invented theme but the historical theme is treated as if it is no better nor worse than a legendary or invented one.

H.S.L., p.348-349.

दसवीं शताब्दी के पश्चात् पौराणिक शैली के महाकाव्यों का स्थान है । इनमें शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों में उपलब्ध पाण्डित्यजन्य दुरूहता का स्थान सरलता ने ले लिया था । हेमचन्द्र का 'त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित' (१२वीं शताब्दी), हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' (११वीं शताब्दी), वाग्भट्ट का 'नेमिनिर्वाण' (१२वीं शताब्दी), आदि इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं हैं । श्री हर्षकृत 'नैषधीयचरित' महाकाव्य (१२वीं शताब्दी) एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है । इसमें पाण्डित्य प्रदर्शन के साथ-साथ रस ध्वनि का भी समन्वय है । नैषधकार ने स्वयं भी अपनी कृति को अत्यन्त नवीन कृति कहा है।[1] श्रीहर्ष के अनुसार यह काव्य ऐसे मार्ग का पथिक है जो अन्य कवियों के द्वारा अदृष्ट रहा है।[2]

इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों के विकास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्यों का स्वरूप अपने-अपने युग के अनुरूप बदलता रहा है ।

(ख) महाकाव्य — करुण रस-निरूपण

करुण रस के सैद्धान्तिक पक्ष और संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा का निरूपण कर लेने के पश्चात् अब वाल्मीकि रामायण से नैषधीयचरित तक प्रमुख महाकाव्यों में प्रतिपादित करुण रस के प्रयोग का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१- (क) काव्येकति नव्ये कृतौ — नै०च०, २२।१५३

(ख) नव्ये महाकाव्ये — वही, ५।१३८

२- कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महाकाव्ये - - - ।

वही, ८।१०६

रामायण

वाल्मीकि रामायण लौकिक संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य है। संस्कृत-काव्य-परम्परा में करुण रस का अङ्गी रूप में प्रयोग भी सर्वप्रथम रामायण में हुआ है, क्योंकि इसके निर्माण का आधार ही करुण रस का स्थायीभाव शोक है।[1] तमसा के तट पर कीडारत क्रौञ्च-मिथुन में से व्याध के द्वारा एक का वध देखकर महर्षि वाल्मीकि का हृदय अत्यन्त द्रवित हो उठा और उनके मुख से स्वत: यह पद्य निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा: ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ।।[2]

रामायण के मूल में करुण का स्थायी भाव शोक होने के कारण सम्पूर्ण महाकाव्य में करुण रस की ही प्रधानता है ।

रामायण में अङ्गी रूप करुण रस की सत्ता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों के अनुसार रामायण का प्रधान रस वीर है ।[3] सम्भवत: यही कारण है कि आलङ्कारिकों ने महाकाव्य में अङ्गी रस के रूप में केवल तीन रसों को ही स्वीकार किया है । वे रस हैं— वीर, शृङ्गार और शान्त ।[4] किसी भी आचार्य को महाकाव्य में करुण रस की प्रधानता

१- क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।
ध्वन्या०, १।५

२- रामा०, १।२।१५

३- काव्येऽस्मिन् प्रधानरसो वीर: । प्रधाननायकस्य महावीरत्वात् अङ्गानि शृङ्गारकरुणादय: ।
सं०का०वि०,भाग १,पृ० १७

४- शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
सा०द०, ६।३१७

स्वीकार्य नहीं है, यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने युक्ति-संगत तर्कों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि रामायण में अङ्गी रस करुण ही है[१]। रामायण का आद्योपान्त अध्ययन करने से भी यही सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्द्धन का मत सर्वथा मान्य है, क्योंकि जैसा उन्होंने स्वयं निर्दिष्ट किया है, रामायण का अन्त सीता के आत्यन्तिक वियोग से ही होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के 'करुण रस-सिद्धान्त पक्ष' नामक अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि शोकात्मक करुण रस इष्ट नाश और अनिष्टाप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। किसी भी प्रकार से इष्ट जन से होने वाला वियोग इष्टनाश के अन्तर्गत आ जाता है। अनिष्ट-प्राप्ति के अन्तर्गत शाप, बन्धन, पराधीनता, निर्धनता, भूकम्प, अनावृष्टि तथा अकालवृष्टि आते हैं[२]। इन सभी विभावों में से अधिकांश विभावों से उत्पन्न करुण रस के उदाहरण रामायण में उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इन सब का विवेचन किया जायेगा।

शापज करुण रस का उदाहरण दशरथ-मरण के प्रसङ्ग में उपलब्ध

१- रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवं वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।
ध्वन्या०४।५ वृत्ति

२- अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः। स च शापक्लेश-विनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघात-व्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।
ना०शा०,भाग १,पृ० ३१७

उपलब्ध होता है । राम-वन-गमन के पश्चात् राम के वियोग में दशरथ अत्यन्त दुःखी होकर चेतनाहीन हो जाते हैं । कुछ क्षणों के पश्चात् जब वह चैतन्य होते हैं, तब उन्हें अपना अन्तिम समय सन्निकट प्रतीत होता है। उन्हें श्रवण के वृद्ध और अन्धे माता-पिता द्वारा दिये गये शाप का स्मरण हो जाता है । जब वह पुत्र-वियोग से अपनी मृत्यु को निश्चित समझ लेते हैं । इससे उनकी उद्विग्नता और भी बढ़ जाती है और वह पश्चात्ताप की भावना से अभिभूत होकर कौसल्या से कह उठते हैं कि " आज (श्रवण के वध रूप) उस पाप का फल मुझे उसी प्रकार भोगना पड़ेगा जिस प्रकार अपथ्यभोगी मनुष्य को रोग का लक्ष्य बनना ही पड़ता है । आज उस उदार मुनि का वचन फलीभूत होकर रहेगा और मुझे पुत्र-वियोग में अपने प्राणों का परित्याग करना ही पड़ेगा ।"[१] वह स्वयं को राम-वन-वास का कारण मानकर क्षुब्ध हो उठते हैं और आत्मग्लानि से भर जाते हैं । क्रमशः उनकी चेतना नष्ट होने लगती है और वह कौसल्या से कहने लगते हैं कि 'अयि कौसल्ये ! मैं तुम्हें देख नहीं पा रहा हूँ तथा मेरी स्मरण-शक्ति भी लुप्त होती जा रही है'[२]। 'अयि देवि ! मैंने राम के साथ जो व्यवहार किया है वह मेरे अनुरूप नहीं था ।'[३] 'संसार में कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य

१- तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।
अपथ्यैः सह सम्भुक्तो व्याधिरन्नरसो यथा ॥
तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।
यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यजिष्यामि जीवितम् ॥
रामा०, २।६४।५६,६०

२- चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ।
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ॥
वही, २।६४।६५

३- न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ।
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ॥
वही, २।६४।६३

अपने निकृष्ट से निकृष्ट पुत्र का भी परित्याग नहीं करता है ।[१] 'वन्त समय में मां अपने सहिष्णु पुत्र का दर्शन न पाने का शोक मेरे प्राणों को उसी प्रकार सुखा रहा है, जिस प्रकार थोड़े से जल को धूप सुखा देती है'[२]। अपने प्रिय पुत्र का स्मरण करते हुए वह पुन: कहते हैं कि 'वे अयोध्या वासी मनुष्य नहीं, अपितु देवता हैं, जिन्हें पन्द्रहवें वर्ष वन से वापस आये हुए कुण्डलधारी सुन्दर राम के मुख के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा । वस्तुत: वे लोग अत्यन्त सुखी हैं जो वन मार्ग से आते हुए राम का दर्शन कर सकेंगे'[३]। ऐसा कहते-कहते दशरथ चेतनाहीन होने लगते हैं । उनकी सभी इन्द्रियां उसी प्रकार शिथिल पड़ जाती हैं, जिस प्रकार तेल न रह जाने पर दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है[४]। पश्चात्ताप करते हुए दशरथ

१- दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ।
वही, २।६४।६४

२- तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ।
उच्छोषयति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ॥
वही, २।६४।६७

३- न ते मनुष्या देवास्ते ये चारु शुभकुण्डलम् ।
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ।
द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ॥
वही, २।६४।६८,७१

४- चिन्तानाशाद्विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥
वही, २।६४।७७

कहते हैं कि 'स्वयं मेरे द्वारा उत्पन्न किया गया शोक मुझ असहाय और निश्चेतन मनुष्य को उसी प्रकार क्षीण कर रहा है, जिस प्रकार नदी का वेग अपने ही तट को काट कर नष्ट कर देता है'[1]। 'अयि कौसल्ये ! अयि सुमित्रे ! अब मैं मर रहा हूं । अयि मेरी क्रूर शत्रु और कुलकलङ्किनि कैकेयि! ले तेरी इच्छा पूरी हो रही है'। इस प्रकार अपनी रानियों के सम्मुख विलाप करते हुए दशरथ अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं[2]।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में राम-वनवास के कारण दशरथ में शोक स्थायी भाव उद्बुद्ध हो रहा है तथा वही उपयुक्त विभावादि से परिपुष्ट होकर करुण रस के रूप में सहृदयों द्वारा चर्वणीय हो रहा है । यहाँ दशरथ आश्रय हैं, राम आलम्बन विभाव, उनका वन-गमन उद्दीपन विभाव है। दशरथ का विलाप, अपने भाग्य की निन्दा, मूर्च्छा, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और ग्लानि, चिन्ता, व्याधि, अपस्मार, स्मृति, दैन्य आदि इसके व्यभिचारी-भाव हैं ।

१- अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम् ।
संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥

वही, २।६४।७४

२- हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥

* * *

तथा तु दीनः कथयन्नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-
स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥

वही, २।६४।७६,७८

रामायण में अनिष्टाप्ति की अपेक्षा इष्टनाश के उदाहरण अधिक उपलब्ध होते हैं । इष्टनाश से उत्पन्न करुण रस के उदाहरणों में श्रवणवध का प्रसङ्ग अग्रगण्य आता है । दशरथ के द्वारा भ्रमवश तापस कुमार श्रवण का वध कर दिया जाता है । दशरथ अपनी मानसिक व्यथा को छिपाते हुए श्रवण के वृद्ध माता-पिता को उनके पुत्र के मृत्यु की दुःखद सूचना देते हैं । उस मर्मान्तिक वृत्तान्त को सुनकर वृद्ध दम्पति को काठ मार जाता है तथा वे शोकातिरेक के कारण मूर्च्छित हो जाते हैं । तत्पश्चात् सचेत होने पर शोकमग्न वृद्ध पिता दशरथ के प्रति परुषाक्षरों का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि 'यदि तुमने अपने द्वारा किये गये पाप की सूचना स्वयं आकर न दी होती, तो निश्चय ही तुम्हारे मस्तक के सैकड़ों-हजारों खण्ड हो जाते'[1]। शोकविह्वल वृद्ध पिता अपने पुत्र के निष्प्राण शरीर का स्पर्श करके अत्यधिक उद्विग्न होकर कहने लगता है कि 'हे पुत्र ! तुम हम दोनों को न प्रणाम कर रहे हो और न कुछ बोल ही रहे हो । वत्स ! तुम पृथ्वी पर क्यों पड़े हो, कुछ रुष्ट हो क्या ?'[2] 'प्रिय पुत्र ! यदि तुम्हें मुझसे स्नेह नहीं है, तो कम से कम अपनी धर्ममयी माता की ओर तो देख लो । बोलो, तुम उठकर उसके गले से लिपट क्यों नहीं जाते हो'[3]। 'हाय ! अब हम दोनों अन्धों को अपनी सेवा के द्वारा कौन प्रसन्न किया करेगा । हम दोनों अन्धे होने के कारण स्वयं असमर्थ तो थे ही, अब

१- यदेतदशुभं कर्म न स्म मे कथये: स्वयम् ।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन्सद्य: शतसहस्रधा ।।
वही, २।६४।२२

२- नाभिवादयसे माय न च मामभिभाषसे ।
किं नु शेषे च भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ।।
वही, २।६४।३०

३- नन्वहं ते प्रिय: पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।
किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमारं वचो वद ।
वही,२।६४।३१

तुम्हारे न रहने से हम दोनों और भी असहाय हो गये हैं। अब हमें अतिथियों की भाँति आदर-सत्कार के साथ कन्द-मूल-फलों का भोजन कौन कराया करेगा। हाय बेटे! अब मैं स्वयं इस असहायावस्था में आ पड़ा हूँ, तो मैं तुम्हारी इस दुखिया और ममतामयी माता का भरण-पोषण कैसे कर सकूँगा।[1] पितृभक्त पुत्र की मृत्यु से अपने को नितान्त असहाय समझकर श्रवण के वृद्ध पिता बिलख-बिलख कर कहते हैं कि 'हा पुत्र! हम दोनों को इस अवस्था में छोड़कर तुम यमलोक को मत जाओ, अन्यथा तुम्हारे बिना हम दोनों भी दुःख से रो-रो कर मर जायेंगे'।[2] अपने प्रिय पुत्र को अकारण काल-कवलित मानकर उसके वृद्ध माता-पिता विलाप करते हुए यमराज से उसे पुनरुज्जीवित करने की प्रार्थना करते हैं। तदनन्तर वह अपने पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहने लगते हैं कि 'हे पुत्र! तुम्हारा वध तो एक पापी क्षत्रिय ने किया है।'[3] अन्त में अपने प्रिय पुत्र की सेवा से सन्तुष्ट और

१- को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम्॥
कन्दमूलफलं हृत्वा को मां प्रियमिवातिथिम्।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम्॥
इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम्॥
वही, २।६४।३३-३५

२- तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः॥
उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम्॥
वही, २।६४।३६-३७

३- अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकाः शस्त्रयोधिनाम्॥
वही, २।६४।४०

शोकातुर माता-पिता के मुख से अपने बेटे की सद्गति के लिए आशीर्वचन निकल पड़ते हैं । वे कहते हैं कि 'जो गति सहस्र गायों का दान करने वाले, गुरु-सेवक तथा अपने गुरुजनों का भरण-पोषण करने वालों को प्राप्त होती है, वही गति तुम्हें भी प्राप्त हो । जो गति स्वाध्याय तथा तपस्या से प्राप्त होती है तथा जो गति हिमालय पर शरीर का परित्याग करने वालों को प्राप्त होती है, वही सद्गति तुम्हें भी प्राप्त हो'[1]। इस प्रकार बहुविध विलाप करते हुए श्रवण के वृद्ध माता-पिता अपने प्रिय पुत्र के शोक में अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं ।

यह इष्टनाशजन्य करुण रस का उदाहरण है । यहाँ श्रवण के वृद्ध माता-पिता के मन में शोक स्थायीभाव उद्बुद्ध होने के कारण वही आश्रय हैं । मृत पुत्र (श्रवण कुमार) आलम्बन तथा उसकी मृत्यु का समाचार उद्दीपन विभाव है । वृद्ध माता-पिता का मूर्च्छित होना, विलाप करना, दशरथ को शाप देना, अपने भाग्य को कोसना आदि अनुभाव हैं । जड़ता, दैन्य, व्याधि, अपस्मार, चिन्ता, विषाद, मरण आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन सबसे परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव रसरूपता को प्राप्त कर लेता है ।

राम-वन-गमन से दशरथ अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं; फलस्वरूप उनका प्राणान्त हो जाता है । दशरथ के मृत शरीर को देखकर उनकी तीनों रानियाँ विलाप करने लगती हैं तथा अन्तःपुर में हाहाकार मच जाता है।

१- गोसहस्रप्रदातॄणां या गुरुभृतामपि ।
देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥
या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपसश्च या ।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ वही, २।६४।४४,४५

इतना ही नहीं, सम्पूर्ण नगरी शोक-मग्न हो जाती है । इस प्रकार रामायण में करुण रस का एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है । पुत्र-वियोग से शोकाकुल कौशल्या कैकेयी की प्रताड़ना करती हुई कहती है कि 'रे दुष्ट और क्रूर कैकेयि ! ले तेरी इच्छा पूरी हो गयी । महाराज दशरथ को भी इस लोक से विदा करके अब तू निष्कण्टक होकर राज्य का भोग कर'[1] । स्त्रीधर्म का परित्याग कर देने वाली कैकेयी के अतिरिक्त इस संसार में ऐसी कौन सी स्त्री होगी, जो अपने देव तुल्य पति का परित्याग करके जीवित रहना चाहेगी'[2] । पतिव्रता कौशल्या की जिजीविषा समाप्त होजाती है । वह पुनः विलाप करती हुई कहती है कि 'राम मुझे छोड़कर वन को चले गये और मेरे स्वामी भी मुझे अकेली छोड़कर स्वर्ग को सिधार गये । अनजाने मार्ग पर असहाय पथिक के समान अब मैं जीवित रहना नहीं चाहती हूँ'[3] । 'कमलनयन राम को क्या पता कि उनके चले जाने से मैं अनाथ तो पहले हो गयी थी, अब महाराज दशरथ की मृत्यु से (मैं) विधवा भी हो गयी हूँ। उन्हें पता हो भी कैसे सकता है? वह तो मुझसे बहुत दूर चले गये हैं'[4] । मैं पातिव्रत का निर्वाह करती हुई आज ही अपने

१- सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥

वही, २।६६।३

२- भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥

वही, २।६६।५

३- विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥

वही, २।६६।४

४- स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः ॥

वही, २।६६।८

प्रियतम के साथ चिता में जलकर भस्म हो जाऊँगी'[1]। मृत्यु को न प्राप्त करने पर कौसल्या के मन में राज्य-सुख के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। वह करुण क्रन्दन करती हुई कैकेयी से कहने लगती है कि 'अयि कैकेयि ! अब तू मुझे भी शीघ्र उसी वन में भेज दे, जहाँ मेरा सुन्दर और यशस्वी पुत्र राम गया है। हे पुत्र ! तुम्हीं मुझे वहाँ पहुँचा दो, जहाँ मेरा प्रिय पुत्र तपस्या कर रहा है'[2]। इतने में ही दशरथ के पार्थिव शरीर को तैल में सुरक्षित रखते समय समस्त अन्तःपुर एक साथ करुण चीत्कार कर उठता है। 'हाय ! महाराज मर गये' ऐसा कहते कहते सभी रानियाँ भुजायें उठा-उठा कर विलाप करने लगती हैं। सर्वत्र कुहराम मच जाता है। रानियाँ महाराज दशरथ को उपालम्भ देती हुई कहती हैं कि 'मीठी मीठी बातें करने वाले और सत्य-प्रतिज्ञ राम तो हम लोगों को छोड़ कर पहले ही चले गये थे, अब आप भी हम अबलाओं का परित्याग करके कहाँ जा रहे हैं?'[3] अपने अनिष्ट की आशंका से वे कैकेयी को बुरा-भला कहने लगती हैं। वे विचार करती हैं कि 'कैकेयी दुष्ट प्रकृति की है। राम तो चले ही गये थे, महाराज दशरथ भी हमसे बिछुड़ रहे हैं। अब हम उस सपत्नी के साथ कैसे रह सकेंगी?'[4] जिसने राम, लक्ष्मण और तपस्विनी सीता का परित्याग

१- साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥
वही, २।६६।१२

२- क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥
कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः ॥
वही, २।७५।१२,१४

३- हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।
विहीनाः सत्यसन्धेन किमर्थं विजहासि नः ॥
वही, २।६६।१८

४- कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः ।
कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥
वही, २।६६।१६

कर दिया, वह किसका परित्याग न कर देगी[1]।

दशरथ की मृत्यु से केवल प्राणिमात्र ही नहीं, अपितु सम्प्रकृति भी शोक-विह्वल हो उठती है। सम्पूर्ण अयोध्या नगरी श्रीहीन हो जाती है। सभी नगर-निवासियों के नेत्रों से अश्रु की धारा प्रवाहित होने लगती है, स्त्रियाँ हाहाकार करने लगती हैं, अयोध्या नगरी की चौक और उसके द्वार शून्य हो जाते हैं[2]। जिस प्रकार सूर्य के बिना आकाश तेजोविहीन हो जाता है तथा नक्षत्रों के बिना रात्रि की शोभा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार दशरथ के बिना सम्पूर्ण अयोध्या नगरी उदास दिखलाई पड़ने लगती है। उसके सभी मार्ग और चौराहे विलाप करते हुए मनुष्यों की भीड़ से भर जाते हैं। दशरथ की मृत्यु के कारण किसी को शान्ति नहीं प्राप्त हो रही है[3]।

१- यथा च रामश्च रामश्च लक्ष्मणश्च महाबल: ।
सीतया सह सन्त्यक्ता: सा कमन्यं न हास्यति ।।
वही, २।६६।२२

२- निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना ।।
बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ।।
वही, २।६६।२४,२५

३- गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ।।
नराश्च नार्यश्च समेत्य सङ्घशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ।।
वही, २।६६।२८,२९

यहाँ महाराज दशरथ की तीनों रानियाँ, अन्त:पुर की स्त्रियाँ और अयोध्यावासी आश्रय हैं। दशरथ आलम्बन तथा उनका प्राणहीन शरीर उद्दीपन है, रानियों का विलाप, उनके द्वारा वक्षस्थल-ताड़न, हाहाकार करना आदि अनुभाव हैं और व्याधि, दैन्य, त्रास, स्मृति तथा मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं।

मातृकुल से लौटने पर अपने पिता दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनकर भरत दु:खी होकर सहसा भूमि पर पछाड़ खाकर गिर जाते हैं। "हाय! मैं मारा गया" इस प्रकार दीन वचनों को कहते-कहते भरत पुन: भूमि पर गिर पड़ते हैं। उनकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, चेतना नष्ट होने लगती है। वह अपने पूज्य पिता की मृत्यु के दु:ख से व्याकुल होकर पुन: विलाप करने लगते हैं।[1] अपने मृत पिता की शय्या को देखकर भरत को पुन: उनका स्मरण हो आता है और वह कहने लगते हैं कि "जो शय्या पिता जी से युक्त होने पर अनभ्र आकाश में सुशोभित चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर प्रतीत हुआ करती थी, वही शय्या अब उनसे शून्य होने पर उसी प्रकार प्रतीत होने लगी है, जिस प्रकार चन्द्रमा से विहीन आकाश और सूखा समुद्र सुशोभित नहीं होता है।[2] अपने पिता की मृत्यु से तपस्वियों में अग्रणी भरत उद्विग्न हो उठते हैं। वह वस्त्र से अपने मुख को ढककर पुन: विलाप करने लगते हैं तथा फरसे से कटे हुए शाल वृक्ष के समान धराशायी हो जाते हैं।

१- हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान्॥
तत: शोकेन संवीत: पितुर्मरणदु:खित:।
विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतन:॥
वही, २।७२।१७,१८

२- एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता।
व्योमेव शशिना हीनमप्शुष्क इव सागर:॥
वही, २।७२।१९,२०

अपने पिता का स्मरण करके वह चिरकाल तक भूमि पर तड़पते रहते हैं।[1] वह अपने पिता के ग्रहण-प्रत्यग्रहण का स्मरण करते हुए विलाप करते हैं कि 'हाय ! कहाँ है पिता जी का वह सुकोमल हाथ, जिससे वह मेरे धूलि-धूसरित शरीर को झाड़ा करते थे। यशस्वी महाराज (दशरथ) को मेरे आगमन का ज्ञान ही नहीं हो रहा है, अन्यथा वह वात्सल्यवश मेरा मस्तक अवश्य चूम लेते। मेरे जो पिता सदैव मेरे हित-चिन्तन में लगे रहते थे, वह आज मुझे कहीं दिखाई तक नहीं पड़ रहे हैं। धन्य है मेरे अग्रज राम, जिन्होंने अपने हाथों से पूज्य पिता जी का अन्तिम संस्कार किया था।[2]

१- बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतां वरः ॥
तमार्तं देवसङ्काशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥

वही, २।७२।२१,२२

२- तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥
अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥
न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् ।
उपजिघ्रेतु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥
क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।
यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥

वही, २।७२।२८-३१

इसी समय भरत को रामवनगमन का समाचार ज्ञात होता है, जिससे वह अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं। वह इस सम्पूर्ण घटना-क्रम के लिए अपनी माता एकमात्र कैकेयी को दोषी ठहराते हुए बिलख-बिलख कर कहने लगते हैं "हे माता! तुमने मुझे दुःख पर दुःख दिया है। वास्तव में तुमने मेरे घाव पर नमक छिड़क दिया है। एक तो तुमने मेरे पिता जी के प्राणों का अपहरण कर लिया और दूसरे मेरे प्रिय अग्रज राम को तपस्वी बनाकर वन में भेज दिया।"[1] पिता और पितृ तुल्य पूज्य अग्रज के बिना मैं तो मृतप्राय हो गया हूँ। मुझे इस राज्य से क्या काम![2] "अरी! तुम तो मेरे कुल का नाश करने के लिए कालरात्रि बन गयी हो।"[3] "जो राम तुम्हें अपनी माता से बढ़कर समझते थे, उन्हें वल्कल वस्त्र पहना कर वन भेजते हुए क्या तुम्हें दुःख नहीं हुआ।"[4] भरत अपनी माता के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "मेरे लिए इतना बड़ा साम्राज्य उसी प्रकार दुर्वह है, जिस प्रकार

१- दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः ।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥

वही, २।७३।३

२- किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥

वही, २।७३।२

३- कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगूह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥

वही, २।७३।४

४- तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥

वही, २।७३।११

किसी छोटे से बछड़े के ऊपर लदा हुआ भार ।[1]

शोकविह्वल भरत का संयम टूट जाता है । वह अपनी माता को बुरा भला कहने लगते हैं । वह पुत्रवत्सला कौसल्या का स्मरण करते हुए कैकेयी से कहते हैं कि 'तुमने माँ कौसल्या का बिछोह उनके एकमात्र पुत्र से करा दिया है, इसलिये तुम्हें इस लोक और परलोक में सदैव दुःख ही दुःख भोगना पड़ेगा'।[2] भरत का अपराधी मन उन्हें धिक्कार उठता है और वह प्रायश्चित्त की भावना से तथा कैकेयी के कुकृत्य के लिए उसे चिढ़ाने के उद्देश्य से कहने लगते हैं कि 'मैं महाबली कोसलेन्द्र राम को यहाँ लाकर स्वयं मुनिवेश को स्वीकार कर वन को चला जाऊँगा'।[3] ऐसा कहते-कहते वह भूमि पर गिर पड़ते हैं। तदनन्तर चेतना लौटने पर भरत अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये कहने लगते हैं कि 'मैं न तो राज्य की ही कामना करता हूँ और न इसके लिए मैंने अपनी माता के साथ मन्त्रणा ही की है । महाराज दशरथ के द्वारा (राम के) जिस राज्याभिषेक का निश्चय किया गया था, वह भी मुझे ज्ञात नहीं था, क्योंकि उस समय मैं शत्रुघ्न के साथ यहाँ से बहुत दूर था।[4]

१- सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्धृतम् ।
दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा ॥

वही, २।७३।१६

२- एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।
तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥

वही, २।७४।२६

३- आनाय्य च महाबाहुं कोसलेन्द्रं महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥

वही, २।७४।३१

४- अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः ॥
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ वही, २।७५।२

इतने में कौशल्या उनके सामने आ जाती हैं । भरत को देखकर उनकी चेतना नष्ट हो जाती है और वह गिर जाती हैं । उन्हें इस अवस्था में देखकर भरत और शत्रुघ्न भी दु:खी हो जाते हैं और उनके गले से लिपट जाते हैं।

महाराज दशरथ के अन्तिम संस्कार के समय भरत का शोक और भी उद्दीप्त हो उठता है । वह विलाप करते हुए कहने लगते हैं कि "हे राजन् ! मैं अभी बाहर ही था और आपके पास पहुंच भी न पाया था कि आपने धर्मज्ञ राम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेजकर स्वयं भी स्वर्ग जाने का निश्चय कर लिया । हे महाराज ! मैं पुरुष सिंह राम से तो परित्यक्त था ही, आप भी मुझ दु:खी को इस प्रकार छोड़कर कहाँ जा रहे हैं । हे पिता जी !. जब श्री राम वन चले गये हैं और आप भी स्वर्ग को सिधार रहे हैं, तब इस नगर में योगक्षेम की व्यवस्था कौन करेगा ।"[१]

अन्त्येष्टि के तेरहवें दिन श्मशान-भूमि में जाकर पिता की अस्थियों का संचय करते हुये भरत और भी अधीर हो उठते हैं । उनका गला वाष्प-गद्गद् हो उठता है और वह उन्मत्त की भांति अपने पिता को उपालम्भ देते हुए कहने लगते हैं कि "हे पिता जी ! (इस समय तो मैं नितान्त असहाय हो गया हूं, क्योंकि) तुमने मुझे जिस राम को सौंपा था,वह मुझे छोड़कर पहले ही वन चले गये हैं और अब आप के द्वारा इस प्रकार से परित्यक्त होकर

१- किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ।।
क्व यास्यसे महाराज हित्वेमं दु:खितं जनम् ।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।।
योगक्षेमं तु ते व्यग्रं कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे ।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ।।

वही, २।७६।६-८

मैं तो बिल्कुल एकाकी रह गया हूँ।' ऐसा कहते कहते वह मूर्च्छित हो जाते हैं।[1]

अपने पूज्य पिता के चितास्थल को देखकर भरत की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। वह रो-रो कर पृथ्वी पर गिर जाते हैं।[2] भरत को इस प्रकार पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिरा हुआ देखकर शत्रुघ्न का भी धैर्य छूट जाता है और वह भी चेतनाशून्य होकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं।[3] चेतना के लौटने पर वह भी अपने पिता के गुणों का स्मरण करके विला करने लगते हैं। वह भी महाराज दशरथ का स्मरण करके कहने लगते हैं कि ' हे पिता जी ! आप भरत को छोड़ कर कहाँ चले गये हैं, वह अभी बच्चे बालक ही हैं और आप तो सदैव उनका प्यार-दुलार ही किया करते थे आप हम लोगों के लिए हमारी रुचि के नाना प्रकार के भोजन-पान तथा वस्त्राभूषणों को ला ला कर हमें दिया करते थे, अब यह सब कौन करेगा '।[4] आप जैसे धर्मज्ञ शासक के न रहने पर इस पृथ्वी को तो विदीर्ण

१- अग्रजापि चितकण्ठस्य शोधनार्थमुपागत: ।
चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदु:खित: ।।
तात यस्मिन्निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ।
तस्मिन्वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।।
यस्या: गतिरनाथाया: पुत्र: प्रव्राजितो वनम् ।
तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ।।
वही, २।७७।५-७

२- दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम् ।
पितु: शरीरनिर्वाणं निष्टनन्विषसाद ह ।।
स तु दृष्ट्वा रुदन्दीन: पपात धरणीतले ।
उत्थाप्यमान: शक्रस्य यन्त्रध्वज इव च्युत: ।।
वही, २।७७।८-९

३- शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ।
विसंज्ञो न्यपतद्भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ।।
वही, २।७७।११

४- सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ।
क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।।
ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च ।
प्रवारयसि न: सर्वांस्तन्न: कोऽद्य करिष्यति ।।
वही, २।७७।१४,१५

हो जाना चाहिये था, किन्तु आश्चर्य है कि इस समय भी यह विदीर्ण क्यों नहीं हो रही है।[१] शत्रुघ्न भी भरत के समान अपने जीवन को भारस्वरूप समझने लगते हैं और कहते हैं कि "जब पिता जी स्वर्गवासी हो गये और अग्रज भी राम वनवासी हो गये, तब मुझमें वह सामर्थ्य कहाँ कि मैं जीवित रह सकूँ। अब तो मैं भी अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। मैं अब उस अयोध्या नगरी में प्रवेश नहीं करूँगा, जो बड़े भाई और पिता से शून्य है और जिसका पालन सदैव इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के द्वारा किया जाता रहा है। मैं भी वन को चला जाऊँगा।"[२] इस प्रकार भरत और शत्रुघ्न को रोता-बिलखता देखकर समस्त परिजन पुरजन भी शोकमग्न हो उठते हैं और भरत तथा शत्रुघ्न दोनों भाई विषादग्रस्त होकर टूटे हुए सींग वाले दो बैलों की भाँति पृथ्वी पर गिर कर तड़पने लगते हैं।[३]

१- अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ।
विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ।।
वही, २।७७।१६

२- पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ।
किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।।
हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ।।
वही, २।७७।१७,१८

३- तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत् ।
भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ।।
ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ ।
धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ।।
वही, २।७७।१९,२०

यहाँ पर भरत और शत्रुघ्न आश्रय हैं, मृत पिता तथा वनवासी राम आलम्बन हैं, उद्दीपन हैं दशरथ की पूर्वचेष्टाएँ, उनका वात्सल्य, कैकेयी की क्रूरता, श्मशान भूमि में पिता की अस्थियों का अवलोकन, कौशल्या की व्याकुलता इत्यादि । अनुभाव के रूप में भरत-शत्रुघ्न का विलाप करना, उनका कण्ठावरोध, भूपात, कैकेयी के प्रति आक्रोश, आत निन्दा आदि हैं और व्यभिचारी हैं ग्लानि, वितर्क, चिन्ता, दैन्य,अप निर्वेद इत्यादि । इन सब से परिपुष्ट होकर शोक स्थायी भाव करुण के रूप में परिणत हो रहा है ।

अयोध्या में कुछ दिनों तक किसी प्रकार रहने के पश्चात् भरत राम से मिलने चित्रकूट जाते हैं । उस समय राम और भरत की भेंट का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन वाल्मीकि ने किया है । चित्रकूट पहुँच कर भरत राम से पिता की मृत्यु का वृत्तान्त बतलाते हैं । उसे सुनकर राम के ऊपर वज्रपा सा हो जाता है । वह अपने दोनों हाथों को ऊपर उठा कर उसी प्रका पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं जिस प्रकार खिली हुई टहनियों वाला वृक्ष कुल्हाड़ी से कट कर पृथ्वी पर गिर जाता है[१] । राम को धराशायी देख तीनों भाई सीता के साथ उन्हें घेर कर बैठ जाते हैं और अपनी अश्रुधारा से उन्हें भिगोने लगते हैं । थोड़ी देर में राम की चेतना लौट आती है अ उनके नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है । वह अपने प्रिय भाई भरत रो-रो कर कहने लगते हैं कि "जब पिता जी ही स्वर्गवासी हो गये तब अयोध्या में जाकर क्या करूँगा ? जब वह महाराज दशरथ ही नहीं रहे त

१- प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः ।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ।।

वही, २।१०३।३

अयोध्या का पालन कौन करेगा ?[1] राम अपने को धिक्कारते हुये कहने लगते हैं कि 'मैं अपने उन पिता जी का अन्तिम संस्कार तक न कर सका, जिन्होंने मेरे वियोग में अपने प्राणों का परित्याग कर दिया था । मुझ जैसे कुपुत्र से मेरे पिता जी का कौन सा लाभ हुआ है ।[2] राम अपनी अपे भरत को ही अधिक भाग्यवान् समझते हैं, क्योंकि भरत को कम से कम इतना अवसर तो मिल सका कि वह अपने पूज्य पिता का अन्तिम संस्कार कर सके पितृ-वियोग से व्यथित राम को अब अयोध्या में पुन: वापस जाने का उत्स नहीं रह गया है, क्योंकि वनवास की अवधि समाप्त करके घर वापस होने पर उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश कौन देगा ? इस दु:ख की घड़ी में भी रा पूर्ण रूप से अपना साहस और धैर्य नहीं खोते हैं और अपने मन की व्यथा को सीता और लक्ष्मण के साथ बँटाने के उद्देश्य से उन दोनों को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि 'अयि सीते ! तुम्हारे श्वसुर जी नहीं रहे । अरे लक्ष्मण ! अब तुम भी पितृहीन हो गये हो । भरत महाराज दशरथ के स्वर्गवास का समाचार लाये हैं ।[4] राम के मुख से इस प्रकार की कातर वा

१- किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ।। वही, २।१०३।८

२- किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मन: ।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृत: ।। वही, २।१०३।९

३- अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृत: ।। वही, २।१०३।१०

४- सीते मृतस्ते श्वशुर: पितृहीनोऽसि लक्ष्मण ।
भरतो दु:खमाचष्टे स्वर्गतिं पृथिवीपते: ।। वही, २।१०३।१५

को सुनकर सभी राजकुमारों के नेत्रों से अश्रु उमड़ आते हैं और अश्रुओं से दृष्टि धूमिल पड़ जाने के कारण सीता अपने प्रियतम राम को देख भी नहीं पाती है।[1] इस प्रकार बहुत देर तक रुदन-विलाप चलता रहता है। अन्त में राम अपने दिवङ्गत पिता को निवापाञ्जलि अर्पित करके अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

यहाँ पर आश्रय हैं राम, भरत, शत्रुघ्न और सीता, आलम्बन हैं दिवङ्गत महाराज दशरथ, भरत के मुख से अपने पिता की मृत्यु का वृत्तान्त श्रवण और राम के द्वारा अपने पिता की अन्त्येष्टि न कर सकने के कारण उत्पन्न पश्चाताप की भावना उद्दीपन है। राम का मूर्च्छापात, उनका तथा उनके भाइयों का रुदन, सीता के नेत्रों में अश्रुओं का उमड़ना आदि अनुभाव हैं और चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे परिपुष्ट होकर शोक स्थायी भाव करुण रस के रूप में चर्वणा योग्य बन गया है।

किष्किन्धाकाण्ड में बालि के वध पर तारा के विलाप में करुण रस का मार्मिक प्रसङ्ग है। तारा को अपने पति की मृत्यु का समाचार प्राप्त होता है। इससे वह अत्यन्त विह्वल हो उठती है। पतिविहीना तारा के मन में इस संसार और अपने जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह कहती है कि 'जब मेरे पतिदेव ही नहीं रहे, तब मुझे पुत्र से, राज्य से

1- सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम्॥
वही, 2/103/18

तथा अपने इस जीवन से भी क्या प्रयोजन है।[1] वह वानरों के मुकाव को ठुकरा कर बालि के समीप जाने के अपने दृढ़ निश्चय को व्यक्त करती हुई कहती है कि "मैं तो उन महाबली बालि के चरणों के समीप ही जाऊँगी, जिन्हें राम ने अपने बाणों से मार कर गिरा दिया है।"[2]

ऐसा कहकर शोकातुरा तारा रोती हुई और अपने सिर तथा वक्षस्थल को पीटती हुई वेगपूर्वक भाग पड़ती है। बालि के समीप आकर जब तारा उसे पृथ्वी पर मरा हुआ देखती है तब उसका धैर्य छूट जाता है और वह उसे उपालम्भ देती हुई कहने लगती है कि "हे वानरराज! इस समय आप मुझे अपने सामने देखकर भी मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं?"[3] बालि के प्रति अपने अनुरागातिरेक के कारण उसे यह ध्यान ही नहीं रहता है कि बालि मर चुका है। तारा उससे भूमि से उठकर शय्या पर शयन करने के लिए कहती है, क्योंकि उसके अनुसार बालि जैसे वीरों को पृथ्वी पर शयन करना शोभा नहीं देता है। शोक के आवेग के कारण तारा को बालि का पृथ्वी पर पड़ा रहना भी असह्य है। वह उन्मत्त की भाँति पृथ्वी के प्रति असूया व्यक्त करती हुई कहती है कि "हे पृथ्वीनाथ! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपको यह पृथ्वी अत्यन्त प्यारी है, इसीलिये

१- पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन्भर्तरि नश्यति ।। वही, ४।१६।१८

२- पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ।। वही, ४।१६।१६

३- उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम् ।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ।। वही, ४।२०।४

तो आप इस मृत अवस्था में भी मुझे छोड़कर इस पृथ्वी का आलिङ्गन करके पड़े हुये हैं ।[1] अपने मृत पति को देखकर तारा को अपनी संयोगावस्था के क्षणों का स्मरण हो आता है जिससे उसका हृदय और भी शोकाकुल हो उठता है । वह विलाप करती हुई कहने लगती है कि 'इस दशा को प्राप्त होकर आपने मेरे उन सभी विहारों को समाप्त कर दिया है, जिनका आनन्द मैं आपके साथ सुगन्धित वनों में लिया करती थी' ।[2] तारा के शोक की मात्रा यह सोच-सोच कर और भी बढ़ती जाती है कि उसने इससे पूर्व कभी किसी दुःख का अनुभव किया ही नहीं था, किन्तु आज से उसे वैधव्य के असह्य दुःख को सहन करना पड़ेगा ।[3] इसके साथ ही साथ तारा का हृदय आत्मग्लानि से भर जाता है और वह अपने आपको धिक्कारती हुई कहती है कि 'इस घोर विपत्ति की घड़ी में भी मेरा हृदय टूक-टूक क्यों नहीं हो जाता है' ।[4]

अपने प्रिय पुत्र अङ्गद को देखकर और उसके अन्धकारपूर्ण भविष्य की

१- व्यक्तमद्य त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तता ।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥
वही, ४।२०।६

२- निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥
वही, ४।२०।८

३- लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः ।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्छिते ॥
वही, ४।२०।९

४- सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः ।
यत्तस्य त्वया व्युष्टिः प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥
वही, ४।२०।१०

आशङ्का से तारा का शोक और भी उद्दीप्त हो जाता है । वह बिलख-बिलख कर बालि से कहती है कि 'हे नाथ ! आपका वीर पुत्र अङ्गद अत्यन्त सुकुमार और सुखोपभोग करने के योग्य है । वह तो आपका अत्यन्त लाड़ला था, अब अपने क्रोधान्ध चाचा के वशीभूत होने पर उसकी क्या दशा होगी'?[1] इसके पश्चात् वह अपने बेटे अङ्गद को सम्बोधित करके कहती है कि 'हे पुत्र ! तुम अपने धर्मप्रिय पिता को भलीभांति देख लो, क्योंकि इसके बाद तुम उनका दर्शन कभी न कर सकोगे ।'[2] तारा विह्वल होकर अपने पति को सम्बोधित करती हुई कहती है कि 'हे प्राणनाथ ! अब आप अन्यत्र जा रहे हैं, इसलिये आप अपने प्यारे पुत्र का मस्तक सूंघकर इसे धैर्य बंधाइये और मुझे भी अपना कोई सन्देश देकर सान्त्वना देते जाइये'[3] । वह अत्यन्त दीन होकर पुनः विलाप करती हुई कहती है कि 'हे वानरराज ! मैं तो आपकी प्रियतमा हूं, तथापि मुझे इस प्रकार रोती-बिलखती देखकर भी आप बोल क्यों नहीं रहे हैं? देखिये तो ये आपकी बहुत सी सुन्दरी स्त्रियां यहां पर उपस्थित हैं, इन्हीं से कुछ बोल दीजिये'[4] ।

१- सुदृष्टं पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम् ।
दुर्लभं दर्शनं तस्य तव वत्स भविष्यति ।।

वही, ४।२०।१७

२- समाश्वासय पुत्रं त्वं सन्देशं सन्दिशस्व मे ।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ।।
वही, ४।२०।१८

३- रामेण हि महत्कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता ।
आनृण्यं तु गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ।।
वही, ४।२०।१९

४- तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः ।
परिगृह्याङ्गदं दीना दुःखार्ताः प्रतिचुक्रुशुः ।।
वही, ४।२०।२२

इस प्रकार बहुविध विलाप करने के पश्चात् तारा एक सती स्त्री की भाँति यह निश्चय कर लेती है कि उसके लिये बालि का अनुगमन करने से बढ़कर इस लोक अथवा परलोक में अन्य कोई श्रेयस्कर मार्ग है ही नहीं । वह बालि की चिता का आश्रय लेने में ही अपना कल्याण समझती है।[1]

विलाप करती हुई तारा के इन शब्दों में कितनी व्यथा है । वह कहती है कि 'बुद्धिमान् व्यक्ति को अपनी कन्या किसी शूरवीर को नहीं सौंपना चाहिये, क्योंकि देखो तो, मैं इस शूर वीर की पत्नी होने के कारण ही विधवा बना दी गयी हूँ और इस प्रकार मेरा सर्वस्व लुट गया है'।[2] 'मुझे इस बात का बड़ा अभिमान था कि मैं राजरानी हूँ, आज मेरा वह अभिमान चूर-चूर हो गया और मैं अगाध शोक-सागर में निमग्न हो रही हूँ'।[3] 'हाय ! आपके हृदय में बिंधे इस बाण के कारण मैं भी भर कर आपका आलिङ्गन भी नहीं कर पा रही हूँ और अपने सम्मुख ही आपको इस प्रकार

१- नहि मम हरिराजसंगमात्
क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा ।
अभिमुखरणवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥ वही, ४।२१।१६

२- शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता ।
शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम् ॥
वही, ४।२३।८

३- अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः ।
अगाधे च निमग्नास्मि विपुले शोकसागरे ॥
वही, ४।२३।९

प्राणों का परित्याग करते हुए देख रही हूँ`।[1] बालि की मृत्यु को आसन्न समझ कर तारा अपने प्रिय पुत्र अङ्गद से उन को अन्तिम प्रणाम करने के लिये कहती है । अङ्गद बालि के चरणों में अपना प्रणाम निवेदित करते हैं, किन्तु बालि के मुख से अपने प्रिय पुत्र के लिए आशीर्वचनों को न सुनकर तारा पुनः विलाप करती हुई कहती है कि `हे प्राणनाथ ! आपका प्रिय पुत्र अङ्गद आपको प्रणाम कर रहा है, किन्तु आप `हे बेटे ! चिर जीव रहो`, ऐसा कह कर उसे आशीर्वाद क्यों नहीं दे रहे हैं`।[2]

बालिवध से तारा अत्यन्त दुःखी हो जाती है । अब उसे अपने जीवन के प्रति कोई मोह नहीं रह गया है । वह राम से कहती है कि `आपने जिस बाण से बालि का वध किया है, उसी से मेरा भी वध कर दीजिये, जिससे मैं भी मर कर उनके समीप जा सकूँ, क्योंकि मेरे बिना बालि को कहीं भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता है`।[3] तारा के इस दुःख का कारण है— उसका आत्मविश्वास । उसका दृढ़ विश्वास है कि स्वर्ग में भी उसको न पाकर बालि को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसे छोड़कर

१- शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव ।
वार्यामि त्वां निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते ॥

वही, ४।२३।१६

२- अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ।
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ॥

वही, ४।२३।२५

३- येनैकबाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मां विना वीर रमेत वाली ॥ वही, ४।२४।३३

बालि का मन स्वर्ग की अप्सराओं में कभी नहीं रम सकता है ।[1] शोकावेग के कारण तारा राम से ऐसी बातें करती है, जो उनके मर्म का स्पर्श कर लें । वह कहती है कि 'स्त्री के बिना किसी युवा पुरुष को किस प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है, इसे तो आप स्वयं भलीभांति जानते हैं, इसलिये आप मेरा वध करके मुझे भी उनके समीप पहुंचा दीजिये, जिससे उन्हें स्त्री-वियोग का दुःख दुःखित न कर सके'।[2] ऐसा कहकर तारा अपने मृत पति के मस्तक को अपनी गोद में लेकर विलाप करने लगती है । वह कहती है कि 'हा वानरों के महाराज ! हा मेरे दयालु प्राणनाथ ! हा परमपूजनीय वीर ! हा मेरे प्रियतम ! एक बार मेरी ओर निहार तो लो । तुम इस शोक-पीड़ित दासी पर दृष्टिपात तक क्यों नहीं कर रहे हो'।[3] दुःख के इन क्षणों में भी तारा को अपने संयोग काल का स्मरण हो जाता है और वह बालि को सम्बोधित करती हुई कहती है कि 'हे शत्रुसूदन ! तुम पूर्व की भांति अपने इन पत्नियों को विदा तो कर दो जिससे हम सब मदोन्मत्त होकर इन वनों में तुम्हारे साथ क्रीड़ा कर सकें'।[4]

१- स्वर्गेऽपि पद्मामलपद्मनेत्र
समेत्य सम्प्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ।।
वही, ४।२४।३४

२- त्वं वेत्थ तावद्वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः ।
तत्त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत ।।
वही, ४।२४।३६

३- हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ।
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम् ।।
कथं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडिताम् ।।
वही, ४।२५।४०

४- विसर्जयैनान्प्रवितान्प्रमदापुरमरिन्दम ।।
ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ।।
वही, ४।२५।४५

बालि के वध से सुग्रीव के मर्म पर भी आघात हुआ है। अपने प्रिय अग्रज की मृत्यु को देख कर उन्हें सभी प्रकार के सुखों से विरक्ति हो जाती है और वह कातर स्वर में राम से कहने लगते हैं कि 'मैं पूर्ववत् ऋष्यमूक पर्वत पर निर्वाह कर लूंगा, किन्तु अपने भाई का वध कराकर मुझे स्वर्ग का राज्य भी श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता है'[1]। सुग्रीव का हृदय उसे धिक्कार उठता है और वह कहता है कि 'वास्तव में बालि के मन में मेरे वध का विचार नहीं था, खोट तो मेरे मन में थी, जिससे अपने भाई के प्रति ऐसा अपराध कर डाला है, जो उसके लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ है'[2]। बालि की मृत्यु के लिए अपने को दोषी ठहराते हुए सुग्रीव कहते हैं कि 'अपने इस कुलघाती कर्म को करके मैं प्रजा के सम्मान का पात्र भी नहीं रह गया हूं। राज्य प्राप्त करने की तो बात ही दूर है, वास्तव में तो अपने इस पाप के कारण मैं युवराज होने के योग्य भी नहीं रह गया हूं'[3]।

१- श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन्हि वासश्चिरमृश्यमूके ।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥

वही, ४।२४।७

२- वधो हि मे मतो नासीत्स्वमाहात्म्यव्यतिक्रमात् ।
ममासीद्बुद्धिदौरात्म्यात्प्राणहारी व्यतिक्रमः ॥

वही, ४।२४।१०

३- नार्हामि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम् ।
अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्तम्
एवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥

वही, ४।२४।१५

यहाँ पर तारा, सुग्रीव, अङ्गद तथा अन्य वानर आश्रय हैं और मृत बालि आलम्बन है। बालि के वचन, उसके पूर्व कर्म आदि उद्दीपन हैं। तारा, सुग्रीव आदि के द्वारा वक्षस्थल-ताड़न, मूर्छित होना, पश्चात्ताप करना आदि अनुभाव हैं। व्यभिचारी हैं ग्लानि, चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि। इन सबसे परिपुष्ट होकर करुण रस आस्वाद्य हो रहा है।

रणस्थल में राम और रावण की सेनायें डटी हुई हैं। मेघनाद के साथ लक्ष्मण का युद्ध हो रहा है। मेघनाद अदृश्य होकर दोनों भाइयों पर प्रहार कर रहा है। उसके अदृश्य होने के कारण राम और लक्ष्मण मेघनाद पर प्रहार करने में असमर्थ हैं। अपनी मायावी शक्ति का प्रयोग करता हुआ मेघनाद राम लक्ष्मण पर अस्त्रों की झड़ी लगा देता है। वह नाग-पाश का भी प्रयोग करता है। फलस्वरूप राम-लक्ष्मण उसके नागपाश से बद्ध होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं और संज्ञा हीन हो जाते हैं। राम और लक्ष्मण को मृतप्राय देखकर सभी वानर रुदन करने लगते हैं। कुछ क्षणों के पश्चात् चेतना लौटने पर लक्ष्मण को रक्तरञ्जित देखकर राम आतुर हो कर विलाप करने लगते हैं। वह कहते हैं कि '(समर्थ होने पर भी) जब मैं अपने छोटे भाई को युद्ध में पराजित होकर अचेत पड़ा देख रहा हूँ, तब मैं सीता को प्राप्त करके और स्वयं जीवित रह कर ही क्या करूँगा। संसार में खोजने पर सीता के समान स्त्री भले ही मिल जाये, किन्तु लक्ष्मण जैसा भाई तथा सहायक और चतुर योद्धा कभी नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि कहीं लक्ष्मण ने प्राणों का परित्याग कर दिया, तो मैं भी इन वानरों के सामने ही प्राण दे दूँगा अन्यथा अयोध्या लौट कर मैं पुत्र-दर्शन के लिए आतुर माताओं को क्या उत्तर दूँगा'[1]। राम पश्चात्ताप की भावना

१- किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

से आत्मनिन्दा करते हुये कहते है कि 'मुझ जैसे पापी और अनार्य को धिक्कार है, जिसके कारण लक्ष्मण इस अवस्था को प्राप्त हुये है ।'[1] लक्ष्मण के साथ बिताये गये सुखद दिनों का स्मरण करते हुए राम रो-रो कर कातर स्वर मे कहते है कि 'जब मैं विचलित हो जाता था, तब तुम्हीं मुझे धीरज बंधाया करते थे, किन्तु आज जब मैं इतना दुःखी हो रहा हूं, तब तुम इस प्रकार निर्जीव होकर पड़े हुए हो और मुझसे बात तक नहीं कर रहे हो'[2]। प्रिय भाई लक्ष्मण की मूर्च्छा राम के लिये असह्य हो जाती है और वह लक्ष्मण से कहने लगते है कि 'जिस प्रकार अयोध्या छोड़कर मेरे वन जाते समय तुमने मेरा अनुगमन किया था उसी प्रकार जब तुम इस संसार को छोड़कर यम लोक को जा रहे हो तब मैं भी तुम्हारा अनुकरण करूंगा ।'[3] लक्ष्मण

अन्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता ।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः ॥
परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान्वानराणां तु पश्यताम् ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥
किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम् ।
कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम् ॥
विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव ।
कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना ॥
वही, ६।४९।५-९

१- इहैव देहं त्यक्ष्यामि नहि जीवितुमुत्सहे ॥
वही, ६।४९।१२

२- धिङ्मां दुष्कृतकर्माणमनार्यं मत्कृते ह्यसौ ।
लक्ष्मणः पातितः शैते शरतल्पे गतासुवत् ॥
वही, ६।४९।१३

३- बाणाभिहतमर्मत्वान्न शक्नोषीह भाषितुम् ।
रुजा चाब्रुवतो यस्य दृष्टिरागेण सूच्यते ॥
वही, ६।४९।१७

के मधुर व्यवहार का स्मरण करते हुए राम पुनः कहते हैं कि 'मुझे ऐसे किसी अवसर का स्मरण नहीं आ रहा है जब लक्ष्मण ने मुझसे क्रोध में भी कभी कोई कठोर या कटु बात कही हो'।[1] अपने प्रिय भाई लक्ष्मण के शौर्य और सौकुमार्य का स्मरण करते हुए राम विलाप करते हुए कहते हैं कि 'जो लक्ष्मण अपने अस्त्रों से इन्द्र के भी अस्त्रों को काट दिया करते थे, वही लक्ष्मण इस समय स्वयं मारे गये हैं, जो महार्घ शय्या पर शयन करने वाले थे, वही इस समय भूमि पर पड़े हुये हैं'।[2]

इसी प्रकार लक्ष्मण की मूर्च्छा को देखकर राम के विलाप का वर्णन रामायण में अन्यत्र भी हुआ है। राम और रावण की सेनाओं में घमासान युद्ध चल रहा है। रावण के द्वारा छोड़े गये बाणों के प्रहार से मूर्च्छित होकर लक्ष्मण युद्ध-स्थल में गिर पड़ते हैं। वह भूमि पर पड़े हुए एक घातविघात सर्प की भाँति छटपटा रहे हैं। अपने प्राणों से प्रिय भाई लक्ष्मण की इस अवस्था को देखकर राम व्यथित हो उठते हैं और उनके मन में अवसाद छा जाता है। उनमें युद्ध करने का उत्साह ही नहीं रह जाता है। लक्ष्मण के बिना उन्हें अपना जीवन निरर्थक प्रतीत होने लगता है। अपनी इस विषण्णावस्था का वर्णन करते हुए राम स्वयं कहते हैं कि 'इस समय मेरा पराक्रम लज्जित सा हो रहा है, धनुष हाथ से खिसका जा रहा है, बाण

१- इष्टबन्धुजनो नित्यं मां च नित्यमनुव्रतः ।
इमामद्य गतोऽवस्थां ममानार्यस्य दुर्नयैः ॥

वही, ६।४९।१९

२- अस्त्रैरस्त्राणि यो हन्याच्छक्रस्यापि महात्मनः ।
सोऽयमुर्व्यां हतः शेते महार्हशयनोचितः ॥

वही, ६।४९।२२

शिथिल पड़ रहे हैं और नेत्रों में अश्रु उमड़ रहे हैं[1]। दुष्ट रावण के द्वारा अपने प्रिय भाई लक्ष्मण को मरा हुआ समझ कर उनमें भी मरने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। लक्ष्मण की आह-कराह को सुनकर उनका हृदय विदीर्ण होने लगता है। लक्ष्मण की दयनीय दशा को देखकर राम के मन में अपने जीवन तथा इस संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। वह कहते हैं कि '(जब लक्ष्मण ही इस प्रकार मुझसे बिछुड़ रहे हैं तब) मुझे इस युद्ध से क्या प्रयोजन है, मुझे अपने प्राणों से ही क्या? अब तो युद्ध करना भी व्यर्थ ही है'[2]। लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति का स्मरण करते हुए राम कहते हैं कि 'जिस प्रकार वन जाते समय लक्ष्मण ने मेरा अनुगमन किया था, उसी प्रकार आज मैं भी यमलोक को जाते हुए लक्ष्मण के पीछे-पीछे चला जाऊँगा'[3]। सीता को प्राप्त करने के लिए लक्ष्मण के प्राणों का मूल्य देना उन्हें अभीष्ट नहीं है, अतः उनका रोम-रोम दुःख और पश्चात्ताप से तड़प रहा है और उनके मुख से बरबस यही शब्द निकल पड़ते हैं कि 'स्त्रियाँ और बन्धु-बान्धव तो प्रत्येक देश में मिल जाते हैं किन्तु मुझे ऐसा कोई देश नहीं दिखाई पड़ता है, जहाँ सहोदर भाई प्राप्त हो सके'[4]। कितनी

१- सज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद्धनुः ।
सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता ॥
वही, ६।१०१।६

२- किं मे राज्येन किं प्राणैर्युद्धे कार्यं न विद्यते ।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ॥
वही, ६।१०१।१२

३- यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥
वही, ६।१०१।१३

४- देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥
वही, ६।१०१।१५

वेदना है राम की इस उक्ति में । सीता की सोच में उन्हें अपने भ्रातृ-भक्त भाई को खो देना सह्य नहीं है । अपने प्रिय भाई लक्ष्मण के लिये वह अपने आपको ही दोषी मानते हुए कहते हैं कि 'लक्ष्मण को लिये बिना अयोध्या जाने पर जब मेरी मातायें और मेरे भाई लक्ष्मण के सम्बन्ध में पूछने लगेंगे, तब उन सबको मैं क्या उत्तर दूँगा ? लक्ष्मण के बिना अयोध्या लौटकर अपने भाइयों की खरी-खोटी बातें सुनने की अपेक्षा उन्हें यहीं अपने प्राणों का परित्याग कर देना अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है'[1]। राम हताश होकर लक्ष्मण को उपालम्भ देने लगते हैं । वह कहते हैं कि ' तुम मुझे इस प्रकार एकाकी छोड़कर अकेले ही परलोक क्यों जा रहे हो । भैया ! मैं बिलख रहा हूँ, फिर भी तुम मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हो । उठो, नेत्र खोल कर मुझे देख तो लो । इस प्रकार सो क्यों रहे हो । हे वीर ! जिस समय मैं दु:खी और पागल की भाँति वनों और पर्वतों पर भटकता फिरता था, उस समय तुम्हीं तो मुझे सान्त्वना दिया करते थे, (फिर इस समय तुम मुझसे इतने उदासीन क्यों हो रहे हो ?)'[2]।

१- किं नु राज्येन दुर्धर्ष लक्ष्मणेन विना मम।
कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ।।
उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ।।
किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम् ।
भरतं किं नु वक्ष्यामि शत्रुघ्नं च महाबलम् ।।
सह तेन वनं यातो विना तेनागत: कथम् ।
इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम् ।।
वही, ६।१०१।१६-१८

२- हा भ्रातर्मनुजश्रेष्ठ शूराणां प्रवर प्रभो ।
एकाकी किं नु मां त्यक्त्वा परलोकाय गच्छसि ।।
विलपन्तं च मां भ्रात: किमर्थं नावभाषसे ।
उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा ।।
शोकार्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च ।
विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम ।।
वही, ६।१०१।२०-२२

यहाँ राम आश्रय हैं, लक्ष्मण आलम्बन हैं, उनकी मूर्च्छा उद्दीपन विभाव है। राम के द्वारा आत्म निन्दा करना तथा उच्च स्वर में रुदन करना आदि अनुभाव हैं, ग्लानि, चिन्ता, निर्वेद, विषाद आदि व्यभि-चारी भाव हैं। प्रस्तुत प्रसंग अनिष्टाप्ति से उत्पन्न करुण रस का उदाहरण है। यहाँ लक्ष्मण को अनिष्टावस्था में देखकर राम में शोकस्थायी भाव का उदय होता है, जो विभावादि उचित सामग्री से परिपुष्ट होकर करुण रस रूप में चर्वणा योग्य हो रहा है।

युद्ध स्थल में राम के द्वारा कुम्भकर्ण के वध का समाचार सुनकर महान् अभिमानी रावण का धैर्य टूट जाता है और वह मूर्च्छित हो कर गिर पड़ता है। तदनन्तर लब्धसंज्ञ होने पर वह कुम्भकर्ण की मृत्यु पर विलाप करने लगता है। वह रो - रो कर कहने लगता है कि 'हा वीर! हा शत्रुओं के दर्प का दलन करने वाले! हा बली कुम्भकर्ण! यह मेरा कैसा भाग्य है कि तुम मुझे छोड़कर यमलोक को जा रहे हो'[1]। रावण को इस बात की चिन्ता है कि अभी उसका कण्टक राम नष्ट भी नहीं हुआ है तथापि कुम्भकर्ण उसे छोड़कर चल बसे हैं। कुम्भकर्ण तो उसकी दक्षिण भुजा के समान था और उसी के बल पर देवताओं और दानवों को वह कुछ समझता ही न था। उसे कुम्भ-कर्ण जैसे भाई के प्राणों की आहुति देकर न राज्य की ही इच्छा है और न उस सीता को ही प्राप्त करने की लालसा रह गई है, जिसके लिये उसने राम से बैर ठान लिया है[2]। इस समय उसे अपने जीवन से अरुचि हो गयी है।

१- हा वीर रिपुदर्पघ्न कुम्भकर्ण महाबल ।
त्वं मां विहाय वै दैवाद्यातोऽसि यमसादनम् ॥
वही, ६।६८।१०

२- राज्येन नास्ति मे कार्यं किं करिष्यामि सीतया ।
कुम्भकर्णविहीनस्य जीविते नास्ति मे रतिः ॥
वही, ६।६८।१७

वह कुम्भकर्ण जैसे अपने भाइयों की मृत्यु हो जाने पर जीवित नहीं रहना चाहता है।[1] रावण का मन आत्मग्लानि और पश्चाताप से भर जाता है। वह विलाप करता हुआ कहता है कि 'पहले मैंने जिन देवताओं का अपकार किया था, वही देवता इस समय मुझे इस अवस्था में पड़ा देखकर मेरा उपहास करेंगे'। उसे इस बात की भी चिन्ता है कि वह कुम्भकर्ण के बिना इन्द्र पर विजय कैसे प्राप्त कर सकेगा।[2] अपने हितैषी भाई विभीषण के वचनों को न मानने का दुःख भी उसके हृदय को साल रहा है। वह बार-बार इस अनुताप से दग्ध हो रहा है कि उसने विभीषण के कल्याणकारी उपदेशों पर ध्यान नहीं दिया था, जिसके कारण उसे कुम्भकर्ण और प्रहस्त जैसे वीरों से हाथ धोना पड़ रहा है। साधारण मनुष्यों की भांति रावण के मन में भी श्मशान का ज्ञान और वैराग्य जागृत हो उठता है। वह अपने उन कर्मों के लिये पश्चाताप कर रहा है जिनके कारण उसने विभीषण जैसे शुभचिन्तक भाई को घर से निकाल दिया था।[3]

कुम्भकर्ण के वध के पश्चात् रावण के अन्य पुत्र तथा पराक्रमी सैनिक भी युद्धभूमि में मारे जाते हैं। इन्द्रजयी मेघनाद का दारुण तथा अद्भुत वध सुनते ही रावण मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर जाता है। कुछ क्षणों के

१- अद्यैव तं गमिष्यामि देशं यत्रानुजो मम ।
नहि भ्रातॄन्समुत्सृज्य क्षणं जीवितुमुत्सहे ॥
वही, ६।६८।१९

२- देवा हि मां हसिष्यन्ति दृष्ट्वा पूर्वापकारिणम् ।
कथमिन्द्रं जयिष्यामि कुम्भकर्ण हते त्वयि ॥
वही, ६।६८।२०

३- तदिदं मामनुप्राप्तं विभीषणवचः शुभम् ।
यदज्ञानान्मया तस्य न गृहीतं महात्मनः ॥
विभीषणवचस्तावत्कुम्भकर्णप्रहस्तयोः ।
विनाशोऽयं समुत्पन्नो मां व्रीडयति दारुणः ॥
तस्यायं कर्मणः प्राप्तो विपाको मम शोकदः ।
यन्मया धार्मिकः श्रीमान्स निरस्तो विभीषणः ॥
वही, ६।६८।२१-२३

के पश्चात् उसकी मूर्च्छा नष्ट हो जाती है, वह शोकविह्वल होकर विलाप करने लगता है। वह कहता है कि 'हे पुत्र! जब तुमने इन्द्र को भी पराजित कर दिया था, तब फिर आज लक्ष्मण के हाथों तुम्हारा वध कैसे कर दिया गया है'[1]। अपने प्रियपुत्र मेघनाद के पराक्रम की स्मृति उसके हृदय को और भी विद्ध करने लगती है। वह बिलख-बिलख कर कहता है कि 'तुम्हीं तो हो, जो क्रुद्ध होकर अपने बाणों से काल और यमराज का भी भेदन कर डालते थे तथा मन्दराचल की चोटियों को तोड़-फोड़ डालते थे। आज तुम्हें इस प्रकार रण-क्षेत्र में मरा हुआ देखकर मुझे यमराज की शक्ति का ज्ञान हो गया, जिसके कारण तुम्हारा वध कर दिया है'[2]। 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' यह उक्ति रावण के सम्बन्ध में अक्षरशः चरितार्थ हो रही है। रावण का प्राणप्रिय शूरवीर पुत्र मेघनाद मृत पड़ा हुआ है। ऐसे समय में भी जहाँ एक ओर उसे अपने पुत्र का वध खल रहा है, वहाँ उसे यह सोच-सोच कर भी महान् कष्ट का अनुभव हो रहा है कि आज मेघनाद को मरा हुआ देखकर सभी देवता, लोकपाल और महर्षि निर्भय होकर सुख की नींद सोयेंगे[3]। मेघनाद के वध से उत्पन्न अन्तःपुर के हाहाकार को सुनकर रावण का हृदय

१- हा राक्षसचमूमुख्य मम वत्स महाबल ।
जित्वेन्द्रं कथमद्य त्वं लक्ष्मणस्य वशं गतः ॥

वही, ६।९२।६

२- ननु त्वामिषुभिः क्रुद्धो भिन्द्याः कालान्तकावपि ।
मन्दरस्यापि शृङ्गाणि किं पुनर्लक्ष्मणं युधि ॥
अद्य वैवस्वतो राजा भूयो बहुमतो मम ।
येनाद्य त्वं महाबाहो संयुक्तः कालधर्मणा ॥

वही, ६।९२।७,८

३- अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः ।
हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः ॥

वही, ६।९२।१०

और भी विदीर्ण होने लगता है । रावण का पितृ-हृदय इस वास्तविकता को स्वीकार ही नहीं करना चाहता है कि उसका प्रिय पुत्र उसके जीवन काल में ही उसे छोड़कर स्वर्ग सिधार रहा है । वह कह उठता है कि 'होना तो यह चाहिये था कि तुमसे पहले यमलोक को मैं जाता और तुम यहाँ रह कर मेरे प्रेतकर्मों को सम्पन्न करते, किन्तु यहाँ तो विधान ही उलट गया है । तुम यमलोक सिधार गये हो और मुझे तुम्हारा प्रेतकर्म सम्पादित करना पड़ रहा है ।'[1]

यहाँ भाइयों तथा पुत्र के शोक से सन्तप्त रावण आश्रय है । कुम्भ-कर्ण तथा मेघनाद आलम्बन विभाव, उनकी मृत्यु उद्दीपन विभाव है । रावण का भूमिपात, मूर्च्छित होना, उच्च स्वर रुदन आदि अनुभाव हैं । यहाँ शोक स्थायीभाव उपर्युक्त विभाव, अनुभाव तथा वितर्क, अपस्मार, विषाद आदि व्यभिचारी-भावों से पुष्ट होकर करुणारस रूप में अभिव्यक्त हो रहा है ।

रामायण में रावण-वध के प्रसङ्ग में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है । रावण की मृत्यु पर विभीषण राक्षसियों, रावण के अन्तःपुर की स्त्रियों तथा मन्दोदरी का विलाप इसके प्रसङ्ग हैं । युद्धभूमि में राम के द्वारा लङ्काधिपति रावण के वध को देखकर विभीषण अत्यन्त शोक-विह्वल हो उठता है । वह अपने प्रिय भाई को भूमि पर पड़ा देखकर बिलख-बिलख कर कहने लगता है कि 'हा विख्यात वीर भाई ! आप तो सदैव बहुमूल्य शय्या पर ही शयन किया करते थे, तो फिर इस समय आप भूमि

१- मम नाम त्वया वीर गतस्य यमसादनम् ।
प्रेतकार्याणि कार्याणि विपरीते हि वर्तसे ॥

वही, ६।९२।१४

पर क्यों पड़े हुए हैं।[1] विभीषण को इस बात का अत्यन्त दुःख है कि उसने अपने भाई के ऊपर आने वाले इस घोर संकट की सूचना उसे पहले ही दे दी थी तथापि उसने मोह और काम के वशीभूत होने के कारण विभीषण की बात पर ध्यान नहीं दिया था।[2] रावण के साथ सैद्धान्तिक विरोध होने पर भी विभीषण के लिये उसका वध असह्य है। वह रावण की तुलना एक महान् वृक्ष, गन्धगज, अग्नि की ज्वाला और वृषभ से करता हुआ इस बात पर दुःख प्रकट करता है कि राम ने क्रमशः झंझावात, सिंह, मेघ और व्याघ्र बन कर उसका संहार कर डाला है।[3] भाई से बड़ा विरोध भी

१- वीर विक्रान्त विख्यात प्रवीण नयकोविद ।
महार्हशयनोपेत किं शेषे निहतो भुवि ।।
वही, ६।१०९।२

२- यदिदं वीर सम्प्राप्तं मया पूर्वं समीरितम् ।
काममोहपरीतस्य यत्तन्न रुचितं तव ।।
वही, ६।१०९।४

३- धृतिप्रवाल: प्रसहाग्र्यपुष्प-
स्तपोबल: शौर्यनिबद्धमूल: ।
रणे महान्राक्षसराजवृक्ष:
सम्मर्दितो राघवमारुतेन ।।
तेजोविषाण: कुलवंशवंश:
कोपप्रसादापरगात्रहस्त: ।
इक्ष्वाकुसिंहावगृहीतदेह:
सुप्त: क्षितौ रावणगन्धहस्ती ।।
पराक्रमोत्साहविजृम्भितार्चि-
र्नि:श्वासधूम: स्वबलप्रताप: ।
प्रतापवान्संयति राक्षसाग्नि-
र्निर्वापितो रामपयोधरेण ।।
सिंहर्क्षलाङ्गूलककुद्विषाण:
पराभिजिद्गन्धनगन्धवाह: ।
रक्षोवृषश्चापलकर्णचक्षु:
क्षितीश्वरव्याघ्रहतोऽवसन्न: ।।
वही, ६।१०९।९-१२

सहज स्नेह को नष्ट नहीं कर सकता है इसका सुन्दर निदर्शन विभीषण के उस विलाप में उपलब्ध होता है जहाँ वह रावण के मृत शरीर को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखकर रो-रो कर कहता है कि "हाय, आज इस वीर रावण के धराशायी हो जाने से नीतिज्ञों की मर्यादा नष्ट हो गयी, धर्म का विग्रह टूट गया, सत्त्व का संग्रह नष्ट हो गया, हाथों का सुन्दर करतब दिखलाने वालों की गति नष्ट हो गयी है।[1] आज तो प्रिय भाई रावण क्या मरा है मानो सूर्य ही पृथ्वी पर आ गिरा है, चन्द्रमा अन्धकार में छिप गया है, अग्नि की चिनगारियाँ शान्त हो गयी है और समस्त उत्साह ही निरर्थक हो गया है।[2]

यहाँ पर विभीषण आश्रय, रावण आलम्बन, उसका क्षत-विक्षत शरीर और उसके पराक्रम की स्मृतियाँ उद्दीपन विभाव हैं। विभीषण का विलाप करना, अपने मृत भाई के गुणों का संकीर्तन आदि अनुभाव हैं और व्यभिचारी भाव हैं विषाद, चिन्ता, दैन्य आदि। इन से परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव करुण रस के रूप में परिणत हो रहा है।

रावण जैसे दुर्धर्ष योद्धा के द्वारा वीरगति को प्राप्त कर लेने पर जब उसका सहज विरोधी भाई विभीषण भी विचलित हुए बिना न रह सका, तब स्वभावत: लङ्का की कोमल हृदया स्त्रियों का अधीर होकर विलाप करना अत्यन्त स्वाभाविक है ही। वाल्मीकि ने इस दृश्य को अत्यन्त

१- गत: सेतु: सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रह: ।
गत: सत्त्वस्य संक्षेप: सुहस्तानां गतिर्गता ।।
वही, ६।१०६।६

२- आदित्य: पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमा: ।
चित्रभानु: प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यम: ।।
अस्मिन्निपतिते वीरे भूमौ शस्त्रभृतां वरे ।।
वही, ६।१०६।७

मर्मस्पर्शी ढंग से चित्रित किया है ।

राम के द्वारा युद्धभूमि में रावणवध का समाचार सुनकर उसके अन्तःपुर में हाहाकार मच जाता है । सभी स्त्रियाँ शोक से विह्वल होकर विक्षिप्त हो उठती हैं । जब उनका प्रियतम रावण ही नहीं रहा तो कैसी लोक-लज्जा और कैसी कुलमर्यादा । लोगों के बार-बार मना करने पर भी सभी स्त्रियाँ धूलि में लोटने लगती हैं, उनके केश छिटक जाते हैं और वह अन्तःपुर से निकलकर युद्धभूमि में जाकर अपने मृत पति को खोजने लगती हैं ।[1] उस समय वे सब 'हा आर्यपुत्र, हा नाथ' चिल्लाती हुई उस रण-स्थल में पहुँचती हैं, जहाँ रुण्ड-मुण्ड बिछे पड़े हैं । उनके नेत्रों से अश्रु उमड़ रहे हैं और सभी यूथपतियों के मारे जाने से दुःखी गजवधुओं की भाँति चीत्कार कर रही हैं ।[2]

युद्धस्थल में पड़े हुए अपने मृत पति पर दृष्टि पड़ते ही अन्तःपुर की सभी स्त्रियाँ वन की कटी हुई लताओं के समान उसके ऊपर गिर पड़ती हैं । कोई उसका आलिङ्गन कर लेती है, कोई पैर पकड़ लेती है, तो कोई उसके गले से लगकर विलाप करने लगती है, कोई स्त्री अपनी दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर पछाड़ खा कर गिरती है और पृथ्वी पर लोटने लगती है

१- वार्यमाणाः सुबहुशो वेष्टन्त्यो रणपांसुषु ।
विमुक्तकेश्यः शोकार्ता गावो वत्सहता इव ।।
उत्तरेण विनिष्क्रम्य द्वारेण सह राक्षसैः ।
प्रविश्यायोधनं घोरं विचिन्वन्त्यो हतं पतिम् ।।
वही, ६।११०।२,३

२- आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः ।
परिपेतुः कबन्धाङ्कां महीं शोणितकर्दमाम् ।।
ता बाष्पपरिपूर्णाक्ष्यो भर्तृशोकपराजिताः ।
करिण्य इव नर्दन्त्यः करेण्वो हतयूथपाः ।।
वही, ६।११०।४,५

कोई मरे हुए पति के मुख को देख-देखकर मूर्च्छित हो रही है और कोई उसके मस्तक को अपनी गोद में लेकर उसे अपने नेत्रों से गिरने वाली अश्रुधारा से आप्लावित कर देती है[1]। अपने प्रिय पति और अत्यन्त साहसी योद्धा को रण-भूमि में मृतावस्था में देखकर रावण की स्त्रियों को उसके पराक्रम का स्मरण हो आता है। उन्हें आश्चर्य है कि उनके जिस पति से इन्द्र, यम, कुबेर, गन्धर्व, ऋषि और महात्मस्वी देवता भी भयभीत हुआ करते थे, वही आज एक साधारण मनुष्य से भय खा गया है[2]। उन्हें यह भी आश्चर्य

१- ताः पतिं सहसा दृष्ट्वा शयानं रणपांसुषु ।
निपेतुस्तस्य गात्रेषु छिन्ना वनलता इव ।।
बहुमानात्परिष्वज्य काचिदेनं रुरोद ह ।
चरणौ काचिदालम्ब्य काचित्कण्ठेऽवलम्ब्य च ।।
उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद्भूमौ सुपरिवर्तते ।
हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत् ।।
काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती ।
स्नापयन्ती मुखं बाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम् ।।

वही, ६।११०।७-१०

२- येन वित्रासितः शक्रो येन वित्रासितो यमः ।
येन वैश्रवणो राजा पुष्पकेण वियोजितः ।।
गन्धर्वाणामृषीणां च सुराणां च महात्मनाम् ।
भयं येन रणे दत्तं सोऽयं शेते रणे हतः ।।
असुरेभ्यः सुरेभ्यो वा पन्नगेभ्योऽपि वा तथा ।
भयं यो न विजानाति तस्येदं मानुषाद्भयम् ।।

वही, ६।११०।१२-१४

है कि जिस रावण को देवता , दानव तथा राक्षस भी नहीं मार सके थे, वही आज एक साधारण पैदल मनुष्य के द्वारा कैसे मार गिराये गये । यह कैसी विडम्बना है कि जो देवताओं, यक्षों और असुरों के द्वारा भी अवध्य था, वही आज एक निर्बल मनुष्य के द्वारा मार डाला गया है ।[1]

रावण की स्त्रियाँ इस असहनीय दुःख के क्षणों में भी अपने नारी-हृदय में अन्तर्लीन सहज ईर्ष्या को छिपा नहीं पा रही हैं । सीता के मोह में रावण की कामान्धता रुचिकर तो इन स्त्रियों को भी न थी, किन्तु उनमें इतना साहस न था कि वे खुलकर इसका विरोध कर सकतीं । उनकी यह ईर्ष्या अपने मृत पति को देखकर सहज प्रकट हो जाती है और वे विलाप करती हुई कहती हैं कि 'हाय ! तुमने अपने हितैषियों की बात को भी न सुना । सीता का अपहरण करके तुमने अपनी मृत्यु का आह्वान कर लिया, इस का फल यह है कि सारे राक्षसों का वध हो गया और तुम भी युद्ध भूमि में मार गिराये गये ।[2] 'हाय, तुम तो ऐसे निष्ठुर निकले कि सीता को बन्दी बनाकर तुमने राक्षसों को, हम सबको तथा स्वयं अपने आप को भी इस घोर विपत्ति में डाल दिया है ।[3] विरह-विह्वला स्त्रियाँ इस समय

१- अवध्यो देवतानां यस्तथा दानवरक्षसाम् ।
हतः सोऽयं रणे शेते मानुषेण पदातिना ।।
यो न शक्यः सुरैर्हन्तुं न यक्षैर्नासुरैस्तथा ।
सोऽयं कश्चिदिवासत्त्वो मृत्युं मर्त्येन लम्भितः ।। वही, ६।१११।१५,१६

२- अशृण्वता तु सुहृदां सततं हितवादिनाम् ।
मरणायाहृता सीता राक्षसाश्च निपातिताः ।।
एताः सममिदानीं ते वयमात्मा च पातितः । वही,६।११०।१८,१९

३- त्वया पुनर्नृशंसेन सीतां संरुन्धता बलात् ।
राक्षसा वयमात्मा च त्रयं तुल्यं निपातितम् ।। वही,६।११०।२२

लिए अपने प्रिय पति रावण को नहीं, अपितु दैव को दोषी ठहराती[1] है, जिसकी इच्छा को कोई किसी भी प्रकार पलट नहीं सकता है ।

युद्धभूमि में अपने प्रिय पति रावण को देखकर अपनी सपत्नियों की भाँति मन्दोदरी भी विलाप करने लगती है । उसने पहले ही रावण को कान्तासम्मिततया यह समझाने का प्रयत्न किया था कि वह सीता को वापस करके राम के साथ सन्धि कर ले, किन्तु महाभिमानी रावण ने उसकी इस सन्मन्त्रणा को सुनी-अनसुनी कर दिया था। मन्दोदरी रावण को मृत अवस्था में देखकर अपनी उन्हीं बातों का स्मरण कर कर के और भी दुःखी हो रही है । वह पश्चात्ताप करती हुई कहती है कि 'जिस रावण के भय से महर्षि, गन्धर्व और चारण भी इधर उधर भाग जाते थे, वह एक मानव मात्र से कैसे परास्त हो गये'[2] । मन्दोदरी भी एक सामान्य ईर्ष्यालु स्त्री की भाँति रो-रो कर रावण को उपालम्भ देती हुई कहती है कि जिस सीता के कारण तुम्हारी और हम सबकी यह दशा हो गयी है वह मुझसे कुल, रूप और दाक्षिण्य में बढ़कर तो क्या, समान भी नहीं थी, किन्तु तुमने तो मोहवश मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया था ।[3]

१- न कामकारः कामं वा तव राक्षसपुङ्गव ।
दैवं चेष्टयते सर्वं हतं दैवेन हन्यते ।।
वानराणां विनाशोऽयं राक्षसानां च ते रणे ।
तव चैव महाबाहो दैवयोगादुपागतः ।।
नैवार्थेन च कामेन विक्रमेण न चाज्ञया ।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता ।।
वही, ६।११०।२३-२५

२- ऋषयश्च महान्तोऽपि गन्धर्वाश्च यशस्विनः ।।
ननु नाम तवोद्वेगाच्चारणाश्च दिशो गताः ।
स त्वं मानुषमात्रेण रामेण युधि निर्जितः ।।
न व्यपत्रपसे राजन्किमिदं राक्षसेश्वर ।।
वही, ६।१११।४,५

३- सर्वदा सर्वभूतानां नास्ति मृत्युरलक्षणः ।
तव तावदयं मृत्युर्मैथिलीकृतलक्षणः ।।
वही, ६।१११।२८

मन्दोदरी को रावण के साथ व्यतीत किये गये अपने सुखद दिवसों का स्मरण हो आता है । वह विलाप करती हुई रावण से कहती है कि 'हा वीर ! मैं विचित्र वस्त्राभरणों से विभूषित होकर तुम्हारे साथ अपनी इच्छानुसार कैलास, मन्दर, सुमेरु पर्वतों, चैत्ररथ वन में तथा समस्त दिव्य उद्यानों में विहार किया करती थी, किन्तु आपके वध से आज मैं उन सभी सुखों से वञ्चित हो गयी हूँ'[1]। उसे यह विश्वास ही नहीं हो पा रहा है कि रावण की मृत्यु भी हो सकती है, क्योंकि वह तो स्वयं काल का भी काल था । उसे सन्देह होता है कि रावण का वध कहीं स्वप्न तो नहीं है[2]। मन्दोदरी रावण के बहुविध पराक्रम का स्मरण कर-कर के आत्मग्लानि से भर जाती है और अपने आपको धिक्कारती हुई कहती है कि 'अपने प्रियतम की मृत्यु पर भी मेरा जीवित रहना मेरी कठोरहृदयता का परिचायक है'[3]।

१- कैलासे मन्दरे मेरौ तथा चैत्ररथे वने ।
देवोद्यानेषु सर्वेषु विहृत्य सहिता त्वया ॥
विमानेनानुरूपेण या याम्यतुलया श्रिया ।
पश्यन्ती विविधान्देशांस्तांस्तांश्चित्रस्रगम्बरा ॥
भ्रंशिता कामभोगेभ्यः सास्मि वीर वधात्तव ॥
वही, ६।१११।३१,३२

२- हा स्वप्नः सत्यमेवेदं त्वं रामेण कथं हतः ।
त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्युवशं गतः ॥
वही, ६।१११।४७

३- देवासुरनृकन्यानामाहर्तारं ततस्ततः ।
शत्रुस्त्रीशोकदातारं नेतारं स्वजनस्य च ॥
बन्धुकार्योपमस्य गोप्तारं कर्तारं भीमकर्मणाम् ।
अस्माकं कामभोगानां दातारं रथिनां वरम् ॥
वही, ६।१११।५३,५४

वह रावण के बिना एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहती और बार-बार रावण से आग्रह करती है कि वह उसे भी अपने साथ लेते जायें।[1] मन्दोदरी उस अतीत का स्मरण करता है, जब रावण को यह सहन नहीं होता था कि उसकी स्त्रियाँ अन्तःपुर को छोड़कर बाहर निकलें, इसलिये वह रो-रो कर बार-बार रावण से प्रश्न करती है कि 'मुझे और अपनी अन्य स्त्रियों को घूंघट हटाकर नगर से पैदल चलकर यहाँ आयी हुई देखकर आज आपको क्रोध क्यों नहीं आ रहा है?'[2] रावण जैसे योद्धा की समरभूमि में वीर गति प्राप्त कर लेने पर रुदन करना मन्दोदरी को स्वयं शोभा नहीं देता है तथापि अपने स्त्री-स्वभाव के कारण वह अपने शोकावेग का संवरण भी नहीं कर पा रही है।[3] अपने प्रिय पति की मृत्यु हो जाने पर भी अपने को जीवितावस्था में देखकर वह स्वयं को धिक्कारने लगती है और कहने लगती है कि 'इस अवस्था में भी मेरा हृदय टूक टूक क्यों नहीं हो रहा है'।[4]

१- प्रपन्नो दीर्घमध्वानं राजन्नद्य सुदुर्गमम् ।
नय मामपि दुःखार्तां न वर्तिष्ये त्वया विना ॥
वही, ६।१११।५६

२- दृष्ट्वा न खल्वभिक्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम् ।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवागतां प्रभो ॥
पश्येष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्ठनान् ।
बहिर्निष्पतितान्सर्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ॥
वही, ६।१११।६१,६२

३- नहि त्वं शोचितव्यो मे प्रख्यातबलपौरुषः ।
स्त्रीस्वभावात्तु मे बुद्धिः कारुण्ये परिवर्तते ॥
वही, ६।१११।७३

४- धिगस्तु हृदयं यस्या ममेदं न सहस्रधा ।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने फलते शोकपीडितम् ॥
वही, ६।१११।८५

इस प्रकार विलाप करती हुई मन्दोदरी के नेत्रों में अश्रु-प्रवाह उमड़ने लगता है । उसका हृदय स्नेह से द्रवीभूत हो उठता है और वह विलाप करती करती मूर्च्छित होकर रावण के वक्षस्थल पर गिर जाती है।[1] मन्दोदरी की सपत्नियाँ उसे संसार की अस्थिरता का उपदेश देकर जितना ही उसे धीरज बंधाने का प्रयास करती है, मन्दोदरी का शोक उतना ही बढ़ता जाता है और वह फूट-फूट कर रोने लगती है।[2]

यहाँ पर आश्रय है मन्दोदरी तथा रावण की अन्य स्त्रियाँ और आलम्बन है रावण । रावण का मृत शरीर, उसके वीर कर्म, उसके साथ पूर्वभुक्त सुख के क्षण आदि उद्दीपन है । मन्दोदरी आदि रावण की स्त्रियों का रुदन, मूर्च्छित होना, पश्चाताप करना, दैव को बुरा-भला कहना आदि अनुभाव है । चिन्ता , ग्लानि, दैन्य, जड़ता, अपस्मार आदि व्यभिचारी भाव है । इन सब के संयोग से परिपुष्ट होकर यहाँ करुण रस का परिपोषण हो रहा है ।

जिस प्रकार रावण की मृत्यु से मन्दोदरी तथा अन्य स्त्रियाँ विलाप करती हैं, उसी प्रकार लङ्का के अनेकानेक योद्धाओं के वध से अन्य स्त्रियों में

१- इत्येवं विलपन्ती सा बाष्पव्याकुलेक्षणा ।
स्नेहावस्कन्नहृदया तदा मोहमुपागमत् ॥
कश्मलाभिहता सन्ना बभौ सा रावणोरसि ।
सन्ध्यानुरक्ते जलदे दीप्ता विद्युदिवोज्ज्वला ॥ वही,६।१११।८६,८७

२- किं ते न विदिता देवि लोकानां स्थितिरध्रुवा ।
दशाविभागपर्याये राज्ञां च चला श्रिया ॥
इत्येवमुच्यमाना सा सशब्दं प्ररुरोद ह ।
स्नपयन्ती स्वभिमुखौ स्तनावस्राम्बुविस्रवैः ॥ वही,६।१११।८९,९०

भी हाहाकार मच जाता है । कोई अपने पुत्र का स्मरण करके कहती है कि 'हाय ! मेरा पुत्र मारा गया । कोई इसलिये दु:खी है कि उसके भाई को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और कोई इसलिये बिलख रही है कि रणभूमि में उसके पति का वध कर डाला गया है ।[1] अपने पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पतियों की मृत्यु से रोती-बिलखती राक्षसियां एकत्र होकर इस अनर्थ के लिये शूर्पणखा को ही इसका दोषी ठहराने लगती हैं । वह रो-रोकर यही कहती हैं कि 'इस कुरूपा के कारण उन्हें यह दिन देखना पड़ा है , इसलिये वास्तव में यह राक्षसी मार डालने के योग्य है'।[2] अपने स्वजनों की मृत्यु से व्याकुल राक्षसियां शोक से अत्यन्त व्याकुल होकर इस अनर्थ के मूल कारण को सोचती हैं और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि रावण ने शूर्पणखा के कारण ही राम से वैर ठान लिया और सीता का अपहरण कर लिया । वास्तव में सीता का यह अपहरण ही हमारे स्वजनों के वध का कारण बन गया है ।[3] इसी प्रसङ्ग में वह राम के अनेकानेक वीर

१- मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्ता रणे हतः ।
इत्येवं श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले कुले ॥ वही, ६।९४।२२

२- कथं शूर्पणखा वृद्धा कराला निर्णतोदरी ।
आससाद वने रामं कन्दर्पसमरूपिणम् ॥
सुकुमारं महासत्त्वं सर्वभूतहिते रतम् ॥
तं दृष्ट्वा लोकवध्या सा हीनरूपा प्रकामिता ॥ वही, ६।९४।६,७

३- अनिमित्तमिदं वैरं रावणेन कृतं महत् ।
वधाय सीता आनीता दशग्रीवेण रक्षसा ॥
वही, ६।९४।११

कर्मों का स्मरण करती हुई पश्चात्ताप करती है कि 'राम के इन घोर कर्मों को देखकर भी रावण की बुद्धि क्यों नहीं खुलती है।'[1] यहाँ पर राक्षसियाँ अपने ऊपर आयी हुई विपत्तियों का कारण रावण का अविवेक ही समझती है। वे इस समय अपने आपको अत्यन्त असहाय समझती है[2] और एक दूसरी को अपनी बाहुओं में समेट कर विषाद और भय से अभिभूत होकर क्रन्दन करने लगती है।[3]

यहाँ पर राक्षसियाँ आश्रय है, उनके मारे गये स्वजन आलम्बन है। स्वजनों की स्मृति उद्दीपन विभाव है। राक्षसियों का क्रन्दन, परस्पर आलिङ्गन, दुर्मंत्रणा के प्रति आक्रोश व्यक्त करना आदि अनुभाव है। चिन्ता, ग्लानि, दैन्य, जड़ता इत्यादि व्यभिचारी भाव है। इन सब उपादानों से परिपुष्ट होकर शोक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति करुण रस के रूप में हो रही है।

सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने यह स्वीकार किया था कि रामायण में यद्यपि सङ्ग्राम आदि का पुनः पुनः वर्णन हुआ है तथापि उसमें अङ्गी रस

१- रावणस्यापनीतेन दुर्विनीतस्य दुर्मतेः।
अयं निष्टानको घोरः शोकेन समभिप्लुतः ॥

वही, ६।९४।३७

२- तं न पश्यामहे लोके यो नः शरणदो भवेत् ।
राघवेणाभिभूतानां कालेनेव युगक्षये ॥ वही, ६।९४।३८

३- इतीव सर्वा रजनीचरस्त्रियः
परस्परं सम्परिरभ्य बाहुभिः ।
विषेदुरार्तातिभयाभिपीडिता
विनेदुरुच्चैश्च तदा सुदारुणम् ॥

वही, ६।९४।४१

करुण ही है । अपने इस कथन की पुष्टि करते हुये उन्होंने बताया है कि रामायण में करुण को अङ्गी रस के रूप में मानने का कारण यह है कि उसका पर्यवसान ही सीता के आत्यन्तिक वियोग से होता है । वाल्मीकि ने उत्तरकाण्ड में उस घटना का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन किया है कि जनापवाद के भय से राम अपनी सीता-साध्वी और पतिव्रता सीता को अयोध्या से निर्वासित करके उन्हें लक्ष्मण के द्वारा वन में छुड़वा देते हैं । राम के द्वारा परित्यक्त किये जाने के कारण उनके हृदय पर गहरा आघात लगता है । उन्हें इस बात का विशेष दुःख है कि सीता के द्वारा अपनी शुद्धता को सिद्ध करने के लिये उन्हें अनेक साक्ष्य प्रस्तुत करने पड़े हैं और उनकी शुद्धता पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है । इसके बाद भी राम उनके चरित्र में शङ्का करते हैं और दोहद-पूर्ति के व्याज से उन्हें वन में छुड़वा देते हैं । राम के प्रति सीता के अनुराग में यद्यपि किसी प्रकार की कमी नहीं है, तथापि उनका आत्मसम्मान उन्हें इस प्रकार निर्वासित कर दिये जाने के पश्चात् पुनः राम के पास जाने से रोकता है । महर्षि वाल्मीकि की प्रेरणा से सीता राम के पास जाती है । सीता की शुद्धता को परखने के लिये राम उन्हें शपथ लेने को कहते हैं । अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए और राम की आज्ञा का पालन करने के लिये सीता शपथ तो ले लेती है, किन्तु उनका हृदय आत्मग्लानि से उन्हें धिक्कारने लगता है और वह अपनी जननी पृथ्वी के गर्भ में पुनः समा जाती है । राम विवश होकर इस दृश्य को देखते हैं और विलाप करने लगते हैं । उनका मन उदास हो जाता है और वह सिर झुका लेते हैं, नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है ।[१७] वह विलाप करते हुए पृथ्वी से कहते हैं कि 'या तो

---

१७ दण्डकाष्ठमवष्टभ्य बाष्पव्याकुलितेक्षणः ।
अवाक्शिरा दीनमना रामो ह्यासीत्सुदुःखितः ॥

वही, ७।९८।२

आप मुझे सीता को लौटा दें अथवा मुझे भी अपनी गोद में समेट लें, क्योंकि पाताल हो अथवा स्वर्ग, मैं सीता के साथ ही रहूँगा ।[1] राम अत्यन्त दुःखी होकर पृथ्वी से कहते हैं कि 'आप मुझे मेरी सीता वापस कर दीजिये, क्योंकि उसके बिना मैं पागल हो जाऊँगा'[2]।

यहाँ पर राम आश्रय, सीता आलम्बन, तथा उनका पृथ्वी में समा जाना उद्दीपन विभाव है । राम का अश्रु बहाना और पृथ्वी से सीता की पुनः याचना करना अनुभाव है, चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन सब उपादानों से आस्वाद्य होकर शोक स्थायी भाव करुण रस रूप में परिणत हो रहा है ।

इस प्रकार रामायण में विभिन्न रसों के समाविष्ट होने पर भी आदि से अन्त तक जिस रस का परिपाक हुआ है, वह करुण ही है । बीच-बीच में शृङ्गार , हास्य, रौद्र भयानक, वीर आदि सभी रसों का अवसरानुकूल समावेश हुआ है ।

महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं कहा है कि उन्होंने अपने इस काव्य में शृङ्गार, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर आदि रसों का समावेश किया है,[3]

१- तस्मान्नियात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ।। वही, ७।९८।८

२- आनय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते । वही, ७।९८।९

३- रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ।। वही, १।४।९

किन्तु इन रसों का प्रयोग किसी स्थल-विशेष में ही हुआ है । रामायण में आदि से अन्त तक यदि किसी रस का परिपोषण हुआ है, तो वह करुण ही है । बीच-बीच में अन्य रसों से व्यवहित होकर उसकी व्यंजना और भी बढ़ गयी है, इसलिये रामायण का अङ्गी रस करुण ही है ।

महाभारत

महाभारत संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है । रामायण की भाँति यह भी परवर्ती काव्यों का आधार और कवियों का उपजीव्य रहा है ।[1] व्यास ने स्वयं इसे काव्य की संज्ञा प्रदान की है ।[2] ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इसे शास्त्र और काव्य की छाया से युक्त बतलाया है ।[3] आनन्दवर्द्धन की इस मान्यता का कारण सम्भवतः महाभारत की वह उक्ति है, जिसमें एक ओर तो इसे काव्य कहा गया है और दूसरी ओर इसे अर्थ-शास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्र बतलाया गया है ।[4]

१- (क) तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ म०भा०, १।२।३८

(ख) इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ वही, १।२।३८६

२- उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ वही, १।१।६१

४- महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि - - - - । ध्वन्या० ४।५ (वृत्ति)

५- अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ म०भा०, १।२।३८३

महाभारत का महत्त्व तो इसी कथन से सिद्ध है कि पृथ्वी पर ऐसी कोई कथा कहीं है ही नहीं, जो इसका आश्रय लेकर न जीवित हो।[1] महाभारत की इस उपजीव्यता को ध्यान में रखकर ही महाकवि बाण ने हर्षचरित में व्यास का स्मरण "कविवेधाः" कह कर किया है।[2] महाभारत के रचनाकार की दृष्टि से यह एक ऐसा काव्य है, जिससे बढ़कर अन्य किसी काव्य की रचना करने में कवियों को कभी सफलता प्राप्त ही नहीं हो सकती है।[3] आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी महाभारत को एक प्रबन्ध काव्य के रूप में स्वीकार करके उसमें एक अङ्गी रस की मान्यता प्रदान की है। शेष रस उसमें हैं अवश्य, किन्तु वे सभी अङ्गभूत ही हैं। आनन्दवर्द्धन ने अत्यन्त सम्पूर्ण शब्दों में महाभारत के अङ्गीरस के रूप में शान्त रस को प्रतिष्ठित किया है।[4]

१- अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥
वही, १।२।३८८

२- नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे ।
चक्रे पुण्यं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम् ॥
हर्षच०, १।३

३- अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ।
म०भा०, १।२।३६०

४- प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति । कस्मिन्निवेति चेत् यथा रामायणे यथा वा महाभारते ... ... महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णि-पाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः ।
ध्वन्या०, ४।५(वृत्ति)

महाभारत में यद्यपि रस शान्त होते हुए भी अङ्ग रूप में उसमें अन्य सभी रसों का अवसरानुकूल परिपाक हुआ है।[1] महाभारत में अङ्गरूप में परिपुष्ट इन रसों में करुण का परिपोष अत्यन्त मर्मस्पर्शी है।

वनपर्व में कार्तवीर्य पुत्रों के द्वारा जमदग्नि का वध उस समय कर दिया जाता है, जब परशुराम समिधाओं का संग्रह करने के लिए गये हुये थे। परशुराम आश्रम में आकर अपने पिता को इस प्रकार मृतावस्था में देख कर विलाप करने लगते हैं। वह अपने पिता के वध के लिये अपने आपको ही अपराधी ठहराते हुए कहते हैं कि "मेरे अपराध का प्रतिशोध करने के लिये ही पापियों ने आपकी हत्या कर दी है, क्योंकि आप तो निरपराध हैं। आपकी हत्या हो ही कैसे सकती थी"। उन्हें इस बात पर भी आश्चर्य है कि वे नीच आप जैसे धर्मात्मा का वध करके अपने मित्रों से क्या बतायेंगे।[2] इसी शोकाकुल अवस्था में परशुराम अपने पिता के प्रेतकर्म करते हैं, साथ ही वह प्रतीकार की भावना से सभी क्षत्रियों के वध की प्रतिज्ञा भी कर लेते

१- तत्रश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरै-स्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इतिमहाभारत-तात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते।

वही।

२- ममापराधात् तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः॥
धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः॥
किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः॥

महाभा०, ३।११७।१,२,४

यहाँ पर परशुराम आश्रय, उनके पिता जमदग्नि आलम्बन विभाव हैं । उद्दीपन विभाव है जमदग्नि का निर्दोष होते हुए भी मारा जाना। अनुभाव हैं परशुराम का विलाप, प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर क्षत्रिय वंश का संहार आदि और व्यभिचारी भाव हैं दैन्य, चिन्ता, ग्लानि आदि । इन सभी उपादानों से पुष्ट होकर शोकस्थायीभाव करुणरसावस्था को प्राप्त हो गया है ।

चक्रव्यूह में अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डव सेना में विषाद छा जाता है । युधिष्ठिर अपने भाई (अर्जुन) के वीरपुत्र के वध से शोक-विह्वल हो उठते हैं । अभिमन्यु के वीरकर्मों का स्मरण करने से उनका शोक और भी उद्दीप्त हो उठता है । वह इस बात से अधिक चिन्तित हो रहे हैं कि अभिमन्यु के वध के पश्चात् वह अर्जुन और सुभद्रा को क्या मुँह दिखायेंगे[2] । वह इस बात से भी अधिक चिन्तित हैं कि वह कृष्ण के समक्ष इस समाचार को कैसे सुनायेंगे[3] । अभिमन्यु की मृत्यु के लिये वह अपने आपको

१- विलप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥
ददाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरञ्जयः ।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥ वही, ३।११७।५,६

२- कथं द्रक्ष्यामि कौन्तेयं सौभद्रे निहतेऽर्जुनम् ।
सुभद्रां वा महाभागां प्रियं पुत्रमपश्यतीम् ॥ वही, ७।५१।८

३- किंस्विद् वयमपेतार्थमश्लिष्टमसमञ्जसम् ।
तावुभौ प्रतिवक्ष्यामो हृषीकेशधनञ्जयौ ॥ वही, ७।५१।९

दोषी ठहराते हुए आत्मग्लानि से भर जाते हैं[1]। अभिमन्यु जैसे अबोध, लालन-पालन के योग्य तथा सुकुमार बालक को युद्धभूमि में भेज देने के लिये युधिष्ठिर का हृदय पश्चात्ताप से दग्ध हो रहा है[2]। उनका यह पश्चात्ताप इस सीमा तक बढ़ जाता है कि वह विजय, राज्य, अमरत्व तथा देवलोक से भी विमुख हो जाते हैं[3]।

संशप्तकों के साथ युद्ध करके अर्जुन और कृष्ण लौट रहे हैं। अर्जुन का हृदय धड़क रहा है, उनकी वाणी लड़खड़ा रही है, बायें अङ्ग फड़क रहे हैं और अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल पड़ते जा रहे हैं। निकट आने पर उन्हें अपने शिविर में माङ्गलिक बाजों का स्वर भी नहीं सुनाई पड़ता है। भाग्य की कैसी विडम्बना है कि अर्जुन को बार-बार यह खटक रहा है कि आज अभिमन्यु उनका स्वागत करने के लिये आगे क्यों नहीं बढ़ रहा है[4]। अपने भाइयों

१- अहमेव सुभद्रायाः केशवार्जुनयोरपि ।
प्रियकामो जयाकाङ्क्षी कृतवानिदमप्रियम् ॥
न लुब्धो बुध्यते दोषांल्लोभान्मोहात् प्रवर्तते ।
मधुलिप्सुर्हि नापश्यं प्रपातमहमीदृशम् ॥
वही, ७।५१।१०,११

२- यो हि भोज्ये पुरस्कार्यो यानेषु शयनेषु च ।
भूषणेषु च सोऽस्माभिर्बालो युधि पुरस्कृतः ॥
कथं हि बालस्तरुणो युद्धानामविशारदः ।
सदश्व इव सम्बाधे विषमे क्षेममर्हति ॥
वही, ७।५१।१२,१३

३- न मे जयः प्रीतिकरो न राज्यं
न चामरत्वं न सुरैः सलोकता ।
इमं समीक्ष्याप्रतिवीर्यपौरुषं
निपातितं देववरात्मजात्मजम् ॥
वही, ७।५१।२१

४- न च मामद्य सौभद्रः प्रहृष्टो भ्रातृभिः सह ।
रणादायान्तमुचितं प्रत्युद्याति हसन्निव ॥
वही, ७।७२।१६

तथा पुत्र को इस दुःखावस्था में देखकर और अभिमन्यु को वहाँ न पाकर अर्जुन को यह समझने में देर नहीं लगती है कि अभिमन्यु को वीरगति प्राप्त हो गयी है। अपने प्रिय पुत्र की मृत्यु का निश्चय हो जाने पर अर्जुन उसके रूप और गुणों का स्मरण कर-कर के और भी अधीर हो रहे हैं तथा वह स्वयं यमलोक की राह लेने का संकल्प कर बैठते हैं।[1] अभिमन्यु को न पाकर भी अपने को जीवितावस्था में देखकर वह अपने आपको धिक्कारने लगते हैं और कहते हैं कि 'निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है, जो इस दारुण दुःख में भी विदीर्ण नहीं हो रहा है'।[2] उन्हें इस बात की भी चिन्ता है कि वह अभिमन्यु के वध का समाचार द्रौपदी और सुभद्रा को कैसे

१- सुकुञ्चितकेशान्तं बालं बालमृगेक्षणम् ।
मत्तद्विरदविक्रान्तं शालपोतमिवोद्गतम् ।।
स्मिताभिभाषिणं दान्तं गुरुवाक्यकरं सदा ।
बाल्येऽप्यबालकर्माणं प्रियवाक्यममत्सरम् ।।
महोत्साहं महाबाहुं दीर्घराजीवलोचनम् ।
भक्तानुकम्पिनं दान्तं न च नीचानुसारिणम् ।।
कृतज्ञं ज्ञानसम्पन्नं कृतास्त्रमनिवर्तिनम् ।
युद्धाभिनन्दिनं नित्यं द्विषतां भयवर्धनम् ।।
स्वेषां प्रियहिते युक्तं पितॄणां जयगृद्धिनम् ।
न च पूर्वं प्रहर्तारं संग्रामे नष्टसम्भ्रमम् ।।
यदि पुत्रं न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ।।

वही, ७।७२।२८-३३

२- वज्रसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम ।
अपश्यतो दीर्घबाहुं रक्ताक्षं यन्न दीर्यते ।।

वही, ७।७२।५२,५३

देंगे ।[1]

श्रीकृष्ण के मुख से अपने प्रिय पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुनकर सुभद्रा अत्यन्त अधीर हो उठती है और विलाप करने लगती है । उन्हें आश्चर्य है कि अभिमन्यु उसके गर्भ से जन्म लेकर और पिता (अर्जुन) के समान पराक्रमी होकर भी युद्धभूमि में मारे कैसे गये हैं ।[2] वह अपने सुकोमल पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि उनका सुन्दर मुख युद्धभूमि की धूलि से धूसरित होकर कैसा दिखाई पड़ रहा होगा ।[3] अभिमन्यु की मृत्यु की कल्पना से सुभद्रा मर्माहत हो उठती है । वह कहती है कि 'जो अभिमन्यु पहले बहुमूल्य शय्या पर शयन किया करता था वह आज बाणों से बिद्ध होकर रणभूमि में कैसे सो रहा होगा ।[4] सुभद्रा का ममतापूर्ण हृदय रणस्थल में पड़े हुये अभिमन्यु की दयनीय दशा से करुणाभिभूत हो जाता है ।[5] सुभद्रा को अपने

१- सुभद्रा वक्ष्यते किं मामभिमन्युमपश्यती ।
द्रौपदी चैव दुःखार्ते ते च वक्ष्यामि किं न्वहम् ॥
वही, ७।७२।५७,५८

२- हा पुत्र मम मन्दायाः कथमेत्यासि संयुगे ।
निधनं प्राप्तवांस्तात पितुस्तुल्यपराक्रमः ॥
वही, ७।७८।२

३- कथमिन्दीवरश्यामं सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
मुखं ते दृश्यते वत्स गुण्ठितं रणरेणुना ॥
वही, ७।७८।३

४- शयनीयं पुरा यस्य स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
भूमावद्य कथं शेषे विप्रविद्धः सुखोचितः ॥
वही, ७।७८।६

५- योऽन्वास्यत पुरा वीरो वरस्त्रीभिर्महाभुजः ।
कथमन्वास्यते सोऽद्य शिवाभिः पतितो मृधे ॥
योऽस्तूयत पुरा हृष्टैः सूतमागधबन्दिभिः ।
सोऽद्य क्रव्याद्गणैर्घोरैर्विनदद्भिरुपास्यते ॥
वही, ७।७८।७-८

पुत्र का वियोग सह्य नहीं है और वह स्वयं यमलोक को जाने की ठान लेती है।[1] वीराङ्गना सुभद्रा भीम, अर्जुन आदि पाण्डव वीरों को धिक्कारने लगती है, क्योंकि वे सभी उसके प्रिय और शूरवीर पुत्र अभिमन्यु की रक्षा में पूर्ण रूप से असफल रहे हैं।[2] पुत्रवियोग से सुभद्रा विक्षिप्त हो उठती है। उसकी ममता उद्बुद्ध हो उठती है और वह उसी विक्षिप्तावस्था में अभिमन्यु को बुला बुला कर कहती है कि 'आओ, बेटे, आओ। तुम्हें प्यास लगी होगी। मन्दभागिनी मैं भी तुम्हारे दर्शनों की प्यासी और अतृप्त हूँ। तो आओ और मेरी गोद में बैठकर मेरे स्तनों का पान करो।'[3] सुभद्रा को अपने से अधिक उत्तरा की चिन्ता है और वह बिलख-बिलख कर यही सोच रही है कि वह उसकी स्त्री (उत्तरा) को किस प्रकार धीरज बँधायेगी।[4] शोकावेग कम होने पर सुभद्रा उसकी सद्गति की कामना करती है। इतने में द्रौपदी भी वहाँ आ जाती है। सुभद्रा, उत्तरा और द्रौपदी तीनों ही अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करती करती पागल सी हो जाती हैं और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं।[5]

१- अतृप्तदर्शना पुत्र दर्शनस्य तवानघ ।
मन्दभाग्या गमिष्यामि व्यक्तमद्य यमक्षयम् ।।
वही, ७।७८।१०

२- धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य धनुष्मताम् ।
धिग् वीर्यं वृष्णिवीराणां पञ्चालानां च धिग् बलम् ।।
धिक् केकयांस्तथा चेदीन् मत्स्यांश्चैवाथ सृञ्जयान् ।
ये त्वां रणगतं वीरं न शेकुरभिरक्षितुम् ।।
वही, ७।७८।१२,१३

३- एह्येहि तृषितो वत्स स्तनौ पूर्णौ पिबाशु मे ।
अङ्कमारुह्य मन्दाया ह्यतृप्तायाश्च दर्शने ।।
वही, ७।७८।१६

४- इमां ते तरुणीं भार्यां त्वदाधिभिरभिप्लुताम् ।
कथं संधारयिष्यामि विवत्सामिव धेनुकाम् ।।
वही, ७।७८।१८

५- ताः प्रकामं रुदित्वा च विलप्य च सुदुःखिताः ।
उन्मत्तवत् तदा राजन् विसंज्ञा न्यपतन् क्षितौ ।।
वही, ७।७८।३७

अभिमन्यु को रणक्षेत्र में मरा हुआ जानकर युधिष्ठिर, अर्जुन, सुभद्रा, उत्तरा और द्रौपदी शोकाकुल होकर विलाप करने लगते हैं । इसलिये यहाँ आलम्बन है अभिमन्यु और आश्रय है युधिष्ठिर आदि । अभिमन्यु के वध का समाचार, उसका क्षत-विक्षत शरीर तथा उसकी बालसुलभ और वीरोचित चेष्टाएँ उद्दीपन हैं । अनुभाव के रूप में युधिष्ठिर, अर्जुन, सुभद्रा इत्यादि का विलाप, उनके द्वारा स्वपक्ष तथा परपक्ष के वीरों को धिक्कारना, भाग्य के प्रति आक्रोश व्यक्त करना, सुभद्रा, उत्तरा और द्रौपदी का मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ना इत्यादि हैं । यहाँ इन सब लोगों के स्थायीभाव शोक में आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले चिन्ता, ग्लानि, अपस्मार, दैन्य, जड़ता, वितर्क इत्यादि व्यभिचारीभाव अन्य उपादानों के साथ मिलकर करुण रस के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

अभिमन्यु की मृत्यु से धृतराष्ट्र भावी अनिष्ट की आशङ्का से व्यथित हो उठते हैं । वह अपने पक्ष के विभिन्न योद्धाओं का स्मरण करके अत्यन्त विह्वल हो रहे हैं । वह दुर्योधन की कुमति पर क्षुब्ध होकर कहते हैं कि 'दुर्योधन की दुर्बुद्धि से ही उसे इस अवस्था में पहुँचा दिया है'। धृतराष्ट्र को इस बात का पश्चाताप है कि उसने दुर्योधन को बहुत समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु उस मूर्ख ने उसकी एक भी न मानी । यह तो काल का ही कुचक्र है ।[१]

युद्धस्थल में कर्ण के वध को सुनकर दुर्योधन व्याकुल हो जाते हैं । अब उन्हें दुर्योधन की मृत्यु भी आसन्न जान पड़ती है । उन्हें अपने शोक का

१- इत्येवं विलपन् सूत: बहुश: पुत्रमुक्तवान् ।
न च मे श्रुतवान् मूढो मन्ये कालस्य पर्ययम् ।।
वही, ७।८५।३८

अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता है और वह मदमत्त हाथी के समान व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।[1] दुर्योधन को इस प्रकार मूर्च्छित हुआ देखकर उसके अन्तःपुर में हाहाकार मच जाता है। गान्धारी भी उसके समीप आकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। सञ्जय के द्वारा स्त्रियों को धैर्य बँधाया जा रहा है। उधर विदुर भी धृतराष्ट्र के ऊपर जल छिड़क कर उनकी मूर्च्छा को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। धीरे-धीरे चेतना के लौटने पर धृतराष्ट्र अपने समीप उपस्थित अन्तःपुर की स्त्रियों को देखकर जड़वत् बैठ जाते हैं। तदनन्तर वह दीर्घ उच्छ्वास भरते हुए अपने पुत्रों की निन्दा और पाण्डवों की प्रशंसा भी करते हैं। उनका हृदय अपने पुत्र दुर्योधन की मृत्यु से आशङ्कित हो उठता है। सञ्जय के द्वारा कौरव और पाण्डव पक्षों के हताहत वीरों का वर्णन किया जाता है। साथ ही सञ्जय कौरव-पक्ष के जीवित योद्धाओं का भी परिचय देता है। सञ्जय की बात को सुनकर धृतराष्ट्र युद्ध के भावी परिणाम की कल्पना कर लेते हैं।[2] ऐसा कहते-कहते वह मूर्च्छित हो लगते हैं। इस अवस्था में वह सञ्जय से कहते हैं कि "हे सञ्जय! इस महान् अप्रिय संवाद को सुनकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है, मेरी चेतना लुप्त सी हो रही है और मैं अपने अङ्गों को धारण करने में असमर्थ हो रहा हूँ।[3] कर्ण के वध को सुनकर धृतराष्ट्र दीनभाव से दीर्घ उच्छ्वास लेकर 'हाय हाय' करते हुये विलाप करने लगते हैं। इस विह्वलावस्था में वह बार-बार कर्ण के

१- एतच्छ्रुत्वा महाराज धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
शोकस्यान्तमपश्यन् वै हतं मेने सुयोधनम् ॥
विह्वलः पतितो भूमौ नष्टचेता इव द्विपः ।
वही, ८।४।१

२- आख्याता जीवमाना ये परे सैन्ये यथायथम् ।
इतीदमवगच्छामि व्यक्तमर्थाभिपत्तितः ॥
वही, ८।७।२४

३- व्याकुलं मे मनस्तात श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
मनो मुह्यति गात्राणि न च शक्नोमि धारितुम् ॥
वही, ८।७।२०

वीरोचित कर्मों और बान्धवों का स्मरण करके विह्वल हो रहे हैं। वह कर्ण की वीरता का स्मरण करते हुये कहते हैं कि 'कर्ण जैसे बलशाली योद्धा की अर्जुन के द्वारा मृत्यु से मुझे अपनी नौका समुद्र में डूबती सी दिखाई पड़ रही है।[1] कर्ण आदि योद्धाओं के वध से धृतराष्ट्र अपने को असहाय समझने लगते हैं। उन्हें अपने जीवन के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है और वह विष खाकर, अग्नि में प्रविष्ट होकर तथा पर्वतशिखर से नीचे गिरकर भी मृत्यु का वरण करना स्वजनों के वध से अधिक श्रेयस्कर समझने लगते हैं।[2]

यहाँ धृतराष्ट्र आश्रय हैं और कर्ण आलम्बन। कर्ण के वीर कर्म तथा अन्य योद्धाओं का वध उद्दीपन है। अनुभाव हैं धृतराष्ट्र का विलाप करना, उनका बार-बार मूर्च्छित होना, अपने पुत्रों को बुरा भला कहना और पश्चाताप करना। चिन्ता, दैन्य, जड़ता, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव उपर्युक्त अन्य उपादानों के संयोग से शोक स्थायीभाव को रस रूप में परिणत कर देते हैं।

धृष्टद्युम्न के सारथी के मुख से पुत्रों और पाञ्चालों के वध का वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिर शोकविह्वल हो उठते हैं। वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। शनैः-शनैः उनकी चेतना लौटती है और वह शोकाकुल वाणी द्वारा विलाप करने लगते हैं। वह कहते हैं कि 'हाय।

१- तं कर्णं निहतं श्रुत्वा हेरथे रथिनां वरम् ॥
शोकार्णवे निमग्नोऽहमप्लवः सागरे यथा।

वही, ८।८।२८-२९

२- विषमग्निं प्रपातं च पर्वताग्रादहं वृणे।
न हि शक्ष्यामि दुःखानि सोढुं कष्टानि सञ्जय ॥

वही, ८।८।३१

में शत्रुओं को पहले जीतकर बाद में पराजित हो रहा हूँ'।[1] इसे वह मनुष्य का विधान समझते हैं। इस प्रकार अपने पुत्रों, पौत्रों, भाइयों और स्वजनों का स्मरण करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो जाते हैं। उनके नेत्रों में अश्रु छलक जाते हैं, शरीर में कम्प उत्पन्न हो जाता है और चेतना लुप्त होने लगती है।[2] उसी समय द्रौपदी भी प्रवास से लौटती है। अपने पुत्रों की हत्या का समाचार सुनकर वह युधिष्ठिर के पास आती है। वहाँ वह मर्म-आघात से झकझोरी गयी कदली के समान कम्पित हो उठती है और पृथ्वी पर गिर पड़ती है। भीमसेन के द्वारा सहारा देकर उठायी जाने पर वह युधिष्ठिर पर अपने व्यङ्ग्य वचनों से प्रहार करने लगती है। वह कहने लगती है कि 'हे राजन्! आपके लिये यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि आपने क्षत्रियोचित रीति से अपने पुत्रों को यमराज को अर्पित करके समस्त पृथ्वी को प्राप्त कर लिया है और अब आप उसका उपभोग करेंगे। हे कुन्तीपुत्र! आपके लिये यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि आपने कुशलपूर्वक रहकर इस मत्तमातङ्गगामिनी पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर लिया है। अब तो आप सुभद्राकुमार अभिमन्यु का भी स्मरण न करेंगे। यह भी सौभाग्य ही है कि मेरे साथ उपप्लव्य में रहते हुये आप युद्ध में मारे गये अपने वीर पुत्रों का स्मरण भी न करेंगे।[3]

१- लब्ध्वैतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा ।
जित्वा शत्रुञ्जितः पश्चात् पर्यदेवयदार्तवत् ॥
वही, १०।१०।६

२- तमश्रुपरिपूर्णाक्षं वेपमानमचेतसम् ।
सुहृदो भृशसंविग्नाः सान्त्वयाञ्चक्रिरे तदा ॥
वही, १०।११।३

३- दिष्ट्या राजन्नवाप्येमामखिलां भोक्ष्यसे महीम् ।
आत्मजान् क्षत्रधर्मेण सम्प्रदाय यमाय वै ॥
दिष्ट्या त्वं कुशली पार्थ मत्तमातङ्गगामिनीम् ।
अवाप्य पृथ्वीं कृत्स्नां सौभद्रं न स्मरिष्यसि ॥
आत्मजान् क्षत्रधर्मेण श्रुत्वा शूरान् निपातितान् ।
उपप्लव्ये मया सार्धं दिष्ट्या त्वं न स्मरिष्यसि ॥
वही, १०।११।१०-१२

यहाँ पर युधिष्ठिर और द्रौपदी आश्रय हैं, उनके मृतपुत्र आलम्बन हैं और शत्रुओं का उत्कर्ष उद्दीपन है । अनुभाव हैं युधिष्ठिर और द्रौपदी का मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरना, विलाप करना, अपने पुत्रों के वीरोचित कर्मों का स्मरण इत्यादि । चिन्ता, दैन्य, विषाद, ग्लानि, जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं । शोक स्थायी भाव इन सब उपादानों से परिपुष्ट होकर रस रूप में अभिव्यंजित हो गया है ।

महाभारत का सम्पूर्ण स्त्रीपर्व ही करुण रस का उत्कृष्ट निदर्शन है । अपने पुत्रों, अमात्यों और मित्रों की मृत्यु पर धृतराष्ट्र अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं । मनःसन्ताप से सन्तप्त होकर वह अपने भावी जीवन की दुःखपूर्ण कल्पना से अत्यन्त विह्वल उठते हैं । वह अपने मित्रों, परशुराम, नारद, व्यास, श्रीकृष्ण इत्यादि के सदुपदेशों का स्मरण करके पश्चाताप में डूब जाते हैं । अपनी दशा का वर्णन करते हुए धृतराष्ट्र कहते हैं कि "अब मैं न भीष्म के धर्मयुक्त वचनों को सुन सकूँगा और न दुर्योधन के वीरोचित वचन ही मेरे कानों में पड़ेंगे । दुःशासन, कर्ण, द्रोण आदि का वध सुनकर उनका हृदय विदीर्ण हो रहा है ।[1] इस समय धृतराष्ट्र अपने आपको अत्यन्त असहाय समझते हैं । उन्हें अब इस भूमण्डल में अपने से बढ़कर दुःखी और कोई दिखाई ही नहीं पड़ता है ।[2]

व्यास के वरदान से गान्धारी को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वह युद्ध में हताहत योद्धाओं को देखकर शोक-विह्वल हो उठती है । उनका

१- दुःशासनवधं श्रुत्वा कर्णस्य च विपर्ययम् ।
द्रोणसूर्योपरागं च हृदयं मे विदीर्यते ।। वही, ११।१।२६,२७

२- परिणामश्च वयसः सर्वबन्धुक्षयश्च मे ।।
सुहृन्मित्रविनाशश्च दैवयोगादुपागतः ।
कोऽन्योऽस्ति दुःखिततरो मत्तोऽन्यो हि पुमान् भुवि ।।
वही, ११।१।२६,२७

यह शोक मृत योद्धाओं की विधवाओं को रोता-बिलखता देखकर और भी बढ़ जाता है । वह भगवान् कृष्ण के समीप जाकर विलाप करने लगती है । वह उन योद्धाओं का स्मरण करती हुई कहती है कि " ये वही शूरवीर हैं जो कभी कोमल शय्याओं के ऊपर शयन किया करते थे, किन्तु आज यही लोग मृत्यु को प्राप्त होकर इस नंगी भूमि पर पड़े हुए हैं । कहाँ तो पहले उनका अभिनन्दन बन्दीजन अपने सुमधुर वचनों के द्वारा किया करते थे और कहाँ आज उन्हें शृगालियाँ अपने अमंगलसूचक शब्द सुना रही हैं । ये वही शूरवीर हैं, जो कभी अपने अंगों में चन्दन और अगुरु इत्यादि के अंगरागों को लगाकर सेजों पर सोया करते थे, आज वही धूलि में लोट रहे हैं ।[1]" इन कुलशूरवीरों के ऊपर मांसभक्षी पशु-पक्षियों के झुण्ड टूट रहे हैं । इससे गान्धारी का शोक और भी उद्दीप्त हो उठता है । इन वीरों की विधवायें उनके समीप बैठकर विलाप कर रही हैं । इससे गान्धारी का हृदय द्रवित हो उठता है। वीरों के रुण्ड-मुण्डों को देखकर उनकी स्त्रियाँ मूर्च्छित हो रही हैं । इन सब दृश्यों को देखकर गान्धारी ग्लानि से भर जाती है । वह कहने लगती है कि 'मैंने निश्चय ही अपने पूर्वजन्मों में घोर पाप किया होगा, जिसके कारण मुझे आज अपने पुत्रों, पौत्रों और भाइयों को इस दुरावस्था में देखना पड़ रहा है[2]' ।

१- शयाना ये पुरा मृदूनि शयनानि च ।
विमृष्टास्तेऽद्य वसुधां विवृतामधिशेरते ।।
बन्दिभिः सततं काले स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ।
शिवानामशिवा घोराः शृण्वन्ति विविधा गिरः ।।
ये पुरा शेरते वीराः शयनेषु यशस्विनः ।
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गास्तेऽद्य पांसुषु शेरते ।।
वही, ११।१६।३१-३३

२- नूनमाचरितं पापं मया पूर्वेषु जन्मसु ।
या पश्यामि हतान् पुत्रान् पौत्रान् भ्रातॄंश्च माधव ।
वही, ११।१६।६०

दुर्योधन को वीरगति प्राप्त हुआ देखकर गान्धारी कटे हुए कदली वृक्ष के समान पृथ्वी पर गिर पड़ती है। पुनः लब्धसंज्ञ होने पर और दुर्योधन के रक्त-रंजित शरीर को देखकर गान्धारी उसका आलिङ्गन करके विलाप करने लगती है। वह कहती है कि 'यह वही दुर्योधन है जिसका मनोरञ्जन पहले उसके पास बैठकर सुन्दरियाँ किया करती थीं, किन्तु आज उसी को घेर कर शृगालियाँ बैठी हुई हैं। पहले जिसके पास बैठकर राजा आनन्द किया करते थे, आज उसके चारों ओर गीध बैठे हुये हैं। यह वही दुर्योधन है, जिसके ऊपर कभी सुन्दरियाँ सुन्दर व्यजनों से हवा किया करती थीं, आज उन्हीं के ऊपर (मांस-भक्षी) पक्षियों के द्वारा अपने पंखों से हवा की जा रही है।[1] अपने पुत्र के शव पर रोती तड़पती उसकी स्त्रियों का विलाप उसके लिए अत्यन्त असह्य है।[2] अपने मृत पुत्रों के अस्त्रशस्त्रों को देखकर उसका हृदय विदीर्ण होने लगता है। अपने पुत्र दुःशासन को मृत देखकर भी वह उसी प्रकार विलाप करने लगती है। इसी प्रकार वह विकर्ण, दुर्मुख, चित्रसेन आदि को भी विपन्नावस्था में देखकर शोकमग्न हो जाती है।

गान्धारी अपने ही पुत्रों के वध से दुःखी नहीं है। वह उत्तरा और विराट की स्त्रियों के शोक और विलाप से भी उतनी ही व्याकुल हो रही

१- यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः।
तं वीरशयने सुप्तं रमयन्त्यशिवाः शिवाः॥
यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तं पर्युपासते॥
यं पुरा व्यजनै रम्यैरुपवीजन्ति योषितः।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः।
वही, ११।१६।२३-२५

२- (क) इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम।
यदिमाः पर्युपासन्ते हता शूरान् रणे स्त्रियः॥
वही, ११।१७।३४

(ख) इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः॥
वही, ११।१८।२

है । उसे अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा का करुण क्रन्दन झकझोर रहा है। कर्ण की मृत्यु से व्यथित उसकी पत्नियों की दशा और भी शोचनीय है। वे अपने केशों को छिटका कर विलाप कर रही हैं । इस हृदयद्रावक दृश्य को देखकर गान्धारी का दुःख अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाता है । जयद्रथ को रणभूमि में मरा हुआ देखकर गान्धारी उच्च स्वर में विलाप करने लगती है । वह अपने पति के समीप बैठकर रोती-बिलखती दुःशला को देखकर और भी करुणार्द्र हो उठती है । वह अपनी प्रिय पुत्री दुःशला के वैधव्य से भी दुःखी हो रही है ।[१] शल्य, भगदत्त, भीष्म और द्रोणाचार्य को मृत देखकर गान्धारी का शोक अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाता है और वह उनके लिये विलाप करने लगती है । इसी प्रकार अन्य वीरों को भी मृत देखकर गान्धारी का हृदय दुःख से विदीर्ण होने लगता है । अपने भाई शकुनि की मृत्यु पर गान्धारी दुःखी तो है ही, उसके प्रति आक्रुष्ट भी है । इस विपत्ति की घड़ी में गान्धारी अपने सर्वनाश के लिए शकुनि को ही उत्तरदायी ठहराती है । पश्चात्ताप में डूबी हुई गान्धारी शकुनि के दुष्कर्मों का स्मरण करती है । उसे यह भी भय है कि यदि शकुनि को भी स्वर्ग प्राप्त हो गया

१- एषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिता ।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान् ।।
किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति ।
यत् सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वराः ।।
हा हा धिग् दुःशलां पश्य वीतशोकभयामिव ।
शिरो भर्तुरनासाद्य धावमानामितस्ततः ।।

वही, ११।२२।१४-१६

तो वहाँ भी भाइयों-भाइयों में विरोध उत्पन्न कर देगा।[1] यहाँ पर गान्धारी का मातृत्व जागृत हो उठा है, जिसके कारण वह अपने पुत्रों की ममता में इतनी डूब जाती है कि वह अपने पुत्रों के सभी कुकृत्यों के लिए अपने भाई को दोषी ठहराती है।

यहाँ पर धृतराष्ट्र और गान्धारी आश्रय हैं। आलम्बन हैं रणभूमि में वीरगति प्राप्त अनेकानेक योद्धा। योद्धाओं के वीर कर्म, उनके क्षत-विक्षत शरीर, उन पर मांसभक्षी पशु-पक्षियों का मँडराना, योद्धाओं की स्त्रियों का विलाप आदि उद्दीपन विभाव हैं। मृत योद्धाओं को देखकर धृतराष्ट्र और गान्धारी का विलाप करना, मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर-गिर पड़ना, वक्षस्थल-ताड़न, दैव को बुरा भला कहना, अपने आप को कोसना, अपने मृतपुत्रों के कुकर्मों पर पश्चाताप करना, आदि अनुभाव हैं और व्यभिचारी हैं चिन्ता, दैन्य, जड़ता, ग्लानि, व्याधि, अपस्मार इत्यादि। इन सभी उपादानों के संयोग से परिपुष्ट होकर धृतराष्ट्र और गान्धारी का शोकस्थायी भाव रसनीयता को प्राप्त कर रहा है।

१- मायया निकृतिप्रज्ञो जितवान् यो युधिष्ठिरम्।
सभायां विपुलं राज्यं स पुनर्निर्जितो जितः॥
शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण समन्तात् पर्युपासते।
कैतवं मम पुत्राणां विनाशायोपशिक्षितम्॥
एतेनैतन्महद् वैरं प्रसक्तं पाण्डवैः सह।
वधाय मम पुत्राणामात्मनः सगणस्य च॥
यथैव मम पुत्राणां लोकाः शस्त्रजिताः प्रभो।
एवमस्यापि दुर्बुद्धेर्लोकाः शस्त्रेण वै जिताः॥
कथं च नायं तत्रापि पुत्रान्मे भ्रातृभिः सह।
विरोधयेदृजुप्रज्ञाननृजुर्मधुसूदन॥

वही, ११।२४।२६-३०

समरभूमि में वीरगति को प्राप्त भूरिश्रवा की माता और उसकी स्त्रियों का विलाप भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। भूरिश्रवा की माता अपने पुत्र की मृत्यु से इतनी अधिक विह्वल हो उठी है कि उन्हें अपने पति की मृत्यु का शोक विस्मृत हो गया है। इसके विपरीत वह इस बात पर अपना सन्तोष व्यक्त कर रही हैं कि उनके पति को अपने पुत्र की मृत्यु और तज्जन्य अपनी पुत्रवधुओं की शोकविह्वलता देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ।[1] भूरिश्रवा की पत्नियाँ भी विलाप करके अपने पति के समीप पछाड़ें खा-खाकर गिर रही हैं। वे सात्यकि को बुरा भला कहने लगती हैं।[2] भूरिश्रवा की एक स्त्री अपने पति की कटी हुई भुजा को अपनी गोद में लेकर विलाप करती हुई कहती है कि 'यह वही भुजा है जिसने युद्ध में अनेक शूरवीरों का वध किया था, मित्रों को अभयदान प्रदान किया था, सहस्रों गोदान किया था तथा क्षत्रियों का संहार किया था। यह वही हाथ है जो कभी हमारी करधनी को खींचा करता था, पीवर स्तनों का मर्दन किया करता था, नाभि, उरु

१- दिष्ट्या नैनं महाराज दारुणं भरतक्षयम्।
कुरुसंक्रन्दनं घोरं युगान्तमनुपश्यसि॥
दिष्ट्या यूपध्वजं पुत्रं वीरं भूरिसहस्रदम्।
अनेकक्रतुयज्वानं निहतं नानुपश्यसि॥
दिष्ट्या स्नुषाणामाक्रन्दे घोरं विलपितं बहु।
न शृणोषि महाराज सारसीनामिवार्णवे॥
दिष्ट्या तत् काञ्चनं छत्रं यूपकेतोर्महात्मनः।
विनिकीर्णं रथोपस्थे सौमदत्तेर्न पश्यसि॥
वही, ११।२४।४,५,६,१०

२- ततः पापतरं कर्म कृतवानपि सात्यकिः।
यस्मात् प्रायोपविष्टस्य प्राहार्षीत् संशितात्मनः॥
वही, ११।२४।१४

और कानस्थल का स्पर्श करता था और नीवी के बन्धन को खोल दिया करता था।[1]

यहाँ भूरिश्रवा की माता और उनकी स्त्रियाँ आश्रय हैं। भूरिश्रवा आलम्बन है और उसकी कटी हुई भुजा उद्दीपन है। अनुभाव हैं भूरिश्रवा की माता और उनकी स्त्रियों का विलाप, भूरिश्रवा की माता के द्वारा अर्जुन और सात्यकि को कोसना इत्यादि। व्यभिचारी के रूप में चिन्ता, ग्लानि आदि हैं। इन विभावानुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से शोक स्थायी-भाव रस रूप में आस्वाद्य हो गया है।

युद्धभूमि में अभिमन्यु की वीरगति का समाचार सुनकर उत्तरा उसके समीप जाकर शोक प्रकट करने लगती है। वह अभिमन्यु के रक्त-रंजित कवच को उठा लेती है और उसके आहत शरीर को देखकर विलाप करती हुई कहने लगती है कि "हा प्रियतम! आपका शरीर तो अत्यन्त सुकुमार है। पहले तो आप रंकुरव की चर्मशय्या पर शयन किया करते थे, किन्तु आज इस भूमि पर पड़े हुये आपको कष्ट तो नहीं हो रहा है"।[2] वह अभिमन्यु की इस

१- अयं स हन्ता शूराणां मित्राणामभयप्रद: ।
प्रदाता गोसहस्राणां क्षत्रियान्तकर: कर: ।।
अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दन: ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसन: कर: ।।

वही, ११।२४।१८-१९

२- अत्यन्तं सुकुमारस्य राङ्कवाजिनशायिन: ।
कच्चिदद्य शरीरं ते भूमौ न परितप्यते ।।

वही, ११।२०।११

अवस्था के लिये अपने आपको ही दोषी समझती है, किन्तु उसे अपने द्वारा किये गये किसी ऐसे अपराध का स्मरण नहीं आ रहा है, जिसके कारण वह उसके बोझ भी नहीं रहे हैं। अपनी दुःखावस्था में वह मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाती है और कृपाचार्य, कर्ण, जयद्रथ, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा को धिक्कारने लगती है, जिन्होंने उसे वैधव्य दुःख में डाल दिया है। ऐसे दारुण दुःख को सहन करके भी जीवित रहने के लिये वह अपने आपको कोसने लगती है।[१] उत्तरा का हृदय नारी सुलभ ईर्ष्या से भर जाता है। वह अभिमन्यु को उपालम्भ देती हुई कहने लगती है कि 'हे पुरुषश्रेष्ठ! आप पितृलोक में जाकर वहाँ भी किसी स्त्री को मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त मधुर वाणी से बुलाने लगेंगे। निश्चय ही आप स्वर्ग में जाकर अपने सौन्दर्य और मुस्कानयुक्त मीठे-मीठे वचनों से वहाँ की अप्सराओं के मन को मथ डालेंगे। आप पुण्यात्माओं के लोकों में जाकर वहाँ की अप्सराओं के साथ विहार करते समय मेरे शुभकर्मों का भी स्मरण करते रहियेगा।'[२] उत्तरा के इन शब्दों में कितनी व्यथा भरी हुई है, जब वह अभिमन्यु के साथ व्यतीत

१- दुर्भरं पुनराप्राप्ते काले भवति कैनचित् ।
यदहं त्वां रणे दृष्ट्वा हतं जीवामि दुर्भगा ॥

वही, ११।२०।२४

२- कामिदानीं नरव्याघ्र श्लक्ष्णया स्मितया गिरा ।
पितृलोके समेत्यान्यां मामिवामन्त्रयिष्यसि ॥
नूनमप्सरसां स्वर्गे मनांसि प्रमथिष्यसि ।
परमेण च रूपेण गिरा च स्मितपूर्वया ॥
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानप्सरोभिः समेयिवान् ।
सौभद्र विहरन् काले स्मरेथाः सुकृतानि मे ॥

वही, ११।२०।२५-२७

किये गये स्वल्पकाल का स्मरण करके कहती है कि "हे वीर ! इस लोक में मेरे साथ आपका संयोग केवल छ: मासों का ही रहा है । सातवें मास में ही आप वीरगति को प्राप्त हो गये हैं ।[1]

यहाँ पर अभिमन्यु की मृत्यु से उत्तरा के हृदय में शोक उद्बुद्ध हो रहा है, इसलिये शोकाकुला उत्तरा आश्रय है और आलम्बन है अभिमन्यु । उसका घात-विघात और रक्त-रञ्जित शरीर उद्दीपन है । उत्तरा का विलाप करना, भूमिपात, कृप, द्रोणाचार्य आदि को बुरा भला कहना, अपने भाग्य को कोसना इत्यादि अनुभाव हैं । चिन्ता, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव उपर्युक्त विभावादि के संयोग से शोक स्थायी भाव को करुण रस के रूप में परिणत कर रहे हैं ।

नारद के मुख से धृतराष्ट्र आदि के दावानल में भस्म हो जाने का समाचार सुनकर युधिष्ठिर आदि पांचों भाई अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं । वे धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती का स्मरण करके विलाप करने लगते हैं । वे कभी अपने आप को धिक्कारते हुये बिलख-बिलख कर रोने लगते हैं । कुन्ती की उस विपन्नावस्था के समाचार से अन्तःपुर में हाहाकार मच जाता है ।[2] युधिष्ठिर अपने ताऊ आदि का स्मरण करके कहते हैं

१- षण्मासानिह संवासो विचित्रस्ते मया सह ।
षण्मासान्तु सप्तमे मासि त्वं वीर निधनं गतः ॥
वही,११।२०।२८

२- अहो धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः ॥
ऊर्ध्वबाहुः स्मरन् मातुः प्ररुरोद युधिष्ठिरः ।
भीमसेनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥
अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः ।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम् ॥
वही, १५।३७।४१-४३

कि जिनके सौ पुत्र थे और जिनमें दस सहस्र हाथियों का बल था, वही धृतराष्ट्र दावानल से जलकर भस्म हो गये हैं, यह कितने दुःख की बात है। युधिष्ठिर उनके अतीत का स्मरण करके कहते हैं कि 'पहले तो उनके ऊपर सुन्दरियाँ व्यजनों से हवा किया करती थीं, किन्तु आज उनके जल मरने पर उनके ऊपर मँडराते हुये गीध अपने पङ्खों से उनके ऊपर हवा कर रहे हैं।[1] युधिष्ठिर धृतराष्ट्र आदि की इस विपन्नावस्था के लिये अपने आपको दोषी ठहराते हुये कहते हैं कि 'जो धृतराष्ट्र इत्यादि पहले बहुमूल्य शय्या पर शयन किया करते थे और जिन्हें सूत-मागध अपने मधुर गीतों के द्वारा जगाया करते थे, वे ही आज मुझ पापी के कुकर्मों से पृथ्वी पर पड़े सो रहे हैं।[2] युधिष्ठिर के लिये अब अपने राज्य के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं रह गया है। वह अपने राज्य अपने बल-पराक्रम तथा अपने क्षात्रिय धर्म को धिक्कारने लगते हैं।[3] वह अग्नि की विभीषिका की कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'जिस समय मेरी माता कुन्ती के सम्मुख अग्नि का भय उपस्थित हुआ होगा, उस समय वह 'हा तात, हा धर्मराज' कहकर चिल्लाने लगी होंगी। उस समय वह भीमसेन को भी पुकार पुकार कर कहने लगी होंगी कि

१- यं पुरा पर्यवीजन्त तालवृन्तैर्वरस्त्रियः ।
तं गृध्राः पर्यवीजन्त दावाग्निपरिकालितम् ॥
वही, १५।३८।४

२- सूतमागधसङ्घैश्च शयानो यः प्रबोध्यते ।
धरण्यां स नृपः शेते पापस्य मम कर्मभिः ॥
वही, १५।३८।५

३- धिग्राज्यमिदमस्माकं धिग् बलं धिक् पराक्रमम् ।
क्षात्रधर्मं च धिग् यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥
वही, १५।३८।८

'हे भीमसेन इस भय से मुझे बचाओ '[1]। इस प्रकार धृतराष्ट्र आदि का स्मरण करते हुए पाँचों पाण्डव दुःख से आतुर हो उठे हैं। उनके करुण क्रन्दन से भूतल और आकाश गुञ्जित हो उठे हैं[2]।

यहाँ पर युधिष्ठिर इत्यादि पाँचों पाण्डव आश्रय हैं। धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती आलम्बन हैं। इनका पुत्र विषयक स्नेह उद्दीपन विभाव है। युधिष्ठिर इत्यादि का क्रन्दन उनका अपने पौरुष को धिक्कारना, भाग्य की निन्दा करना इत्यादि अनुभाव हैं। निर्वेद, वितर्क, ग्लानि चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबके संयोग से परिपुष्ट होकर युधिष्ठिर इत्यादि का शोक करुणारस के रूप में चर्व्यमाण हो रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत का अङ्गी रस तो शान्त है, किन्तु उसमें अङ्ग रूप में निबद्ध करुण रस भी कम आस्वाद्य नहीं है।

रामायण और महाभारत दोनों ही उपजीव्य काव्य हैं। परवर्ती संस्कृत कवियों ने इन दोनों काव्यों से प्रेरणा लेकर अनेकानेक महाकाव्यों की रचना की थी।

१- मन्ये पृथा वेपमाना कृशा धर्मनिकृन्तता ॥
हा तात। धर्मराजेति समाक्रन्दन्महाभये।
भीम पर्यापनुहि भयादिति वेपाभिभाषिणी ॥
वही, १५।३८।१६,१७

२- तच्छ्रुत्वा रुरुदुः सर्वे समालिङ्ग्य परस्परम् ॥
पाण्डवाः पञ्च दुःखार्ता भूतानीवयुगक्षये।
तेषां तु पुरुषेन्द्राणां रुदतां रुदितस्वनः ॥
प्रासादभोगमाक्रम्य अन्तरीक्षमथ रोदसी ॥
वही, १५।३८।१६-२१

रामायण और महाभारत तथा परवर्ती संस्कृत महाकाव्यों के दीर्घ अन्तराल में अनेक महाकाव्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है, किन्तु उनमें से कोई भी महाकाव्य प्राप्य न होने के कारण यहाँ अश्वघोष के महाकाव्यों से ही अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है ।

<u>बुद्धचरित</u>

बुद्धचरित के रचयिता अश्वघोष हैं । उनके जीवन और रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । अधिकांश विद्वानों के अनुसार इनका समय ई०पू० प्रथम शताब्दी है । इनके दो महाकाव्य उपलब्ध होते हैं— बुद्धचरित और सौन्दरनन्द ।

बुद्धचरित अट्ठाइस सर्गों का एक महाकाव्य है । इसमें सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उनके बुद्धत्व-प्राप्ति तक की कथा वर्णित है । इस महाकाव्य में बुद्ध के जीवनवृत्त के माध्यम से महाकवि ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों तथा संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन किया है । इसीलिये इस महाकाव्य में अङ्गीरस तो शान्त है किन्तु अङ्ग रूप में अन्य रसों के अतिरिक्त करुण रस का परिपोष भी देखा जाता है । सिद्धार्थ के गृहत्याग और उसके कारण उत्पन्न अन्तःपुर के विलाप में करुण रस का निबन्धन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है ।

संसार की असारता का ज्ञान हो जाने पर कुमार सिद्धार्थ शाश्वत सत्य की खोज में गृह का परित्याग कर तपस्या के लिये निकल पड़ते हैं । वह छन्दक को लेकर वन की ओर प्रस्थान करते हैं । मार्ग में वह छन्दक को भी घर वापस जाने का आदेश दे देते हैं । इस आदेश से छन्दक अत्यन्त दुःखी हो उठता है और वह अत्यधिक कातर स्वर में उनसे कहता है कि आपका यह कार्य आपके बन्धु-बान्धवों के लिये तो अत्यन्त कष्टप्रद है ही, इससे मेरा मन भी नदी के कीचड़ में फँसे हुये हाथी के समान व्यथित हो रहा है[1] ।

१- अनेन तव भावेन बान्धवायासदायिना ।
भर्तः सीदति मे चेतो नदीपङ्क इव द्विपः ॥
बुद्ध०, ६।२५

सिद्धार्थ उसके लिए अभी भी लाड़-प्यार के पात्र हैं । अतः वह सिद्धार्थ को तपस्या से विरत करने के लिए आग्रह करते हुये कहता है कि 'कहाँ तो चन्द्रशाला की शय्या के योग्य यह कोमलता और कहाँ तीक्ष्ण कुशों से भरी हुई यह तपोभूमि'।[1] सिद्धार्थ को इस प्रकार वन में छोड़कर नगर को लौटना छन्दक के लिए सहज नहीं है । उसे यह सङ्कोच हो रहा है कि इस प्रकार से नगर में वापस जाकर वह महाराज शुद्धोदन और उनकी रानियों से क्या कहेगा[2]। सिद्धार्थ को तपस्वियों का सा जीवन व्यतीत करने के लिए छोड़ने में मनुष्य तो मनुष्य उसके प्रिय अश्व कन्थक का भी हृदय द्रवीभूत हो रहा है । वह स्नेह से सिद्धार्थ के चरणों को चाटने लगता है और उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं[3]। अपने चिक्कण और सुकोमल केशपाश को काटकर सिद्धार्थ जब काषाय को धारण कर लेता है तब तो छन्दक और भी बिलख-बिलख कर रोने लगता है और रोते-रोते पृथ्वी पर गिर पड़ता है[4]। अपने आप को सम्भाल कर वह फिर उठता है और पुनः-पुनः

१- विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च ।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ॥
वही, ६।२८

२- किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वदृते नगरं गतम् ।
वक्ष्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तःपुराणि वा ॥
वही, ६।३७

३- इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः ।
जिह्वया लिलिहे पादौ बाष्पमुष्णं मुमोच च ॥
वही, ६।५३

४- ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे
तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षिप्य ततः स वाजिभृद्
भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ॥

वही, ६।५५

पीछे देखकर अपने अश्व को लिपट-लिपट कर रोता है। अन्यमनस्क होकर नगर की ओर जाते हुये वह कहीं विलाप करता है, तो कहीं लड़खड़ाता है और कहीं पृथ्वी पर गिर-गिर जाता है।[१]

यहाँ पर कुमार सिद्धार्थ और सारथी छन्दक के वियोग में करुण रस है, जिसका आश्रय छन्दक और आलम्बन सिद्धार्थ है। सिद्धार्थ का गृहत्याग, उनके द्वारा अपने केशों को काटना, काषाय धारण करना आदि उद्दीपन विभाव हैं। छन्दक का विलाप, उसके द्वारा आक्रोश व्यक्त करना, लड़खड़ाना और भूपात अनुभाव हैं। व्यभिचारी भाव हैं ग्लानि, चिन्ता, जड़ता, विषाद, वितर्क आदि।

सिद्धार्थ को वन में छोड़ कर छन्दक अश्व को लेकर नगर की ओर लौट रहा है। दुःखातिरेक से वह अशक्त हो रहा है। वह अपने पैरों को आगे बढ़ाता है, किन्तु वे आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे ही पड़ते हैं। सिद्धार्थ के पुनर्दर्शन की उत्कट अभिलाषा उन्हें आगे बढ़ने भी नहीं देता। यही कारण है कि जिस मार्ग को उसने एक रात्रि में पूरा किया था, उसी मार्ग से लौटने में उसे आठ दिन लग जाते हैं। राजकुमार सिद्धार्थ के बिना छन्दक को लौटता देखकर नगर निवासियों के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने

१- विलोक्य भूयश्च रुरोद सस्वरं
हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम्।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहु-
र्ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा॥
क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित्
क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित्।
अतो व्रजन् भक्तिवशेन दुःखित-
श्चचार बह्वीरवशः पथि क्रियाः॥ वही, ६।५७-५८

लगते हैं। इस अवस्था में उन्हें अपने जीवन के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे उसी वन में जाने का विचार करने लगते हैं जहाँ कुमार सिद्धार्थ चले गये हैं।[1] इतने में ही कन्थक तथा छन्दक की आहट पाकर अन्तः-पुर की स्त्रियों को यह भ्रम हो जाता है कि सिद्धार्थ लौट आये हैं, वे दौड़ कर झरोखों के पास आती हैं, किन्तु कन्थक की खाली पीठ देखकर झरोखे बन्द करके रोने लगती हैं।[2] राजप्रासाद में प्रवेश करते समय कुमार की स्मृति में अश्व नेत्रों से अश्रु प्रवाहित करता हुआ हिनहिनाने लगता है।[3]

इस सम्पूर्ण दृश्य को देखकर सिद्धार्थ की माता गौतमी रुदन करने लगती है और अपनी भुजायें फैलाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है।[4] अन्य स्त्रियाँ

१- अथोत्तुरंगेण विहाय तत्र
गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः ।
किलो विना नास्ति हि तेन नो विना
यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम् ॥
वही, ८।१२

२- पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो
गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।
विविक्तपृष्ठं च निशाम्य वाजिनं
पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः ॥
वही, ८।१४

३- विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं
विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुषा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको
जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥
वही, ८।१७

४- ततः स्वाभ्या महिषी महीपतेः
प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला ।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी
विलोलपर्णी कदलीव काञ्चनी ॥
वही, ८।२४

भी स्तब्ध हो जाती हैं । उनके बाहु और कन्धे शिथिल पड़ जाते हैं और शोकावेग के कारण उन्हें काठ मार जाता है । अब वे न तो रोती हैं, न आँसू बहाती हैं, न श्वास लेती हैं और न चलती ही हैं, अपितु चित्रलिखित सी खड़ी की खड़ी रह जाती हैं और अपने वक्षःस्थल का ताड़न करने लगती हैं ।[1] यशोधरा शोक से विह्वल होकर कन्थक को उपालम्भ देने लगती है । वह कन्थक को कोसती हुई कहती है कि 'यह दुष्ट अश्व आज अपनी हिनहिना-हट से राजप्रासाद को क्षुब्ध कर रहा है, किन्तु जब वह मेरे प्रियतम को लेकर जा रहा था, तब गूँगा हो गया था । यदि यह उस समय हिनहिनाता या खुराघात से शब्द करता, तो (हम लोग अवश्य जग जाते और) मुझे यह दुःख न भोगना पड़ता ।[2] गौतमी की दशा तो और भी अधिक शोचनीय हो रही है । उसके नेत्रों से अश्रुओं की धारा बह रही है, उसका धैर्य छूट रहा है

१- हृतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः
स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसु-
र्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ।।
सुलीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरै-
रभूषणैर्गूढशिरैर्वराङ्गनाः ।
उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः
स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ।।

वही, ८।२५,२८

२- अनार्यकर्मा भृशमद्य हेषते
नरेन्द्रधिष्ण्यं प्रतिपूरयन्निव ।
यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियम्
तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवत् ।।
यदि ह्यहेषिष्यत बोधयन् जनं
खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम् ।
हनुस्वनं वाजनयिष्यदुत्तमं
न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम् ।।

वही, ८।४०-४१

और वह विलाप करते - करते पहले तो मूर्च्छित हो जाती है, किन्तु पुनः लब्धसंज्ञ होकर विलाप करने लगती है[1]। वह अपने प्रिय पुत्र के अङ्गों की कोमलता का स्मरण करती हुई कहती है कि "मेरा वह व्रती पुत्र कठोर से भिन्न हुई पृथ्वी पर कैसे सो सकेगा। पहले तो वह स्वर्णमयी पवित्र शय्या पर शयन किया करता था और निशावसान होने पर तूर्यध्वनि की मधुर ध्वनि से ही निद्रा का परित्याग किया करता था"[2]। इस आर्तनाद को सुनकर सभी स्त्रियाँ एक दूसरे से चिपट जाती हैं। उनके नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। यशोधरा तो रोता बिलखती पृथ्वी पर गिर जाती है और बाष्प-गद्गद कण्ठ से बहुविध विलाप करने लगती है[3]। वह विलख-

---

१- विषादपारिप्लवलोचना ततः
प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता ।
विहाय धैर्यं विरुराव गौतमी
ताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ।। वही, ८।५१

२- भुवौ शयित्वा शयने हिरण्मये
प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती
पटैकदेशान्तरिते महीतले ।। वही, ८।५८

३- इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता
भुजैः परिष्वज्य परस्परं स्त्रियः ।
विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजु-
र्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ।।
ततो धरायामपतद्यशोधरा
विचक्रवाकेव रथाङ्गसाह्वया ।
शनैश्च तत्तद्विललाप विक्लवा
मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धया गिरा ।। वही, ८।५९-६०

बिलख कर कहती है कि 'उस स्वर्ग की स्त्रियाँ कितनी सुन्दर होंगी, जिन्हें प्राप्त करने के लिये मेरे प्रियतम मेरी सेवा और राज्य-लक्ष्मी का परित्याग करके वन में तपस्या करने के लिये चले गये हैं'। पुनः कहती है कि 'मुझे स्वर्ग की इच्छा बिल्कुल ही नहीं है। मेरी तो केवल एक ही लालसा है कि मेरे प्रियतम मुझे इस लोक और परलोक में कभी न भूलें'।[1] वह सिद्धार्थ को उपालम्भ देती हुई और अपने भाग्य को कोसती हुई कहती है कि 'यदि मैं इतनी अभागिनी हूँ कि मैं अपने पति के दीर्घ नयन और मन्दमुस्कान से युक्त मुख का अवलोकन नहीं कर सकती हूँ, तो क्या यह राहुल भी इतना अभागा है कि उसे भी अपने पिता की गोद में खेलने का अवसर न प्राप्त हो सके'।[2] यशोधरा को सिद्धार्थ की कठोरता पर आश्चर्य हो रहा है। वह कहती है कि 'उस मनस्वी का स्वरूप तो अत्यन्त कोमल अवश्य है, किन्तु

१- इयं तु चिन्ता मम कीदृशं नु ता-
वपुर्गुणं बिभ्रति तत्र योषितः।
वने यदर्थं स तपांसि तप्यते
श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ।।
न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा
न तज्जनस्यात्मवतोऽपि दुर्लभम्।
स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा
कथं न जह्यादिति मे मनोरथः ।। वही, ८।५५,५६

२- अभागिनी यद्यहमायतेक्षणं
शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम्।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं
कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ।। वही, ८।५७

उसका मन अत्यन्त निर्दय है, अन्यथा वह शत्रुओं को भी आनन्दित करने वाले और तुतलाते हुए इस अबोध शिशु को छोड़ कर क्यों चले जाते।[1] उन्हें आश्चर्य है कि इस दारुण दुःख में भी उनका हृदय विदीर्ण क्यों नहीं हो रहा है। इस प्रकार अपने पति के शोक में यशोधरा बार-बार मूर्च्छित होती है और बार-बार विलाप करती है। स्वभाव से गम्भीर होती हुई भी न तो उसे धैर्य का स्मरण है और न लज्जा की सुधि।[2] यशोधरा को रोती — कलपती देखकर अन्य स्त्रियाँ भी रोने चिल्लाने लगती हैं।[3]

छन्दक और कन्थक को देखकर तथा अपने पुत्र के दृढ़ निश्चय को सुनकर महाराज शुद्धोदन शोकाभिभूत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। अपने परिजनों के द्वारा सम्भाल लिये जाने पर वह अश्व को देख देख कर विलाप करने लगते

१- अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः।
सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं
शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं बत ।।
वही, ८।६८

२- इतीह देवी पतिशोकमूर्च्छिता
रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत्।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा
धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम् ।।
वही, ८।७०

३- ततस्तथा शोकविलापविक्लवां
यशोधरां प्रेक्ष्य वसुन्धरागताम्।
महारविन्दैरिव वृष्टिताडितै-
र्मुखैः सबाष्पैर्वनिता विचुक्रुशुः ।।
वही, ८।७१

है । वह अपने अश्व को उपालम्भ देते हुए कहते हैं कि ' हे कन्थक, युद्ध भूमि में तो तूने मेरे अनेक उपकार किये थे, किन्तु आज तूने इतना बड़ा अपकार कैसे कर डाला । तू तो आज मेरे प्रिय पुत्र को अप्रिय के समान वन में छोड़ आया । अतः आज या तो तू मुझे वहाँ ले चल अथवा उसे.ही यहाँ ले आ, क्योंकि उसके बिना तो मैं जीवित ही नहीं रह सकता हूँ ।[1] इस प्रकार अपने प्रिय पुत्र के वियोगजन्य दुःख से शुद्धोदन अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं । वह विलाप करते करते अपनी चेतना खो बैठते हैं ।[2]

कुमार सिद्धार्थ की प्रव्रज्या से सम्बद्ध प्रस्तुत प्रसङ्ग 'बुद्धचरित' का सर्वाधिक कारुणिक प्रसङ्ग है । जीवित रहते हुए भी माता-पिता तथा

१- बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे
महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम् ।
गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः
प्रियोऽपि सन्नप्रियवत्प्रवेरितः ॥
तदद्य मां वा नय तत्र यत्र सः
व्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।
ऋते हि तस्मान्मम नास्ति जीवितं
विगाढरोगस्य सदौषधादिव ॥

वही, ८।७५,७६

२- इति तनयवियोगजातदुःखः
क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो
बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ।

वही, ८।८१

पत्नी का परित्याग करके सिद्धार्थ प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं । इससे उनके माता-पिता, उनकी पत्नी तथा समस्त अन्तःपुर शोकमग्न हो जाता है, अतः ये ही करुण रस के आश्रय हैं । कुमार सिद्धार्थ आलम्बन हैं । छन्दक और कन्थक का सिद्धार्थ के बिना वापस आना और अबोध राहुल. उद्दीपन हैं । माता-पिता , स्त्री और अन्तःपुर का विलाप, मूर्च्छा, प्राण-त्याग की इच्छा करना, कन्थक और छन्दक के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग, भाग्य-निन्दा, भूपात इत्यादि अनुभाव हैं । औत्सुक्य, चिन्ता, ग्लानि, विषाद, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन सभी उपादानों से परिपुष्ट होकर शोक स्थायी भाव रमणीयता को प्राप्त हो रहा है ।

सौन्दरनन्द

सौन्दरनन्द अश्वघोष की अन्य रचना है । यह १८ सर्गों का महाकाव्य है । इसमें नन्द और सुन्दरी की कथा वर्णित है । बौद्ध धर्म से प्रभावित होने के कारण अश्वघोष की इस रचना का भी मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों तथा उपदेशों का प्रतिपादन है । इस उद्देश्य की पूर्ति महाकवि ने नन्द के द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण के व्याज से की है । मोक्ष की व्याख्या से गर्भित इस महाकाव्य का अङ्गी रस शान्त है[१] । अङ्गरूप में अन्य रसों के साथ इसमें करुण का परिपाक भी अच्छा बन पड़ा है । नायक-नायिका (नन्द-सुन्दरी) एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं । कालान्तर में सुन्दरी

१- इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति:
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ।।

सौन्दर०, १८।६३

और नन्द का पुनर्मिलन होता अवश्य है, किन्तु तब, जब कि नन्द प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। उन्हें संसार के सभी सुखोपभोगों की ओर से विरक्ति हो जाती है। अतः सुन्दरी और नन्द का पुनर्मिलन नायिका-नायक रूप में नहीं होता है। सुन्दरी नन्द की प्रव्रज्या के पश्चात् उनके प्रणाय से सदैव के लिए वञ्चित हो जाती है। इसलिये सांसारिक दृष्टि से उन दोनों का वियोग आत्यन्तिक ही माना जायेगा। इस प्रकार सौन्दरनन्द का यह प्रसङ्ग करुण रस के अन्तर्गत आयेगा।

नन्द के द्वारा परित्यक्ता सुन्दरी को जब यह ज्ञात होता है कि उनके प्रियतम ने तथागत के प्रभाव से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, तब वह अत्यधिक क्षुब्ध हो उठती है। वह बिलख-बिलख कर विलाप करने लगती है रोते रोते वह गिर पड़ती है, जिससे उसका हार अस्तव्यस्त होकर बिखर जाता है। वह पुनः पुनः अपने पति के गुणों का स्मरण करती है और दीर्घ उच्छ्वास लेती हुई मूर्च्छित हो जाती है। लब्धसंज्ञ होने पर उसे अपने प्रति भी विरति उत्पन्न हो जाती है और वह अपने लिये आभूषणों की कोई उपयोगिता न समझकर उन्हें सभी दिशाओं में फेंकने लगती है।[१] उसे अपने अङ्गों को सुशोभित करने में भी रुचि नहीं रह जाती है। पति के वियोग ने सुन्दरी को उन्मत्त कर दिया है। इससे वह विक्षिप्तों के समान आचरण करने लगती है। 'मेरे प्रियतम ने इस दर्पण को मेरे लिये ही अपने हाथ में लिया था'— ऐसा कहती हुई वह दर्पण का आलिङ्गन करने लगती है

१- न भूषणार्थो मम सम्प्रतीति
सा दिक्षु चिक्षेप विभूषणानि ।
निर्भूषणा सा पतिता चकाशे
विशीर्णपुष्पस्तबका लतेव ।।

वही, ६।२८

किन्तु अपने प्रियतम से वियुक्त होने के कारण उसे अपने सौन्दर्य का कोई फल नहीं दिखाई पड़ता है । अत एव वह खीझ कर अपने कपोलों पर चित्रित पत्रावली को पोंछ डालती है ।[1] वह अपने प्रियतम के वस्त्राभरणों तथा वीणा इत्यादि मनोरञ्जन के साधनों को देखकर और भी अधिक भावावेश से युक्त हो जाती है तथा विलाप करती हुई शोक में निमग्न हो जाती है ।[2] उसकी विक्षिप्तावस्था इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह रोती है, कुम्हलाती है, चिल्लाती है, ग्लानि से भर भर जाती है, इधर उधर घूमती है, खड़ी रह जाती है, विलाप करती है, चिन्तामग्न हो जाती है, क्रोध करने लगती है, अपनी माला को बिखेरने लगती है, (दाँतों से) अपने मुख को काटने लगती है और अपने वस्त्रों को फाड़ने लगती है ।[3]

यहाँ सुन्दरी शोकस्थायी भावात्मक करुण रस का आश्रय है । नन्द आलम्बन है । नन्द के वस्त्राभरणों तथा वीणा आदि सम्भार उद्दीपन

१- पुन: प्रियेणायममुन्ममेति
रूपमनल्पहृं दर्पणमालिलिङ्गे ।
वक्त्राच्च विन्यस्ततमालपत्रौ
रुष्टैव प्रममार्ज गण्डौ । वही, ६।२६

२- सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि
वज्राग्निसंभिन्नदरीगुहेव ।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना
विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव ।। वही, ६।३३

३- रुरोदमम्लौ विरुराव जग्लौ
बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
चकार रोषं विचकार माल्यं
चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ।। वही, ६।३४

विभाव है । सुन्दरी का रुदन, मूर्च्छित होना, मुख को काटना, वस्त्रों को फाड़ना, अपने आभूषणों को इधर-उधर फेंकना इत्यादि अनुभाव है । वितर्क, दैन्य, जड़ता, विषाद, निर्वेद, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव है।

इधर सुन्दरी नन्द के लिये पीड़ित है और उधर नन्द भी स्त्री-विषयक विचारों में डूबे हुए हैं । वह अपनी प्रियतमा का स्मरण कर कर के विचलित हो रहे हैं । इस उद्विग्नता के क्षणों में वह अपनी प्रियतमा के द्वारा लगायी गयी प्रियङ्गुलता को देखकर अपनी प्रियतमा की स्मृति में डूब जाते हैं और उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं ।[1] प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को देखकर उन्हें अपनी प्रियतमा का वियोग और भी सताने लगता है। आम्रवृक्ष से लिपटी हुयी अति मुक्तक लता को देखकर उसे सुन्दरी के द्वारा अपने आलिङ्गन का स्मरण हो जाता है ।[2] प्रियतमा की स्मृति में खोये हुए नन्द को प्रकृति की नानाविध रमणीयता भी आकृष्ट नहीं कर पाती है, अपितु उनका वियोग और भी उद्दीप्त होता जाता है । अन्ततोगत्वा उनके धैर्य का बांध टूट जाता है और वह अपने जैसे उन मनुष्यों को बुरा भला कहने लगते हैं, जो अपनी अश्रुमुखी प्रियतमाओं को छोड़ कर तपस्या में लीन हो

१- प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गुं
निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीं ।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्पः
प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदातां ।। वही, ७।६

२- लतां प्रफुल्लामतिमुक्तकस्य
चूतस्य पार्श्वे परिरभ्य जातां ।
निशाम्य चिन्तामगमत्तदैवं
श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति ।। वही, ७।८

जाते है।[1] वह विचित्र द्विविधा में पड़े हुये है और कहते है कि 'एक ओर तो मैं कामासक्त हूं और दूसरी ओर मेरे गुरु बुद्ध है, अब तो मैं मानो रथ के दो चाकों के बीच में पड़ा हुआ हूं।[2] वह अपनी संयोगावस्था के क्षणों के स्मरण से और भी उद्विग्न हो रहे हैं। सुन्दरी के प्रति उनका आकर्षण उनके वैराग्य को हिला देता है। उन्हें अपने उन पूर्व पुरुषों का स्मरण हो आता है, जो स्त्रियों के आकर्षण का प्रतीकार न कर सके और उनके वशीभूत हो गये। इन पूर्वपुरुषों की तुलना में अपने आपको बुद्धि और शक्ति में हीन कहते हुये सुन्दरी के वियोग में अपनी विह्वलता को वह न्यायसङ्गत समझते हैं।[3] सुन्दरी के प्रति उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है कि वह अपने भिक्षु वेश का परित्याग कर अपने घर लौट जाने

१- यथावगच्छामि सुदुष्करं ते
चक्रुः करिष्यन्ति च कुर्वते च ।
त्यक्त्वा प्रियामश्रुमुखीं तपो ये ।
चेरुश्चरिष्यन्ति चरन्ति चैव ॥

वही, ७।१३

२- ज्ञानं न मे तच्च शमाय यत्स्या-
न्न चास्ति रौक्ष्यं करुणात्मकोऽस्मि ।
कामात्मकश्चास्मि गुरुश्च बुद्धः
स्थितोऽन्तरे चक्रगतेरिवास्मि ॥

वही, ७।१६

३- एवंविधा देवनृपर्षिसंघाः
स्त्रीणां वशं कामवशेन जग्मुः ।
धिया च सारेण च दुर्बलः सन्
प्रियामपश्यन् किमु विक्लवोऽहम् ॥

वही, ७।४६

का अनुकरण कर लेते हैं।[१]

यहाँ करुण रस के आश्रय हैं नन्द और आलम्बन है उनकी पत्नी। सुन्दरी की स्मृति तथा प्रकृति की रमणीयता उद्दीपक है। नन्द का विलाप करना, गृहत्याग कर तपस्या में लगे हुए पुरुषों की निन्दा करना, कामासक्त पूर्वपुरुषों का वर्णन आदि अनुभाव हैं। दैन्य, विषाद, मोह, वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं।

कुमारसम्भव

महाकवि कालिदास के जीवनकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतवैभिन्य है, किन्तु अधिकतर विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। कविकुलगुरु कालिदास ने दो महाकाव्यों की रचना की थी — कुमारसम्भव और रघुवंश। कुमारसम्भव सत्रह सर्गों में निबद्ध महाकाव्य है। विद्वानों का मत है कि कालिदास ने अष्ट सर्गात्मक महाकाव्य की रचना ही की थी शेष नव सर्ग प्रक्षिप्त हैं। इसमें कुमारकार्तिकेय के जन्म से लेकर उनके द्वारा तारकासुर के वध की कथा वर्णित है। महाकाव्य का अङ्गीरस शृङ्गार है, जिसका उदय पार्वती के मन में शिव के पूर्वानुराग से हुआ है।

कुमारसम्भव में मदन-दहन के अवसर पर महाकवि ने करुण रस का भी सम्यक् परिपोष किया है, यद्यपि ऐकान्तिक होने के कारण वह है बहुत

१- यास्यामि तस्मादगुरुजैव भूयः
कामं करिष्ये विधिवत्सकामं।
न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य
लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्च्युतस्य ।।

वही, ७।४७

रूप ही । चतुर्थ सर्ग में भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र की ज्वाला से मदन-दहन का वर्णन है । अपने भस्मावशिष्ट पति को देखकर रति मूर्च्छित हो जाती है । विधाता को उसकी मूर्च्छा सहन नहीं है, क्योंकि उससे वह अपने वैधव्य के दुःख से अपरिचित ही रह जाती है । दैवयोग से उसकी मूर्च्छा टूटती है । पहले से ही भस्म रूप में परिणत हो जाने के कारण रति को कामदेव का दर्शन नहीं होता है । वह यह कहती हुई उठती है कि "हा प्राणनाथ ! आप जीवित तो हैं" किन्तु जब वह देखती है कामदेव के स्थान पर पुरुषाकार भस्म का ढेर । अपने प्रियतम को इस अवस्था में देखकर रति अत्यन्त विह्वल हो उठती है । पृथ्वी पर तड़पने से उसके अङ्ग धूलिधूसरित हो जाते हैं, उसका केशपाश खुलकर छिटक जाता है और वह इतना विलाप करती है, जिससे सम्पूर्ण भूमण्डल ही दुःखाभिभूत हो उठता है । अपने प्रियतम की इस दुःखावस्था को देखकर उसका हृदय ग्लानि से भर जाता है और वह इस दारुण अवस्था में भी अपने हृदय के विदीर्ण न हो जाने के कारण नारी जाति की कठोरता को कोसने लगती है[1] । उसे अपना कोई ऐसा अपराध भी नहीं दिखलाई पड़ता है जिसके कारण वह रोती बिलखती उसे अपना दर्शन तक नहीं दे रहे हैं । रति को अपने प्रियतम की उन चाटूक्तियों का स्मरण हो रहा है जिनमें वह अपनी प्रियतमा से कहा करता था कि "तू तो मेरे हृदय में ही निवास करती है" । वह इन चाटूक्तियों को उपचार मात्र कहती है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो कामदेव के द्वारा भस्मशेष रह

१- उपमानमभूद्विलासिनां
करणं यत्तव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां
न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ।।

कुमार०, ४।५

जाने पर भी वह जीवित कैसे रहती ।[1] अपनी प्रियतमा को प्रसन्न करने के लिए कामदेव उसके चरणों में आलक्तक लगा रहा था । वह अभी उसके दाहिने चरण में ही महावर लगा सका था कि देवताओं ने उसे अपने कार्य की सिद्धि के लिए भगवान् शङ्कर को अभिमुख करने के लिए बुला लिया और भगवान् शङ्कर ने उसे जला डाला । अब रति आलक्तकविहीन अपने वाम चरण को देख-देख कर और भी दुख रही है और कामदेव को पुकार पुकार कर कहती है कि 'आकर मेरे इस चरण में भी महावर लगा दो'।[2] वह इस प्रकार विलख ही रही है कि इतने में कामसखा वसन्त वहाँ पर आ उपस्थित होता है । आया तो है वह रति को आश्वस्त करने के लिये, किन्तु अपने प्रियतम के सखा को देखकर रति का शोक और भी उद्दीप्त हो जाता है । वह बिलख बिलख कर रोने लगती है और अपने वक्षस्थल का ताड़न करने लगती है ।[3] अत्यन्त विषण्ण हो कर वह भस्मीभूत कामदेव को

१- हृदये वससीति मत्प्रियं
यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं
त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ वही, ४।९

२- विबुधैरसि यस्य दारुणै-
रसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं
चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥ वही, ४।१९

३- अथ तैः परिदेविताक्षरै-
र्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां
मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥
तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं
स्तनसम्बाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो
विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ वही, ४।२५,२६

सम्बोधित करके कहने लगती है कि "हे प्रियतम ! देखो तो, तुम्हारा यह सखा वसन्त तुम्हें देखने के लिये कितना उत्सुक हो रहा है । अब तो तुम इसे अपना दर्शन दे ही दो । मनुष्यों का प्रेम अपनी प्रियतमाओं के प्रति कितना ही अस्थिर क्यों न हो, वह अपने मित्रों के प्रति सदैव अटल रहता है ।[१] आत्मग्लानि से सन्तप्त रति अपने को धिक्कारती हुई कहती है कि "अचेतन पदार्थों की भी यह रीति है कि पुरुष के साथ स्त्री भी नष्ट हो जाती है, जैसे चन्द्रमा के साथ ही साथ चन्द्रिका विलीन हो जाती है और मेघों के साथ विद्युत तिरोहित हो जाती है, किन्तु[२] एक (चेतन होकर भी) मैं अपने मृत पति का अनुगमन नहीं कर पा रही हूँ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुमारसम्भव में रति-विलाप के प्रसङ्ग में महाकवि कालिदास ने करुण रस की उत्तम संयोजना की है । यहाँ रति आश्रय है और कामदेव आलम्बन है । अनुभावों के रूप में प्रलाप, क्रन्दन, संयोगावस्था का स्मरण, उपालम्भ इत्यादि हैं । व्यभिचारी भावों के रूप में चिन्ता, मोह, विषाद, जड़ता, वितर्क, ग्लानि आदि हैं ।

१- अयि सम्प्रति देहि दर्शनं
स्मर पर्युत्सुक एष माधवः ।
दयितास्वनवस्थितं नृणां
न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ।। — वही, ४।२८

२- शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति
प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ।। — वही, ४।३३

रति-विलाप के इस प्रसङ्ग में करुण रस आनन्दवर्द्धन और मम्मट को भी स्वीकार्य है, किन्तु दोनों ही आचार्यों ने कालिदास द्वारा वर्णित इस प्रसङ्ग में एक दोष की ओर सङ्केत किया है । आनन्दवर्द्धन ने अपनी स्वाभाविक शालीनतावश कालिदास का नाम लिये बिना ही केवल 'परिपुष्ट रस के पुनः पुनः उद्दीपन' को दोष कहा है,[1] जब कि मम्मट ने अपने मत की पुष्टि में कुमारसम्भव के इसी प्रसङ्ग का उदाहरण दिया है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने पहले से ही इस दोष की कल्पना कर ली थी और उसका निराकरण करने के लिये ही उन्होंने यह कहा था कि अपने सम्बन्धियों के वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख किसी प्रिय जन के देख लेने पर और भी दुस्सह हो जाता है ।[3]

रघुवंश

रघुवंश महाकवि कालिदास का दूसरा महाकाव्य है, जो कुमारसम्भव से अधिक उत्कृष्ट बन पड़ा है । एक रसप्रधान रचना होने के कारण रघुवंश में अन्य रसों के समान करुण रस की संयोजना भी हृदयावर्जक है, यद्यपि

१- परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।
ध्वन्या०, ३।१६

२- दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।
काव्यप्र०, ७/६२ वृत्ति

३- सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां
दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि
स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ।।

उत्तररामच०, ४।८

इसका प्रधान रस वीर है। रघुवंश के अठारह सर्गों में दिलीप से लेकर अग्नि-वर्ण तक २९ रघुवंशीय राजाओं का वर्णन किया गया है।

महाराज अज अपनी प्रियतमा इन्दुमती के साथ उपवन में विहार कर रहे हैं। आकाश मार्ग से जाते हुये नारद की वीणा में लटकी हुई पुष्पमाला टूटकर इन्दुमती के ऊपर गिर पड़ती है। माला के स्पर्श मात्र से इन्दुमती की मृत्यु हो जाती है। इस सम्पूर्ण दृश्य को असहाय होकर देखते हुये महाराज अज शोकविह्वल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं।[1] कुछ क्षणों में ही अज की मूर्च्छा नष्ट होती है। वह अपनी प्रियतमा के निष्प्राण शरीर को अपनी गोद में रख लेते हैं। वह इन्दुमती के चन्द्रकान्त शरीर को निहारते-निहारते अधीर हो उठते हैं।[2] उनका कण्ठ बाष्पगद्गद् हो जाता है और वह साधारण मनुष्यों के समान विलाप करते हुए कहते हैं कि 'हा, प्रिये! यदि यह माला तुम्हारे प्राणों का अपहरण कर सकती है तो मेरे द्वारा अपने वक्षस्थल पर रख लेने पर यह मेरे प्राणों का शोषण क्यों नहीं कर रही है।[3]' अपनी प्रियतमा के वियोग से अज उन्मत्त के समान प्रलाप

१- वपुषा करणोज्झितेन सा
निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना
सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥
रघु० ८।३८

२- पतिरङ्कनिषण्णया तया
करणापायविभिन्नवर्णया।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां
मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः॥ वही, ८।४२

३- स्रगियं यदि जीवितापहा
हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवे-
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ वही, ८।४६

करते हुए कहते हैं कि 'अयि इन्दुमति ! इसके पूर्व भी तो मेरे द्वारा अनेक अपराध हुये थे, किन्तु तुम इतना तो कभी नहीं रूठी थीं कि मुझसे बोलना ही छोड़ देतीं । आज ही मुझसे ऐसा कौन सा अपराध हो गया है कि तुमने मेरे साथ बातचीत करना ही बन्द कर दिया है ।[1] मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि तुम मेरे प्रणय की सत्यता को नहीं समझ सकीं और मुझ से पूछे बिना ही स्वर्ग सिधार गयीं । मैं तुम से सत्य कह रहा हूं कि मैंने कभी अपने मन से भी तुम्हारे प्रति अपराध की कल्पना नहीं की थी । (यदि तुम मुझसे इसलिए विरक्त हो गयीं कि मैं पृथ्वीपति कहलाता था, तो यह तुम्हारा भ्रम ही था, क्योंकि) मेरा सच्चा अनुराग तो केवल तुम्हारे प्रति ही रहा है, पृथ्वीपति तो मैं नाम मात्र का ही हूं ।[2] महाराज अज का दुःख अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है । इससे वह विक्षिप्तों के समान चेष्टायें करने लगते हैं । वायु के झोंकों से उनकी मृत प्रियतमा की अलकें जब लहराने

१- कृतवत्यसि नावधीरणा-
मपराधेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं
जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ वही, ८।४८

२- ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते
विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसन्निवृत्तये
यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥
मनसापि न विप्रियं मया
कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं
त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ वही, ८।४९, ५२

लगती है, तब अज को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह जीवित है और उसके मृदुल-सञ्चालन से उसके केशपाश लहराने लगे हैं, किन्तु जब वह इन्दुमती के मुख की ओर देखते हैं, तो उनका हृदय दुःख से विदीर्ण होने लगता है, क्योंकि उसके मुख पर जीवन का कोई भी चिह्न नहीं है। वह अज, बिलख-बिलख कर अपनी प्रियतमा से आकर अपने दुःख को दूर करने का आग्रह करने लगते हैं।[1] अज का उन्माद अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गया है। वह प्रकृति के विभिन्न उपादानों को देखता है। उसे सम्पूर्ण प्रकृति ही अपने दुःख की भागिनी प्रतीत होने लगती है। अज को अपने अश्रुओं का प्रतिबिम्ब अशोक वृक्ष से झड़ने वाले पुष्पों में दिखाई पड़ता है। वह कल्पना करने लगता है कि हो न हो यह अशोक वृक्ष मेरी प्रियतमा के पूर्वकालीन पादप्रहार का स्मरण करके पुष्पों के व्याज से अश्रुओं की वर्षा कर रहा है।[2] वह

१- कुसुमोत्कचितान्वलीभृत-
स्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुत-
स्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥
तदपोहितुमर्हसि प्रिये
प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तम-
स्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥

वही, ८।५३, ५४

२- स्मरतेव सशब्दनूपुरं
चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा
त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥

वही, ८।६३

सोचते हैं कि यह इन्दुमती भी कितनी कठोरहृदया है। इस समय जब कि उसकी सखियाँ उसे घेर कर खड़ी हुई हैं, उसका प्रिय पुत्र भी उसके सामने है और उसका प्रियतम अज भी उसके सम्मुख है तब वह इन सबसे विमुख होकर क्यों चली गयी है।[1] इन्दुमती की मृत्यु पर अज को दुःख हो भी क्यों न? इन्दुमती तो उसका सर्वस्व थी। वह उसकी गृहिणी, सचिव, मित्र और प्रिय शिष्या सब कुछ थी। अतः उसके प्राणों का अपहरण करके विधाता ने उससे क्या नहीं छीन लिया है, सभी कुछ तो छीन लिया है।[2] इन्दुमती के वियोग में अज के लिए अब इस संसार में कुछ भी आकर्षण नहीं रह गया है। सांसारिक पदार्थों से ही नहीं, अपितु अपने जीवन के प्रति भी अज के हृदय में वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है।[3] इन्दुमती के वियोग में रोते-तड़पते अज का दुःख इतना संक्रामक है कि उससे समस्त उपवन ही दुःखी हो उठा है। उसकी विरहाकुलता का अवलोकन करके वृक्षों की शाखाओं से रस

१- समदुःखसुखः सखीजनः
प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः।
अहमेकरसस्तथापि ते
व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः।
वही, ८।६५

२- गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥
वही, ८।६७

३- प्रमदामनु संस्थितः शुचा
नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात्।
न चकार शरीरमग्निसा-
त्सह देव्या न तु जीविताशया॥
वही, ८।७२

के अभाव से वह अश्रु प्रवाहित करने लगते हैं।[1]

रघुवंश ही नहीं, अपितु समस्त संस्कृत साहित्य में करुण रस का ऐसा चित्रण शायद ही कहीं अन्यत्र हुआ है। यहाँ इन्दुमती की मृत्यु से विलाप करते हुये अज आश्रय हैं। इन्दुमती आलम्बन है। इन्दुमती की कञ्चन सी काया, प्रकृति का संवेदनात्मक रूप आदि उद्दीपन विभाव हैं। अज की मूर्च्छा, उसका विलाप, प्रियतमा के गुणों का चिन्तन, अपने को कोसना आदि अनुभाव हैं। स्मृति, चिन्ता, दैन्य, वितर्क, मोह, ग्लानि, जड़ता, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

रघुवंश में श्रवण-वध का प्रसङ्ग उसके उपजीव्य रामायण में वर्णित श्रवण-वध के समान ही कारुणिक है। आखेट करते हुए महाराज दशरथ के बाण से जलपान में ही विद्ध होकर तापस कुमार श्रवण आहत हो जाते हैं। दशरथ को जब वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है तब वह श्रवण के वृद्ध माता-पिता के सम्मुख प्रस्तुत होकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेते हैं। पुत्र की इस दशा का समाचार सुनकर श्रवण के माता-पिता शोकातुर हो उठते हैं। इसी आतुरता में उनके मुख से अनायास ही दशरथ के लिये शाप निकल पड़ता है।[2] इसके बाद ही श्रवण के वृद्ध माता-पिता अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं।

१- अकरोत्पृथिवीरुहानपि
स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ।। वही, ८।७०

२- दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ।। वही, ९।७९

यहाँ श्रवण के माता-पिता आश्रय तथा श्रवण आलम्बन है। श्रवण का पूर्ववृत्तान्त उद्दीपन है। उसके माता-पिता का करुण क्रन्दन, शाप देना इत्यादि अनुभाव है और दैन्य, चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भाव है।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रामायण को करुणरसप्रधान इसीलिये माना है, क्योंकि उसका पर्यवसान सीता के आत्यन्तिक वियोग से होता है। रघुवंश में भी महाकवि कालिदास ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में करुण रस की सहृदय-हृदयावर्जक अभिव्यक्ति की है। राम की आज्ञा का पालन करते हुए लक्ष्मण सीता को गङ्गा के पार ले जाकर उन्हें किसी प्रकार राम का आदेश देते हैं। इस आदेश को सुनकर सती-साध्वी सीता का हृदय अपमान से तड़प उठता है और वह उष्ण वायु के थपेड़ों से मुरझाई हुई लता के समान पृथ्वी पर गिर जाती है।[1] कुछ क्षणों पश्चात् उनकी मूर्च्छा टूटती है। अब वह अपने ऊपर आयी हुई इस विपत्ति के लिये अपने आपको ही कोसने लगती है।[2] इस दारुण विपत्ति में भी वह अपने धैर्य को बनाये रखती है और लक्ष्मण के प्रति अपना सन्तोष व्यक्त करते हुए उन्हें अग्रज राम के आज्ञा पालन में

१- ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा
प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं
लतेव सीता सहसा जगाम ।।
वही, १४।५४

२- न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या
निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं
पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ।।
वही, १४।५७

जीवे रहने की प्रेरणा देता है।[1] दूसरी ओर वह राम के प्रति अपना आक्रोश भी व्यक्त करती है और कहती है कि "मिथ्यापवाद के भय से मुझ जैसी सती का परित्याग कर देना कहाँ तक आपके वंश के अनुकूल है"।[2] तुरन्त ही वह अपने संयम को बटोर कर पुनः अपनी इस अवस्था के लिये अपने भाग्य को ही दोषी ठहराती है।[3] राम के बिना उनमें अपने जीवन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है, किन्तु उनकी कर्तव्य भावना उन्हें जीवित रहने के लिये विवश कर देती है। अब सीता के लिये जीवित रहने का एक मात्र उद्देश्य है— गर्भस्थित राम के वंशधारक शिशु का भरण-पोषण।[4] इस

१- सीता समुत्थाप्य जगाद वाक्यं
प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन
भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ।।
वही, १४।५६

२- वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ।।
वही, १४।६१

३- कल्याणबुद्धेरथवा तवायं
न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां
विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ।।
वही, १४।६२

४- किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे
कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेज-
स्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ।।
वही, १४।६५

व्याकुलता की अवस्था में भी राम के प्रति उनका अनुराग कम नहीं हुआ है और वह अपने पुनर्जन्म में घोर तपस्या करके राम को ही पति रूप में पुनः प्राप्त करने का संकल्प कर लेती है।[1] पति के द्वारा परित्यक्ता सीता राम से अपना पत्नी का अधिकार नहीं मांगती है। वह तो उनसे इतनी ही याचना करती है कि वह सीता को अपनी प्रजा समझ कर ही उनकी देखभाल करते रहें।[2]

सीता परित्याग के इस प्रसंग से समस्त जड़-चेतन प्रकृति दुःखाभिभूत हो उठती है, चाहे सहृदय मनुष्य हो अथवा पशु-पक्षी अथवा वहीभूत वन के वृक्ष, लता इत्यादि— सीता के विलाप से सभी दुःखी हो रहे हैं। इसलिये यहाँ पर वे ही आश्रय हैं। आलम्बन है पतिवियुक्ता सीता।उनका विलाप-प्रलाप, उनकी करुणावस्था इत्यादि उद्दीपन विभाव है। मयूरों का नृत्य से विरत हो जाना, हरिणियों के द्वारा मुख से हरी घास के कवलों को गिरा देना, रस-स्फुरण के अभाव से वृक्षों का अश्रु बहाना, प्रकृति का स्तब्ध हो जाना इत्यादि अनुभाव हैं। चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, विषाद, वितर्क इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

१- साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टि-
   रूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
   भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
   त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।। वही, १४।६६

२- नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
   स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
   निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं
   तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ।। वही, १४।६७

राम के बिना अयोध्या नगरी की दुर्दशा का वर्णन कवि ने अत्यन्त मार्मिक रूप से किया है । यह वर्णन महाकवि ने स्वयं अपने मुख से नहीं किया है । इसके लिये उसने अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी की मौलिक कल्पना की है । अयोध्या की यह अधिष्ठात्री देवता कुश के शयनागार में आकर उससे अपना परिचय देती है । उसे राम का वियोग सता रहा है । वह अपनी दीन अवस्था का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन करती हुई कहती है कि 'यह वही अयोध्या नगरी है जहाँ राम के राज्यकाल में राजमार्गों पर नूपुरों की रुनझुन करती हुई अभिसारिकाएँ इधर उधर घूमा करती थीं, उन्हीं राजमार्गों पर आज शृगालियाँ चिल्लाती हुईं विचरण कर रही हैं ।[1] जहाँ पहले क्रीडारत सुन्दरियों के हाथों के ताड़न से मृदङ्गों की गम्भीर ध्वनि हुआ करती थी वहाँ अब वन्य महिषों के शृङ्गों की टक्कर से कर्णकुहर विदीर्ण हो रहे हैं ।[2] पहले यहाँ के सोपान मार्गों पर रमणियाँ अपने चरणों में लगे हुए महावर की छाप छोड़ा करती थीं, वहीं अब हिंसक पशुओं के रक्तरञ्जित चरणों के चिह्न दिखाई पड़ते हैं ।[3] अब सरयू के तट पर

१- निशासु भास्वत्कलनूपुराणां
यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ।। वही, १६।१२

२- आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रै-
र्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः
शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ।। वही, १६।१३

३- सोपानमार्गेषु च येषु रामा
निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं
व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयतेऽद्य ।। वही, १६।१५

न तो देवताओं के लिए बलि दी जाती है और न उसके पवित्र जल में स्नान करने वाली सुन्दरियों के अङ्गराग की मधुर सुगन्ध ही फैल रही है। अब तो सरयू तट पर बनी हुई बानीर की झोपड़ियाँ भी सूनी-सूनी सी दिखलाई पड़ रही हैं।[१] इस प्रकार कुश के सम्मुख राम-विहीन उजाड़ अयोध्या की दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत करके अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी अन्तर्धान हो जाती है।

अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी के द्वारा अयोध्या के वर्णन में करुण रस का परिपोषण हुआ है। इस करुण रस का आश्रय है नगरदेवता, आलम्बन है वीरान अयोध्या और उद्दीपन विभाव है अयोध्या की दुर्दशा। नगरदेवता का विलाप, उसके द्वारा मलिन वस्त्रों को धारण करना, उसके बिखराये हुए केश आदि अनुभाव हैं और व्यभिचारी भाव हैं चिन्ता, दैन्य, ग्लानि आदि।

इस प्रकार रघुवंश में उसके उपजीव्य काव्य रामायण के समान ही करुण रस का चमत्कारकारी परिपोषण हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि रामायण में प्रधानता करुण रस की ही है और अन्य रस गौण रूप में परिपुष्ट हुए हैं, जबकि रघुवंश में करुण की स्थिति अङ्गभूत रसों में ही है।

१- बलिक्रियावर्जितसैकतानि
स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा
शून्यानि दूये सरयूजलानि ।।

वही, १६।२१

भट्टिकाव्य

रामकथा को ही लेकर भट्टिकाव्य की रचना हुई है । इसके रचयिता भट्टि है । भट्टिकाव्य का दूसरा नाम रावणवध भी है । इसका रचनाकाल ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी है । [1] भट्टिकाव्य में महाकवि का मुख्य उद्देश्य पाणिनीय व्याकरण के नियमों का प्रतिपादन करना था । पाणिनीय व्याकरण के नियमों के उदाहरण रूप में ही भट्टिकाव्य की रचना हुई है । इसलिए उसे लक्षणबद्ध तथा शास्त्रीय पद्धति के महाकाव्यों की प्रतिनिधि रचना माना जा सकता है । लक्षणबद्धता के कारण ही भट्टिकाव्य को रसप्रधान महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है । यत्किञ्चित परिपुष्ट रसों में प्रधानता वीर रस की है, अन्य रसों का सन्निवेश गौण रूप में ही हुआ है ।

करुण रस का अंगभूत प्रसङ्ग वहाँ प्राप्त होता है जहाँ कैकेयी के द्वारा राम के वनवास की याचना की जाती है और कैकेयी से वचनबद्ध होने के कारण दशरथ को कैकेयी की याचना स्वीकार करके राम को वन भेजना पड़ता है । वनगमन के लिये राम को दी गई दशरथ की आज्ञा को सुनकर सभी अयोध्यावासी शोकमग्न हो उठते हैं । वे `राम-राम' चिल्लाते हुए भरत को बुरा भला कहने लगते हैं और कुछ कैकेयी को धिक्कारने लगते हैं । [2]

१- H.C.S.L.,p.142

२- केचिन्निनिन्दुर्नृपमप्रशान्तं
   विचुक्रुशुः केचन सास्रमुच्चैः ।
   अचुक्रुशुस्तथाऽन्ये भरतस्य मातां
   धिक्कैकेयीमित्यपरो जगाद ।।

भ०का०, ३।१०

शोकसन्तप्त प्रजा को राम जितनी ही सान्त्वना देते हैं, उनका दुःख उतना ही बढ़ता जाता है । राम शोक सन्तप्त पुरवासियों को छोड़कर वनवास के लिये प्रस्थान कर देते हैं । पुत्र-वियोग से दशरथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठते हैं । उनमें अपने साम्राज्य और अपने जीवन तक से भी विरति उत्पन्न हो जाती है । इसकी परिणति दशरथ के द्वारा प्राणत्याग में होती है ।

यहाँ पर दशरथ तथा अयोध्यावासी आश्रय हैं । राम आलम्बन हैं । राम का पुरवासियों को सान्त्वना देना उद्दीपन विभाव है । दशरथ की उद्विग्नता पुरवासियों का विलाप, उनके द्वारा भरत और कैकेयी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना और दशरथ का प्राण-त्याग अनुभाव हैं । चिन्ता, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं ।

दशरथ की मृत्यु से उनकी स्त्रियाँ वैधव्य दुःख से सन्तप्त हो उठती हैं । वे विलाप करने लगती हैं, अपने केशों को छिन्न-भिन्न कर डालती हैं, वक्षःस्थल को पीटने लगती हैं, भूमि पर गिर गिर पड़ती हैं और अपने वलय इत्यादि सौभाग्य सूचक चिह्नों को उतार फेंकती हैं ।[१] इधर मातुकुल से लौटने पर भरत को दशरथ की मृत्यु का समाचार प्राप्त होता है । भरत शोकातुर हो उठते हैं । वह इस सबके लिए अपनी माता कैकेयी को दोषी

१- विचुक्रुशुर्भिन्नतरैर्विरावैः
केशांल्लुलुञ्चुः स्तनभूमि जघ्नुः ।
विभूषणान्युन्मुमुचुः शरीरा-
त्पेतुर्भुवं कुंकुमानि केव ।।

वही, ३।२२

मानकर उन्हें बुरा-भला कहने लगते हैं।[१] वह विह्वल होकर विक्षिप्त हो उठते हैं और कभी राम को पुकारने लगते हैं, तो कभी दशरथ को। इस प्रकार कातर स्वर में चिल्लाते-चिल्लाते वह भूमि पर गिर जाते हैं।[२]

यहाँ पर दशरथ की रानियाँ तथा भरत आश्रय हैं। दशरथ आलम्बन हैं। कैकेयी के द्वारा किया गया हृदयहीन कर्म उद्दीपन विभाव है। स्त्रियों का विलाप, अपने केश-पाश को बिखरा देना, अपने आभूषणों को उतार फेंकना तथा भरत का क्रन्दन, उनका अपनी माता को बुरा भला कहना, उनका भूपात आदि अनुभाव हैं। चिन्ता दैन्य, ग्लानि, निर्वेद इत्यादि सञ्चारिभाव हैं। इन सब उपादानों से परिपुष्ट होकर शोक स्थायी भाव करुण रस के रूप में परिणत हो रहा है।

१- कृतात्मजौ विचिक्लिशतुः प्रतीतौ
ममार राजा विधवा भवत्य: ।
शोच्या वयं भूरनृपा समुत्थं
कैकय्युपज्ञं बत ! बह्वनर्थम् ॥

वही, ३।३१

२- नैतन्मतं मत्कमिति ब्रुवाण:
सह्रोऽर्वी अयानमध्यत् ।
उदाश्यमान: पितरं सरामं
लुठन् सशोको भुवि रोरुदावान् ॥

वही, ३।३२

राम-रावण युद्ध में कुम्भकर्ण, अतिकाय, नरान्तक, त्रिशिरा, निकुम्भ आदि पुत्रों के वध से रावण अत्यन्त उद्विग्न हो उठता है । वह एक-एक के गुणों का स्मरण करता हुआ विलाप करता है । अब उसे न अपने साम्राज्य के प्रति आकर्षण रह गया है और न सीता के प्रति । अब उसे ये सभी पदार्थ निस्सार जान पड़ने लगे हैं ।[1] कभी वह अतिकाय के गुणों का स्मरण करता हुआ शोकाकुल हो उठता है[2] और कभी नरान्तक का वध उसके हृदय को विद्ध करने लगता है और वह नरान्तक को न देख पाने के कारण अपने नेत्र को निरर्थक समझने लगता है[3] । वह त्रिशिरा के वध से भी अत्यन्त शोक-विह्वल हो रहा है । उसे इस बात की चिन्ता है कि त्रिशिरा के बिना अब उसके शत्रुओं का संहार कौन करेगा[4] । रावण इसलिए चिन्तित हो रहा है कि निकुम्भ के वध से निर्भय होकर इन्द्र अब उसे ललकारा करेगा[5] । अपने

१- किं करिष्यामि राज्येन सीतया किं करिष्यते ।।

वही, १९।१

२- अतिकायाद्विना पार्श्वे को वा हेत्स्यति वारुणाम् ।
रावणं मंस्यते को वा स्वयम्भू कस्य तोक्ष्यति ।।

वही, १९।३

३- उन्मीलिष्यति चक्षुर्मे वृथा यक्षिनवागतम् ।
आकाशाभोग्मुखं मञ्ज न द्रक्ष्यति नरान्तकम् ।।

वही, १९।८

४- विहृता त्रिशिरसा नाऽहं सन्दर्शितोऽप वहु पुनः ।
आनेष्यन्ते द्विषः केन तस्मिन् पञ्चत्वमागते ।।

वही, १९।६

५- आह्वास्यते विशङ्को मां योत्स्यमानः शतक्रतुः ।
प्रकल्प्स्यति च तस्याऽर्थी निकुम्भे दुर्हृणे हते ।।

वही, १९।११

प्रिय पुत्रों के निधन से रावण को अपने जीवन में निराशा ही निराशा दिखाई पड़ने लगती है। उन वीरों के निधन से उसका आत्मबल क्षीण हो जाता है और वह अपने को पराजित समझने लगता है[1]। राक्षस कुल के नाश से रावण अपने को कलङ्कित समझने लगता है और आत्मनिन्दा करने लगता है[2]। अब उसे विभीषण के नीतियुक्त वचनों का भी स्मरण हो रहा है[3]।

यहाँ पर रावण के पुत्रों के वध के वर्णन में करुण रस का अच्छा

१- वत्स्यन्ति बालवृद्धाश्च वत्स्यन्ति च युवा युवाः ।
केन राक्षसमुख्येन विना तान् को निरोत्स्यति ।।
नाद्युरोत्स्ये जगल्लक्ष्मीं घटिष्ये जीवितुं न वा ।
न रंस्ये विषयैः शून्ये भवने शाम्भवैरहम् ।।
मोदिष्ये कस्य हर्षेऽहं को मे मोदिष्यते सुखे ।
आदेयाः किंकृते भोगाः कुम्भकर्ण त्वया विना ।।
याः सुहृत्सु विपन्नेषु भामुष्यन्ति सम्पदः ।
ताः किं मन्युदाता भोगा न विपत्सु विपश्चः ।।

वही, १६।२०,२३-२५

२- स्मेष्यन्ते मुनयो देवाः नर्दिष्यन्ति चाऽनिशम् ।
दशग्रीवस्य दुर्नीतिर्विनष्टं रक्षसां कुलम् ।।

वही, १६।१४

३- विनङ्क्ष्यति पुरी क्षिप्रं तूर्णं भेष्यन्ति वानराः ।
मयाभ्यस्तोस्त्वित्येतद् विभीषणाभाषितम् ।।

वही, १६।२६

परिपाक हुआ है । इसका आश्रय रावण है, कुम्भकर्ण, अतिकाय, नरान्तक आदि मृत पुत्र आलम्बन हैं । इन मृत वीरों का शौर्य उद्दीपन विभाव है । रावण का विलाप, उसके द्वारा आत्मनिन्दा करना, अपने भय को अभिव्यक्त करना इत्यादि अनुभाव है । चिन्ता, विषाद, दैन्य, जड़ता, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

रावण के वध से विभीषण अत्यन्त शोकाकुल हो उठते हैं । वह विलाप करते हुए कहते हैं कि निरन्तर बहुमूल्य शय्याओं पर शयन करने वाले मेरे प्रिय भाई पृथ्वी पर पड़े हुए हैं । इस समय वह मुझे न देख ही रहे हैं और न मेरे साथ सम्भाषण ही कर रहे हैं ।[1] रावण के प्रताप का स्मरण करके विभीषण और भी उद्विग्न होते जा रहे हैं और अपने भाग्य को कोसने लगते हैं । अपने अग्रज के मृत शरीर को देखकर विभीषण रो रो कर कहते हैं कि "हे महाराज ! इसे कौन नहीं जानता है कि आप से बढ़ कर और कोई बन्धु है ही नहीं ।"[2] वह अपने प्रति रावण के स्नेह का स्मरण करता हुआ और भी विलाप करने लगता है और कहता है कि "अब हंस हंस कर अपनी माला उतार उतार कर कौन मुझे पहनाता रहेगा । मेरे आसन को अपने आसन के समीप कौन रखेगा और कौन मुझसे प्रिय वचनों में सम्भाषण करेगा"।[3] रावण के वध का समाचार सुनकर अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी

१- सुप्तो ऽसौ दशग्रीवो महार्हशयनोचितः ।
नेक्षते विप्लुतं मां च न मे वाचं प्रयच्छति ।।
वही, १८।२

२- के न वेत्ति नृपते नाऽन्यस्त्वत्तो बान्धववत्सलः ।
शिरोभि कुर्वे प्रोणाँभि कथं मन्युसमुद्भवम् ।।
वही, १८।२६

३- उन्मुच्य स्रजमात्मीयां मां प्रणयति को हसन् ।
मेलयत्यासनं को मे, को हि मे वदति प्रियम् ।।
वही, १८।३४

बिलख-बिलख कर रोने लगती हैं । अपनी अलकों को नोच नोच कर वे अपने प्रियतम के उपकारों का स्मरण करके और भी व्याकुल हो उठती हैं । रावण की मृत्यु का समाचार ज्ञात होते ही पुरवासी भी शोकमग्न हो उठते हैं । उनके नेत्रों में अश्रु छलक आते हैं और वे दशानन को नमस्कार करने लगते हैं ।[१]

यहाँ पर विभीषण, रावण के अन्तःपुर की स्त्रियाँ तथा लङ्का के निवासीजन आश्रय हैं । रावण आलम्बन है । उद्दीपन विभाव है रावण का प्राण विहीन शरीर । विभीषण, स्त्रियों तथा नगरनिवासियों का प्रलाप, विलाप, उनके द्वारा भाग्य-निन्दा, प्राणों के परित्याग की इच्छा व्यक्त करना तथा स्त्रियों के द्वारा अपने केशों को नोचना इत्यादि अनुभाव हैं । चिन्ता, दैन्य, निर्वेद , विषाद, ग्लानि, वितर्क इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं ।

जानकीहरण

जानकीहरण के रचयिता कुमारदास का समय ईसा की सप्तम शताब्दी माना जाता है । जानकीहरण बीस सर्गों का महाकाव्य है । संस्कृत साहित्य में जानकीहरण की महत्ता का अनुमान राजशेखर की उस उक्ति से लगाया जा सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि 'रघुवंश' के रहते हुए 'जानकीहरण'

१- लुलंठुः स्म विलुण्ठन्ति क्रोशन्ति स्माऽतिविह्वलम् ।
अशोचन्नुपकाराणां सस्मरुः प्रमन्यु च ॥
रावणस्य नमन्ति स्म पौराः साश्रा रुदन्ति च ।
भाषते स्म ततो रामो वचः पौलस्त्यमाकुलम् ॥

वही, १८।३८,३९

की रचना कुमारदास के अतिरिक्त अन्य कोई कवि उसी प्रकार नहीं कर सकता है, जिस प्रकार रघु-वंश के वर्तमान रहते हुये रावण के अतिरिक्त अन्य कोई जानकी का अपहरण नहीं कर सकता था ।[1] कुमारदास के समय तक संस्कृत साहित्य में पाण्डित्य प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति प्रधान हो गयी थी, उसी की स्पष्ट छाप जानकीहरण में परिलक्षित होती है । रामायण के आधार पर रचित इस महाकाव्य में करुण रस का जैसा परिपाक अपेक्षित था, वैसा इसमें प्राप्त नहीं होता है ।

आखेट करते समय दशरथ के द्वारा अज्ञानवश तापस कुमार श्रवण का वध हो जाता है । यद्यपि वह दशरथ के बाण से विद्ध होने के कारण मर्मान्तक पीड़ा से छटपटा रहा है, तथापि उसे अपने कष्ट की अपेक्षा अपने वृद्ध और अन्धे माता-पिता का स्मरण अधिक शोकाकुल कर रहा है । वह विलाप करता हुआ दशरथ से कहता है कि 'अपने अन्धे, वृद्ध तथा निस्सहाय माता-पिता का एकमात्र अवलम्ब मैं ही था । मुझे मार कर आपने उन्हें निरवलम्ब क्यों कर दिया है । इस प्रकार मेरा वध करके आप तीन पुरुषों की हत्या के भागी बन गये हैं, क्योंकि मेरे न रह जाने से मेरे ही नेत्रों से सब कुछ देखने वाले मेरे माता-पिता मर जायेंगे ।'[2] मरणासन्न

१- जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ।। सू० मु०, पृ० ४५

२- त्वया त्वनाथस्य विपत्तुणः किं
भग्नोऽयमालम्बनदण्ड एकः
वने चरावेशवशीकृतस्य
गुरुद्वयस्य प्रवयोऽन्धवृत्तेः ।।

एवं त्वया साधयताऽपि तत्त्वं
नीतं विनाशं त्रितयं निरागः ।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ
वृद्धौ वने मे पितरावहं च ।।
जा०ह०, १।७६-७७

श्रवण कुमार दशरथ को उपालम्भ देते हुये अपने वध का कारण जानना चाहते हैं । वह कहते हैं कि 'मेरे किस दोष को देखकर आपने मुझे अपने बाण का लक्ष्य बना दिया है । मैं तो केवल वनों में मृगों के बीच रहा करता था, अपने वृद्ध और अन्धे माता-पिता का भरण-पोषण किया करता था और वन के फल-फूल खाकर अपनी जीविका का निर्वाह किया करता था'[1] । श्रवण कुमार की इस उक्ति में कितनी करुणा है कि 'हे राजन् ! मैं तो आपकी कृपा का पात्र था, किन्तु आपने मुझे अपने वध का पात्र क्यों बना दिया है'[2] । श्रवण कुमार के इस कथन में महाराज दशरथ के क प्रति कितना आक्षेप निहित है । वह कहता है कि '(यदि आपने मेरा वध मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने के लिये किया है तो आपका प्रयास व्यर्थ ही गया है) मेरे पास सम्पत्ति के नाम पर केवल एक जीर्ण घट, वृक्षों की छाल से बना हुआ वस्त्र तथा एक मौञ्जी-मेखला मात्र है । आप इन्हीं को लेकर अपने कार्य की सिद्धि कर लें'[2] । वह दशरथ को धिक्कारते हुए कह रहे हैं कि 'मुझ निरीह को मार कर आपने अपने उच्च कुल को कलङ्कित

१- वनेषु वासो मृगयूथमध्ये
क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः ।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः
सम्भावितः को मयि घातहेतुः ॥

वही, १।७८

२- जीर्णोऽयं कुम्भाजिनरुद्धकण्ठः
कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलश्च ।
एतेषु यन्मां विनिहत्य मध्ये
तद्गृह्यतामस्तु भवान्कृतार्थः ॥ वही, १।८१

कर दिया है।[1]

श्रवणवध के प्रस्तुत प्रसङ्ग में करुण रस का हृदयग्राही परिपाक हुआ है। यहाँ पर आश्रय है मरणासन्न श्रवण, आलम्बन हैं उनके माता-पिता। माता-पिता की वृद्धावस्था, उनकी अन्धता तथा निस्सहायता उद्दीपन विभाव हैं। श्रवण कुमार का विलाप, दशरथ के प्रति उनकी कटूक्तियाँ आदि अनुभाव है। चिन्ता, विषाद, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं।

जानकीहरण में करुण रस का एक अन्य प्रसङ्ग रावणवध से विह्वल मन्दोदरी के विलाप में उपलब्ध होता है। राम-रावण युद्ध में रावण का वध हो जाता है। रावण-वध के समाचार को सुनकर मन्दोदरी अत्यन्त अधीर हो उठती है। वह विलाप करती हुई अपने वक्षःस्थल का ताड़न करने लगती है। रावण के क्षत-विक्षत शरीर को देखकर वह करुणार्द्र हो उठती है। यद्यपि रावण का शरीर निष्प्राण हो चुका है तथापि मन्दोदरी उसके घावों की मिट्टी को धीरे धीरे ही अपने काँपते हुए हाथों से हटा रही है, जिससे रावण को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न होने पाये।[2] मन्दोदरी के इस कर्म से उसकी उन्मत्तता अभिव्यक्त हो रही है। मन्दोदरी

१- स्वं हेतवे हेतिबलोपनीत-
स्नेय: किमुच्छुकमुदि कस्मै ।
जीवस्य निष्ठामधिकं गच्छन्
दुःखं कलङ्कः कलुषीकरोषि ॥ वही, १।८३

२- प्रियस्य बाणव्रणरन्ध्ररोधिनं
महीरजस्क-व्यवगुण्ठिणी ।
प्रिया परासोरपि सेवकल्पा
कम्पमहस्ता शनकैरपाहरत् ॥ वही, १९।३६

की उद्विग्नता का एक और रूप वहाँ दिखाई पड़ता है, जहाँ वह यह देखती है कि उसके मृत पति के शव को हिंसक पशु घसीट रहे हैं। इससे रावण के शव में स्पन्दन होने लगता है। अपने पति के जीवित होने की दुराशा के कारण मन्दोदरी को इस स्पन्दन में उसके जीवित होने का आभास होने लगता है, किन्तु तुरन्त ही जब उसे वस्तुस्थिति का स्मरण हो जाता है तब वह और भी उद्विग्न हो उठती है।[1] मन्दोदरी की व्यथा अपनी पराकाष्ठा पर वहाँ पहुँच जाती है जहाँ वह रावण के शरीर को देख-देख कर विलाप करती हुई कहती है कि 'क्या रावण की पत्नियों में एक भी ऐसी नहीं थी, जिसके सौभाग्य को बनाये रखने के लिए ही वह जीवित रहते और अनुषङ्गतः मुझ अभागिनी को भी सौभाग्यवती बने रहने का अवसर प्राप्त हो जाता'।[2] अपनी इस असहाय अवस्था में वह ईश्वर का स्मरण करती हुई उससे अपने प्रियतम के जीवन-रक्षा की याचना करती है।[3]

१- प्रियस्य सोऽयं पिशिताशिकाहृताभि-
मुखैर्विकृष्यावयवोऽपि कम्पितः ।
प्रहर्षमाशाविषयं विधाय मे
पुनर्व्यथायाँ विगमे निरस्यते ।।
वही, १६। ४१

२- त्रिलोकभर्तुर्वनितासु तादृशी
न काचिदासीदनवद्यलक्षणा ।
सलक्षणायामपि यत्कृतावल-
स्थिरं ध्रियेताविधवा यतो मयि ।।
वही, १६।४२

३- वरौ विभिन्ने वपुषे च कर्मणी
कृपानुबन्धाकरदाक्षभाले ।
अभिन्नवृत्त्योरिह मुक्तभावयो-
र्मुदे भवेते इति याच्यमानके ।।
वही, १६।५१

यहाँ पर रावण की मृत्यु से मन्दोदरी शोकाकुल हो रही है। अत: वही करुण रस का आश्रय है। आलम्बन है रावण। रावण का धूलिधूसरित तथा हिंसक पशुओं के द्वारा घसीटा जाता हुआ शरीर उद्दीपन विभाव है। मन्दोदरी का विलाप, वक्षस्थल-ताडन, अपने भाग्य को कोसना, पति के प्राणों की रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना इत्यादि अनुभाव है। व्यभिचारी भाव हैं जड़ता, वितर्क, दीनता, विषाद, ग्लानि, चिन्ता, उन्माद इत्यादि।

रावणार्जुनीयम्

रावणार्जुनीयम् अथवा अर्जुनरावणीयम् नामक महाकाव्य के रचयिता भट्टभीम हैं। इन्हें भट्टभौम, भूम और भौमक भी कहा जाता है। क्षेमेन्द्र ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में काव्य-भेदों का निरूपण करते हुए काव्यशास्त्र के उदाहरण के रूप में भट्टि, भौमक आदि की रचनाओं का उल्लेख किया है।[१] क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है। रावणार्जुनीयम् की रचना भौमक ने भट्टिकाव्य को आदर्श मानकर की थी। भट्टि का समय सातवीं शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार भौमक का समय सातवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

रावणार्जुनीयम् में कवि ने कार्तवीर्य अर्जुन और रावण के युद्ध के

१- शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदत:।
चतुष्प्रकार: प्रसर: सतां सारस्वतो मत:।।
शास्त्रं काव्यविद: प्राहु: सर्वकाव्याङ्गलक्षणम्।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थं साहित्यसदलङ्कृति।।
शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत।
भट्टिभौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते।।

सुवृत्ति०, ३।२-४

वर्णन के व्याज से अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों को छोड़कर अन्य विधि सूत्रों के उदाहरणों के रूप में काव्य रचना की है ।

इसमें युद्ध आदि की कथा का वर्णन होने से यह काव्य कोटि में आता है, किन्तु व्याकरण के सूत्रों के उदाहरणों के स्वरूप लिखे जाने के कारण यह शास्त्र की कोटि में आता है । इसमें २७ सर्ग हैं । संक्षेप में इसकी कथा यह है कि एक बार रावण माहिष्मती नगरी को जाता है । वहाँ वह अर्जुन के साथ युद्ध करने की इच्छा व्यक्त करता है । अर्जुन को नगर में न पाकर वह नर्मदा में स्नान करके शिवार्चन में लग जाता है । उस समय अर्जुन अपनी सभी भुजाओं से नर्मदा के प्रवाह को अवरुद्ध करके अपनी रानियों के साथ विहार कर रहा होता है । अर्जुन के द्वारा प्रवाह में अवरोध उत्पन्न कर दिये जाने से नर्मदा का जल विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगता है। परिणामतः शिवार्चन के लिये एकत्र की गई सभी पूजन सामग्री बह जाती है। इससे रावण को क्रोध आ जाता है और वह अर्जुन के साथ युद्ध करने लगता है । युद्ध में अर्जुन रावण को बन्धन में डाल देता है, किन्तु पुलस्त्य मुनि के अनुरोध पर वह रावण को मुक्त कर देता है ।

रावणार्जुनीयम् का आदर्श यद्यपि भट्टि काव्य है, तथापि उसमें अन्य पूर्ववर्ती काव्यों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है । उदाहरण के लिए रावणार्जुनीयम् का निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

लतास्तरौ गुञ्जति षट्पदौघे
अहूका मतौ कुर्वति वल्लवीषु ।
उद्गीयमाने महीपतेः सा
सेना व्यतीयाय वनान्तभूमिम् ।।[1]

१- रावणा०, २३।५२

इस पद्य के ऊपर रघुवंश के निम्नलिखित पद्य का प्रभाव स्पष्ट है—

> विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य
>   पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
> उदीरयामासुरिवोन्मदाना-
>   मालोकशब्दं वयसां विरावैः ।।[1]

इसी प्रकार रावणार्जुनीयम् का यह पद्य भी द्रष्टव्य है

> है भातुराणामपि तत्र भेदो
>   न धार्मियाणामकृतात्मनःसु ।
> विकारहेतावपि निर्विकारं
>   महानुभावत्वं महनीयवृत्ति ।।[2]

इसमें कालिदास की इस उक्ति की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है—

> प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः
>   शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
> विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
>   येषां न चेतांसि त एव धीराः ।।[3]

भारवि की उक्ति है कि महात्माओं का यह स्वभाव ही है कि वे दूसरों के अभ्युदय को सहन नहीं कर सकते हैं ।[4] इसी के समान भाव भौमक

१- रघु०, २।९

२- रावणा०, १४।३८

३- कुमा०, १।५९

४- किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्
   ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
   प्रकृतिः खलु सा महीयसः
   सहते नान्यसमुन्नतिं यया ।।
   किरात०, २।२१

के इन शब्दों से व्यक्त होता है—

> यः कीर्त्यमानं सहते परेषां
> न शक्तिमान् भूपतिशब्दमात्रम् ।
> अनन्यसाधारणभोगवृत्ति-
> स्तेनाहुतना वा पतिरस्त्यसौ भूः ।।[1]

रावणार्जुनीयम् का अङ्गी रस वीर है । इसमें दानवीर,[2] धर्मवीर,[3] युद्धवीर[4] तथा दयावीर[5] चारों का सफल प्रयोग हुआ है । इसके अतिरिक्त इसमें अन्य रसों का भी समुचित परिपोषण दिखाई पड़ता है ।

१- रावणा०, १४।१३

२- वर्षित्वा याचकमार्गमभ्युपैति यो वर्णान्येव व्याकृतास्तद्गुणाम् ।
यस्येन्द्रः सोमपिपासया तृषित्वा यज्ञेषु प्रत्यक्षमापतत्येव ।।
वही, १।२५

३- विधीयतो यज्ञशतेषु वेदी(?)
शुश्रूषुरिन्द्रोऽपि सदस्य यस्य ।
बिभित्सवः समुन्नतं न शक्तिं
कुतुप्तुराशीत्समरेषु कश्चित् ।।
वही, १।१०

४- बाहुन्मुन्मुरु करचक्रकवालं भीषाधि स्वादि त्रिदशसुरात्मकोपम् ।
स्वां शक्तिं रणभुवि दर्शिताखिलारिः सन्नद्धः क्षितिपतिना पुरःसरेण ।।
वही, २०।१०

५- ''' गच्छतु रावणोऽय लङ्कां प्राणिनस्त्वाभ्यागमभ्यनुज्ञया ते ।
मुनिमित्यवदन्मुनि (?) महात्मन्स सुखी प्राणिति यः स्थितोऽन्तिके ते ।।
वही, २७।७७

वीर रस प्रधान होते हुए भी इसमें एक स्थल पर करुण का परिपोष हुआ है । सत्रहवें सर्ग में रावण और अर्जुन के युद्ध के प्रसङ्ग में युद्ध में क्षत-विक्षत योद्धाओं को देखकर उनकी स्त्रियों की शोक विह्वल दशा का वर्णन किया गया है । युद्ध में बलशाली योद्धाओं को शत्रुओं के बल से क्षत-विक्षत देखकर (उनकी) स्त्रियाँ उनके वक्षस्थलों पर गिर-गिर पड़ती हैं ।[1]

यहाँ पर शत्रुनारियाँ आश्रय हैं, योद्धा आलम्बन हैं, उनके क्षत-विक्षत शरीर उद्दीपन विभाव हैं । अनुभाव है शत्रुनारियों का पछाड़ें खा-खा कर उनके ऊपर गिरना इत्यादि । यहाँ व्यभिचारी भाव हैं दैन्य, चिन्ता, विषाद इत्यादि । इस प्रकार शत्रुस्त्रियों का स्थायी भाव शोक विभाव आदि के द्वारा सम्यक् रूप से परिपुष्ट होकर करुण रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है ।

वराङ्गचरित

प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता जैनकवि जटासिंह नन्दि हैं । वराङ्गचरित का सर्वप्रथम उल्लेख उद्योतन सूरि (७७८ ई०) कृत कुवलयमाला में उपलब्ध होता है ।[2] जिनसेन प्रथम के अनुसार हरिवंश पुराण के रचनाकाल तक वराङ्गचरित अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका था ।[3] जिनसेन प्रथम द्वारा रचित

१- विशिखव्रातखण्डितवंशानां स्वबलेनैव न राजवंशेन ।
अवलोक्य वल्लभानां भटानां न्यपतन्नुरसु वक्षस्थलेषु ।।
वही, १७।६२

२- जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरिय वित्थारे ।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो ।।
कुवमा०, पृ० ४

३- वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ।।
हपु०, १।३५

हरिवंश पुराण का रचनाकाल ७८३ ई० माना जाता है।[१] इस समय तक लोकप्रियता प्राप्त करने में वराङ्गचरित को पर्याप्त समय अवश्य लगा होगा, अतः वराङ्गचरित का समय सातवीं शताब्दी का अन्त और आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

इसमें ३१ सर्गों में वराङ्ग की कथा का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है। उत्तमपुर में एक भोजवंशीय राजा थे- धर्मसेन। उनके तीन सौ रानियां थीं, जिनमें पटरानी थी— गुणावती। गुणावती के पुत्र वराङ्ग थे। वराङ्ग के भी दस पत्नियां थीं। उनके युवराज पद प्राप्त कर लेने से उनकी विमाता तथा भाई सुषेण उनके प्रति ईर्ष्या करने लगते हैं। उन दोनों के षड्यन्त्र के फलस्वरूप तथा दैव-दुर्विपाक से वराङ्ग अनेक सङ्कटों में पड़ जाते हैं, किन्तु एक महापुरुष की भांति वे इन सभी सङ्कटों को धैर्य पूर्वक सहन कर लेते हैं। सौभाग्य से श्रेष्ठी सागरवृद्धि उन्हें अपने धर्मपुत्र के रूप में स्वीकार कर लेता है और वह 'कश्चिद्भट्ट' नाम से अज्ञात वास करने लगता है। वह अत्यन्त पराक्रमी है और अनेक शत्रु राजाओं को परास्त कर देता है। एक बार उनके पिता के राज्य उत्तमपुर पर शत्रु आक्रमण कर देते हैं। उनकी प्रार्थना पर सागरवृद्धि कश्चिद्भट्ट के छद्मवेश में रहने वाले वराङ्ग को उनकी सहायता के लिये उत्तमपुर भेज देते हैं। वहां आक्रमणकारियों को परास्त कर वह आनर्तपुर में एक नए राज्य की स्थापना कर देते हैं। वहां उनके द्वारा एक जैन मन्दिर का निर्माण भी कराया जाता है। उनके द्वारा किये गए धार्मिक आयोजनों के फलस्वरूप उनके मन्त्री धर्माचरण में लग जाते हैं। एक दिन आकाश से टूट कर गिरते हुए तारे को देखकर वराङ्ग को संसार की असारता का बोध हो जाता है। वह अपनी रानियों के साथ वरदत्त मुनि

१- व०च० (भूमिका), पृ० १६

से दीक्षा ग्रहण करके प्रव्रज्या स्वीकार कर लेते हैं और अपनी तपश्चर्या के द्वारा मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं ।

समाप्ति में कवि ने जो पुष्पिका दी है, उसके अनुसार यह ग्रन्थ धर्म-कथा है, जिसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्ग का उपदेश देना है । कवि ने इसे स्फुट शब्दार्थ से समन्वित भी बताया है ।[1] यद्यपि कवि ने इसे महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी है, तथापि इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण उपलब्ध होते हैं । रचना का विभाजन सर्गों में किया गया है। ग्रन्थारम्भ में रत्नत्रय की वन्दना की गयी है । इसके नायक राजवंश में उत्पन्न वराङ्ग हैं, जो बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के समसामयिक थे । नायक में आलङ्कारिकों के द्वारा मान्य सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं । इसमें नगर, ऋतु, विहार, विवाह, सेना-प्रयाण इत्यादि महाकाव्य में वर्ण्य सभी विषयों का वर्णन किया गया है । प्रत्येक सर्ग की रचना एक विशेष छन्द में की गयी है, किन्तु समाप्ति में भिन्न छन्द का प्रयोग किया गया है। सर्गों की संख्या इकतीस है, जो आलङ्कारिकों के द्वारा मान्य संख्या से अधिक है । काव्य में विभिन्न रसों का परिपाक हुआ है, किन्तु इसका अङ्गी रस शान्त है ।

वराङ्गचरित में अङ्गरूप में परिपुष्ट अन्य रसों के साथ करुण का परिपोष भी अत्यन्त हृदयग्राही है । चतुर्दश सर्ग में छद्मवेषधारी वराङ्ग और पुलिन्दराज के युद्ध का वर्णन है । पराजय पुलिन्दराज की ही होती है किन्तु वराङ्ग रक्त से लथपथ होकर भूमि पर गिर जाते हैं । उन्हें इस

1- इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते ।
स्फुटशब्दार्थसन्दर्भे वराङ्गचरिताश्रिते ।।

दशा में देखकर उनके आश्रयदाता श्रेष्ठी सागरवृद्धि विह्वल हो उठते हैं और विलाप करने लगते हैं । वह कहते हैं कि 'हा वत्स ! तुम इस प्रकार मौन धारण करके सुख से क्यों पड़े हुये हो । उठो और मुझे प्रत्युत्तर देकर शीघ्र प्रसन्न करो।[1] अरे ! तुम तो अभी बालक ही थे, तुम्हारा कोई सहायक भी नहीं था, तुम्हारे पास कोई सेना भी नहीं थी, फिर भी तुमने अपने शत्रुओं की सेना का वध कर डाला है।[2] तुमने (मेरी रक्षा के लिए पुलिन्दराज का वध करके) मुझे अनायास ही ऋणी बना दिया है। वास्तव में तुम अत्यन्त चतुर निकले । तुमने तो मेरा उपकार कर दिया, किन्तु मैं उसका प्रतिकार करने में असमर्थ होने के कारण तुम्हारे मर जाने पर भी क्या कर सकता हूँ ।[3] 'हाय ! तुमने तो कभी कुल बन्धु-बान्धवों और निवासस्थान

१- हा वत्स किं बालवदार्यवर्यं
किं मौनमास्थाय सुखोषितोऽसि ।
उत्तिष्ठ मह्याशु कुरु प्रसादं
प्रदेहि नाथ प्रतिवाक्यमेहि ।।
वरांग०, १४।५०

२- बालो सहायो बलवर्जितश्च
अकंटोऽप्यधिनद्य शत्रुसैन्यम् ।
कृता समर्थः स्वपदे स्थितश्चेत्
स बालकः शत्रुवधाः प्रति स्यात् ।।
वही, १४।५१

३- अयत्नवत्त्वं पुनराधमर्ण्यं
प्रलभ्य यातः कुशलोऽस्यतीव ।
कृतोपकारः प्रतिकारहीनो
गतासौ किं करवाणि ते हि ।।
वही, १४।५२

को भी नहीं बताया, जिन्हें (तुम्हारी उन वीरगाथा को) कहकर मैं सन्तुष्ट हो जाता । हे भाई ! तुम अपने देश को ही क्यों नहीं चले गये[1] ।

यहाँ पर धर्मपिता श्रेष्ठी सागरवृद्धि का शोक स्थायीभाव है, अतः आश्रय भी वही है । आलम्बन है सुकुमारकुमार वराङ्ग । युद्धस्थल में उन्हें मूर्च्छित होकर गिरने और रक्त से लथपथ देखकर सागरवृद्धि का शोक उद्दीप्त हो रहा है जिसके फलस्वरूप वह विलाप करता है, आत्म-भर्त्सना करता है तथा वराङ्ग के उपकारों का पुनः पुनः स्मरण करता है । ये सब अनुभाव हैं । दैन्य, चिन्ता, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

अपनी विमाता और भाई सुषेण के षड्यन्त्र के फलस्वरूप एक नटखट घोड़ा वराङ्ग को ले जाकर कुएँ में गिरा देता है । किसी प्रकार वह कुएँ से बाहर निकलते हैं और सिंह, हाथी तथा भीलों से बचते हुए सेठ सागरवृद्धि के द्वारा धर्मपुत्र के रूप में स्वीकार कर लिये जाते हैं । उधर वराङ्ग के लौटने में विलम्ब होने के कारण उनकी खोज के लिए दूत भेजे जाते हैं । खोजते-खोजते दूत उस कुएँ के समीप पहुंचते हैं, जिसमें घोड़ा मरा पड़ा हुआ है, किन्तु युवराज वराङ्ग का कहीं पता नहीं है । वन, नदी, पर्वतों में भटकते भटकते दूतों को वराङ्ग के कटक कटिसूत्र, केयूर और दोनों कुण्डल मिल जाते हैं, जिन्हें लेकर वे उनके पिता के समीप जाते हैं और सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदित करते हैं । दूतों के वचनों को सुनकर उनके पिता शोकविह्वल हो उठते हैं । वे दीर्घ निःश्वास लेते हैं, दुःख से उनके नेत्र फटे के फटे रह

१- नैवाश्रौषीस्त्वं कुलमन्युदेशान्
स्मृत्वापि यास्तुष्टमना भवेयम् ।
किं वा स्वदेशं न गतोऽसि मूढ
इति कुमारप्रलाप वार्या ।।
वही, १४।५३

जाते हैं और वह अपने हाथ पर[1] कपोल को रखकर पुनः पुनः अपने पुत्र के विषय में शोक करने लगते हैं।

यही वृत्तान्त जब महारानी गुणदेवी को ज्ञात होता है तब उनके नेत्र में अश्रु भर आते हैं और वह यह कहती हुई पछाड़ खाकर पृथ्वी पर[2] गिर पड़ती है कि 'हाय पुत्र ! तुम्हें किसने अपहृत कर लिया है'। महारानी को इस प्रकार मूर्च्छित होकर गिरी हुई देखकर परिजन उनके ऊपर चन्दन-मिश्रित शीतल जल छिड़कते हैं और पंखे से हवा करते हैं। इससे उनकी मूर्च्छा टूटती है और अपने नेत्रों को खोलकर वह फिर यह कहती हुई विलाप करने लगती है कि 'हाय बेटे ! तुम कहाँ चले गये हो। अरे ! जो विपत्ति तुम्हारे ऊपर आ पड़ी है वह मेरे ऊपर क्यों न आ गयी। हे बेटे ! मेरा[3] तो मर जाना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि तुम्हारे बिना जीवन ही क्या' ? वह

१- कुर्वन्नुष्णां च निःश्वासं दुःखसम्भ्रान्तलोचनः ।।
गण्डस्थले करं न्यस्य सुतं शोचन्मुहुर्मुहुः ।
प्रत्युवाच पुनस्तेभ्यः कम्पयन्करपल्लवम् ।।

वही, १५।१६,१७

२- हा पुत्र केन नीतस्त्वमित्युक्त्वा न्यपतद्भुवि ।।
ततः परिजनैस्तूर्णं शीतलव्यजनानिलैः ।।
चन्दनोदकसम्मिश्रैर्गात्रसन्धिषु पस्पृशे ।।

वही, १५।२३,२४

३- हा वत्स क्व गतोऽसीति विविधं विललाप सा ।।
त्वय्यागतात्र या पीडा सा मे किं न भविष्यति ।
वरं मे मरणं वत्स जीवितं किं त्वया विना ।।

वही, १५।२५,२६

अपने प्रिय पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि 'हे वत्स ! तुम्हारे कपोल को कुण्डलों से अङ्कित और वक्षस्थल को हार से सुशोभित देखना मेरे लिये तीनों लोकों के ऐश्वर्य से भी बढ़कर था'।[1] 'प्रिय वत्स ! सुन्दर अङ्गों से युक्त, विज्ञजनों के द्वारा सेवित और विनय तथा आचार से विभूषित तुम्हें छोड़कर मैं जीवित कैसे रह सकती हूँ'।[2] 'अरे ! मैं तुम्हारे उस रूप को कैसे भुला दूँ, जो चामरों, मुकुट की शोभा तथा यौवराज्य से सुशोभित हो रहा था'।[3] 'मैंने अन्य जन्म में मृगछौनों को (उनकी माताओं से) अलग कर दिया था, उसी कर्म का यह परिणाम मेरी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो रहा है'।[4]

यहाँ पर पिता धर्मसेन तथा माता गुणवती आश्रय हैं। वराङ्ग आलम्बन हैं, उनके अपहरण का समाचार, आभूषण इत्यादि का दर्शन तथा उसके सौन्दर्य का स्मरण उद्दीपन है। धर्मसेन के द्वारा ऊर्ध्व निःश्वास छोड़ना, माता गुणवती का विलाप, प्रलाप, मूर्च्छा तथा आत्म-निन्दा अनुभाव हैं। व्यभिचारी के रूप में अपस्मार, दैन्य, विषादादि

१- कुण्डलाङ्कितगण्डस्य हारशोभितवक्षसः ।
तव यद्दर्शनं पुत्र त्रैलोक्यैश्वर्यतोऽधिकम् ॥
वही, १५।२७

२- वत्स हित्वाऽनघाङ्गं विज्ञजननिषेवितम् ।
कथं स्मरन्ती जीवामि विनयाचारभूषितम् ॥
वही, १५।२८

३- चलच्चामरवृन्देन ज्वलन्मुकुटशोभया ।
ज्वलन्तं यौवराज्येन कथं वा विस्मराम्यहम् ॥
वही, १५।२९

४- मया वियोजिताः पुत्रा मृगाणामन्यजन्मनि ।
तत्कर्मपरिणामोऽयं सांदृष्टिकमुपस्थितम् ॥
वही, १५।३०

है । इस रूप से परिपुष्ट होकर वराङ्ग के माता-पिता का शोक- करुण रस के रूप में परिणत हो रहा है ।

वराङ्गचरित में करुण का एक अन्य स्थल वहाँ पर भी प्राप्त होता है जहाँ वराङ्ग के प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर उनकी स्त्रियाँ विलाप करने लगती हैं । जिस समय वराङ्ग की स्त्रियाँ सागरवृद्धि से वराङ्ग की प्रव्रज्या का समाचार सुनती हैं उस समय उनके मुख मुरझा जाते हैं और वे अपने नेत्रों से अश्रु-प्रवाह करती हुई उस राजा (सागरवृद्धि) के चरणों पर गिर पड़ती हैं ।[1] जिस प्रकार पाला मार जाने से कमलिनियाँ मुरझा जाती हैं और वायु तथा धूप से कमल सूख जाते हैं, उसी प्रकार उनके वियोग से भयभीत उनके मुख (मूर्च्छा के कारण) मलिन हो रहे हैं ।[2] क्षण भर में चेतना लौटने पर महाराज सागरवृद्धि उन्हें (अपने पैरों पर से) उठा लेते हैं । अश्रु से रुँधे हुए कण्ठ के कारण बोलने में असमर्थ वे स्त्रियाँ शिष्टाचार से प्रणाम करती हुई कुछ इस प्रकार बड़बड़ाने लगती हैं ।[3] "हे नाथ ! आपकी कृपा से

१- तदाश्रवातास्तविलवराङ्गपत्न्यः
प्रम्लानमाला इव दीनवक्त्राः ।
आक्रन्दयन्त्यः स्रवदश्रुनेत्रा
निपेतुरुर्व्यां पतिपादयोस्ताः ॥ वही, २८।८२

२- हिमाहतानामिव पद्मिनीनां
पद्मानि वातातपशोषितानि ।
वियोगभीतानि मुखानि तासां
प्रम्लानशुष्काप्रियतां प्रजग्मुः ॥ वही, २८।८३

३- प्रोत्थाप्यमाना नृपतीश्वरेण
मुहूर्तमात्रादुपलब्धसंज्ञाः ।
अश्रुप्रवाहाकुलकण्ठालापा
जजल्पुरित्थं विनयानताङ्ग्यः ॥ वही, २८।८४

हमें सभी सुख प्राप्त थे, आपके चरणों में हमारे प्राणों की आशा लगी हुई थी, किन्तु जब आपने ही हमारा परित्याग कर दिया तब हम क्या करें और कहाँ जायें।"[1] "हे राजन् ! हमारा और कोई आश्रय है ही नहीं। हम बेचारी पापिनियों को आप मत छोड़ दीजिये, क्योंकि आपके बिना हम निमेष मात्र भी जीवित नहीं रह सकती हैं"।[2] "हे राजन् ! (आपके बिना) हम जल से रहित कमलिनियों और यूथपति से परित्यक्त गजवधुओं के समान हैं। आप यह निश्चित रूप से जान लें कि आपके द्वारा वियुक्त होकर हममें जीवित रहने की इच्छा बिल्कुल नहीं है।

यहाँ पर वराङ्ग की स्त्रियाँ आश्रय हैं, वराङ्ग आलम्बन है, वराङ्ग की प्रव्रज्या उद्दीपन है, मुख का मुरझा जाना, मूर्च्छित होना, पैरों पर गिरना इत्यादि अनुभाव हैं और चिन्ता, दैन्य, जीवन से अनिच्छा इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे परिपुष्ट होकर वराङ्ग की वधुओं का शोक करुण रस में परिणत हो गया है।

यहाँ यह शङ्का उठायी जा सकती है कि वराङ्ग के द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी उनका और उनकी स्त्रियों का पुनर्मिलन हो

१- भवत्प्रसादोपचितसंप्रीत्या:
पादद्वयालम्बितजीविताशा: ।
त्यक्तास्त्वया किं करवाम हे च
गच्छाम वा कां गतिमद्य नाथ ।।
वही, २८।८५

२- अनन्यनाथा विभर्तारपुण्या
यतोहि नास्मान्मतोर्वराका: ।
त्वया बिना नेत्रनिमेषमात्रं
न शक्नुवं स्थातुमपि क्षितीश ।।
वही, २८।८७

३- जलेन हीना इव पद्मिन्यस्त:
करेणवो यौथिकयूथनाथा: ।
जिजीविषास्या न चैव नरेन्द्र
त्वया वियुक्ता ध्रुवमित्यवेहि ।।
वही, २८।८८

जाता है तब वहाँ पर करुण न मानकर करुणाविप्रलम्भ मानना चाहिये। इस शङ्का का समाधान यह है कि वराङ्ग और उनकी स्त्रियों का पुनर्मिलन होता अवश्य है, किन्तु तब जब कि वे भी वराङ्ग की भाँति प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती हैं । इस प्रकार लौकिक व्यवहार की दृष्टि से वराङ्ग तथा उनकी स्त्रियाँ इस लोक के प्राणी नहीं रह जाते हैं । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस प्रधान होते हुए भी वराङ्ग-चरित में अङ्ग रूप में करुण रस का परिपोषण भलीभाँति हुआ है। वराङ्गचरित में अङ्गी रस के साथ-साथ अङ्गभूत रसों के सम्यक् परिपाक का अवसर कवि को सम्भवत: इसलिये अधिक प्राप्त हो सका क्योंकि अन्य जैन महाकाव्यों में नायक के पूर्व भवों का वर्णन भी विस्तार से किया गया है,किन्तु वराङ्गचरित में वराङ्ग के केवल एक ही भव का वर्णन है । उसके पश्चात् वह मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। महाकवि जटा-सिंहनन्दिन् ने वराङ्ग के इस एक भव का वर्णन ३१ सर्गों में किया है। अत एव वस्तु-विन्यास, रसयोजना इत्यादि के सम्बन्ध में कवि को अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने को अधिक अवसर प्राप्त हो सका है ।

रामचरित

रामकथा के आधार पर विरचित महाकाव्यों में रामचरित का महत्त्व-पूर्ण स्थान है । रामचरित के रचयिता महाकवि अभिनन्द हैं । यह शतानन्द के पुत्र थे । अभिनन्द का समय ईसा की नवीं शताब्दी माना जाता है । इसमें छत्तीस सर्ग हैं। इसके अतिरिक्त इसमें दो परिशिष्ट भी हैं। दोनों परिशिष्टों में चार-चार सर्ग हैं,जिनकी सङ्ख्या का क्रम मूल के साथ ही दिया गया है । प्रथम परिशिष्ट के चारों सर्गों (सर्ग ३६ से सर्ग ४० तक) के रचयिता का नाम पुष्पिका में अभिनन्द ही दिया गया है, किन्तु द्वितीय परिशिष्ट के इसी सङ्ख्या के चारों सर्गों की पुष्पिका में रचयिता का नाम भीमकवि दिया हुआ है । रामचरित में सीताहरण के पश्चात् माल्यवान् पर्वत पर राम और लक्ष्मण के निवास से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है । महाकाव्य का अङ्गीरस वीर है, किन्तु महाकाव्य की परम्परा के अनुसार इसमें अन्य रसों की भी योजना है ।

रामचरित में करुण रस के भी कुछ मार्मिक स्थल उपलब्ध होते हैं। राम-रावण-युद्ध चल रहा है । दोनों ओर के वीर अपने पराक्रम से अपने शत्रुओं को पराजित करने में लगे हुए हैं । मेघनाद माया से राम और लक्ष्मण को नागपाश में बांध लेता है । दोनों भाई मूर्छित हो जाते हैं । राम और लक्ष्मण को इस अवस्था में देखकर वानरसेनापति सुग्रीव को उनके मृत होने का भ्रम हो जाता है । इससे वह अत्यन्त दुःखी हो जाता है और विलाप करने लगता है । फिर भी राम और लक्ष्मण जैसे वीरों को इस अवस्था में देखकर उसे उसकी वास्तविकता पर सन्देह होने लगता है । वह अपने मन में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगता है और कहता है कि वह जिस दृश्य को देख रहा है, वह उसका भ्रम है, अथवा स्वप्न है अथवा मांसभक्षी राक्षसों की माया का चमत्कार है[1]। राम और लक्ष्मण की इस दयनीय दशा को देखकर सुग्रीव का हृदय ग्लानि से भर जाता है और वह अपने आपको धिक्कारते हुए कहता है कि "मुझे धिक्कार है । मैं कितना कृतघ्न, स्नेहविहीन, पापी और निर्लज्ज हूँ । मैं शत्रु के द्वारा की गयी राम-लक्ष्मण की इस दुर्दशा को देख रहा हूँ, जबकि मैं स्वयं घायल तक नहीं हुआ हूँ"[2]। सुग्रीव अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है और राम को उपालम्भ देते हुए उनसे प्रश्न करता है कि "हे देव ! क्या हम सब शक्ति-विहीन हैं अथवा आपके प्रति हमारा स्नेह नहीं है कि आप केवल अपने भाई को लेकर हम सब से बहुत दूर चले गये

१- भ्रमः स्वप्नोऽथ मायेयं महती निशिताशिनाम् ।
पश्याम्यवस्थायां रामलक्ष्मणयोरिदम् ।।

राम० (क०) , ३१।४८

२- धिङ्मां कृतघ्नमस्निग्धमदान्तं पापमक्षमम् ।
ययोः पश्यामि कदनं कृतमेवमरातिना ।।

वही, ३१।५०

है।[1] सुग्रीव अत्यन्त विक्षिप्त हो जाता है और वह अधीर होकर कहने लगता है कि "हे लक्ष्मण, इस समय आप हमें कोई आदेश क्यों नहीं दे रहे हैं ? हे राम ! आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं आखिर आप दोनों मुझसे इतना रुठ क्यों गये हैं।[2] सुग्रीव की व्यथा और उनकी विवशता का वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। राम और लक्ष्मण के शरीर बाणों से बिद्ध हैं, इसलिये सुग्रीव उनके अङ्गों का स्पर्श तक न कर सकने के कारण अत्यन्त व्याकुल हो जाता है। वह राम और लक्ष्मण से अपने वचनों का उत्तर न पाकर और भी अधीर हो रहा है। दुःखातिरेक के कारण सुग्रीव को अपने जीवन के प्रति भी कोई आकांक्षा नहीं रह गया है। राम के मुरझाये हुये मुख मण्डल को देखकर वह अपने प्राणों का परित्याग कर देने के लिये उद्यत हो जाता है।[3] सुग्रीव को इस बात का विश्वास ही नहीं हो पा रहा है कि एक निर्बल शत्रु के द्वारा राम और लक्ष्मण जैसे महावीरों की यह दुर्दशा भी हो सकती है।[4] वह राम और लक्ष्मण की इस दशा तथा

१- किमशक्ताः किमस्निग्धाः सर्वे वनचरा वयम् ।
एवं भ्रातरमादाय केन दूरं गतोऽसि यत् ।
वही, ३१।५१

२- किं नादिशसि सौमित्रे राम किं मां न भाषसे ।
अप्रसादः कुतस्त्योऽयं कुपयोरुभयोरपि ।।
वही, ३१।५२

३- मुग्ध मुग्धाम्यहं प्राणानिदं दीर्घनिमीलितम् ।
रामस्य वीक्षितुं वक्त्रमलिनं नील नीरजैः ।।
वही, ३१।६७

४- अनयोरनयो नास्ति पौरुषं पुरुषाधिकम् ।
इतौ कथं निर्जीवेन छिन्ना दशरथात्मजौ ।।
वही, ३१।७७

उससे उत्पन्न होने वाले अपने दुःख का एकमात्र कारण भाग्य को ही समझता है । यदि दैव उनके प्रतिकूल न हो जाता तो अनेक सङ्कटों से मुक्त होकर भी आज वह इस प्रकार के दुःख का भोग न करते ।[1]

राम और लक्ष्मण की मुर्च्छा से सुग्रीव की विह्वलता में करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । यहाँ पर सुग्रीव आश्रय है तथा राम और लक्ष्मण आलम्बन हैं । उन दोनों के बाणविद्ध शरीर तथा उनकी मुर्च्छा उद्दीपन विभाव है । सुग्रीव के द्वारा आत्मनिन्दा, उसका विलाप, प्राणोत्सर्ग के लिए कथन आदि अनुभाव है । वितर्क, निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

रण-क्षेत्र में कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि वीरों के वध के समाचार से रावण अत्यन्त शोकाकुल हो उठता है । वह इन वीरों की स्मृति से विक्षिप्त होकर कहने लगता है कि "हे मेघनाद ! लङ्का के राज्य को तृण भर में तृणवत् छोड़कर तुम कहाँ चले गये हो ? क्या तुम्हें मेरी अपेक्षा अपना चाचा कुम्भकर्ण अधिक प्रिय था, कि तुम मुझे अकेला छोड़कर उनके साथ चले गये हो।[2] प्रहस्त, कुम्भकर्ण, निकुम्भादि वीरों के वियोग की असह्य वेदना से वह मरने के लिये उद्यत हो जाता है।[3] वह विह्वल होकर अतिकाय तथा मेघनाद

१- मूर्छाविमौ राघवकुलात्मज शोकान्तरं गतौ ।
अत सम्यङ् न जानीमो जाम्बवन् कोऽयं (कीदृशो(?)) विधिः ।।

वही, ३१।७६

२- हा मेघनाद क्व गतोऽसि मुक्त्वा
लङ्काधिपत्यं तृणवत् दारुणेन ।
बालात् पितुः पाङ्क्तमुखात् किमिष्टः
कनिष्ठतातस्तव कुम्भकर्णः ।। वही, ३८।१६

३- क्वासि प्रहस्त प्रतिहारपाल
कुम्भं भुवि स्थापय तम्बिकुम्भौ ।
गम्यः स वैदर्भ्य मे निकुम्भ-
अम्भोनिधिं वाहिके विहामि ।। वही, ३८।१७

से यह जानना चाहता है कि वे उसे अकस्मात् छोड़कर क्यों चले गये हैं?[1] दु:ख के इन क्षणों में रावण अपने पुत्रों के नाश का उत्तरदायी स्वयं को समझ लेता है और स्त्रियों के समान बिलख-बिलख कर विलाप करने लगता है।[2]

यहाँ पर करुण रस का आश्रय रावण है, उसके मृत पुत्र तथा भाई आलम्बन हैं। उनके शव-विलास और उद्दीपन विभाव हैं। अनुभाव हैं रावण का विलाप, पश्चात्ताप करना, आत्महत्या के लिये उद्यत होना इत्यादि। विषाद, चिन्ता, ग्लानि, दैन्य, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

युधिष्ठिरविजय

युधिष्ठिरविजय एक यमककाव्य है। इसके रचयिता वासुदेव हैं जिनका समय ईसा की नवीं शताब्दी माना जाता है।[3] इसके आठ आश्वासों में पाण्डु की मृगया से लेकर युधिष्ठिर के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित

१- पुत्रातिकाय स्मर नः प्रसादा-
न्यधाक्षं गोत्रभिदः कियन्ति ।
किं दुर्नयं मे कुरु मेघनाद
त्वयेप्सितं यत्सहसोज्झितोऽस्मि ।। वही, ३८।१९

२- तात: क्वालम्ब्य च विस्खलन्त्यौ
शोकान्धकारेण दिशो निरुद्धाः ।
निर्वापितौ दुर्विनयान्धया वा-
मत्पुण्यजालात्मवरत्नदीपौ ।।
इति ब्रुवन् वैरिविलुप्तवक्त्र-
स्कन्दं नारीव निशाचरेन्द्रः ।।
वही, ३८।३९,४०

३- H.C.S.L., p.168

है । वासुदेव की दो अन्य रचनाएँ हैं— शौरिकथोदय और त्रिपुरदहन । यमककाव्य होने के कारण कवि का ध्यान रस की अपेक्षा शब्दालङ्कारों पर ही अधिक है तथापि रस के बिना काव्य का अस्तित्व ही न हो सकने के कारण इसे नीरस कहना भी उपयुक्त न होगा । युधिष्ठिरविजय में कवि ने राजनीति के विभिन्न दावपेंचों का वर्णन किया है । इसलिये इस काव्य में प्रधानता वीर रस की ही है । कीचकवध के प्रसङ्ग में करुण रस की हृदयावर्जक अभिव्यक्ति हुई है ।

भीम के द्वारा कीचक का वध कर दिया जाता है । इससे उसके बन्धु-बान्धव विह्वल होकर विलाप करने लगते हैं[1] । यहाँ पर कीचक के बन्धु-बान्धव आश्रय हैं, कीचक आलम्बन है, कीचक के बन्धु-बान्धवों का विलाप अनुभाव है और दैन्य तथा विषाद व्यभिचारी भाव हैं ।

इसी प्रकार अपने पुत्रों के अनिष्ट से कुन्ती[2] तथा अपने वीर पुत्रों की मृत्यु के समाचार को सुनकर धृतराष्ट्र, दुर्योधन आदि के विलाप[3] में भी करुण रस का परिपोष दिखाई पड़ता है । यहाँ पर आश्रय हैं कुन्ती, धृतराष्ट्र और दुर्योधन । कुन्ती, धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन के पुत्र आदि आलम्बन हैं । कुन्ती आदि का विलाप, पश्चाताप आदि अनुभाव है और

१- प्राणसमानमुदस्तं भ्रातरमवलोक्य कुम्भवानमुदस्तम् ।
भ्राता रुरुदुः वधिता भिया विलापां च निदधुरुरुदुःखिताः ॥
युधि०, ५।१०२

२- तस्यां तदनुचितायां निदधुर्मुदा तदनु चितायाम् ।
सा कैर्नीता बन्धं रुरोद यस्या मनो न नीतावन्धम् ॥
वही, ५।१०३

३- स विधुरहस्तान्ताभिः स्त्रीभिः सार्धं कुरुहस्तान्ताभिः ।
हतचेताः स्वापत्यश्रेणीषु रुरोद निपतितास्वापत्य ॥
वही, ८।६२

व्यभिचारी भाव है विषाद, जड़ता, ग्लानि आदि ।

जिनदत्तचरित

जिनदत्तचरित महाकाव्य के रचयिता गुणभद्राचार्य हैं । इनके गुरु का नाम आचार्य जिनसेन द्वितीय और दादागुरु का नाम वीरसेन है । आचार्य गुणभद्र जिनसेन द्वितीय के शिष्य थे तथा उन्होंने उनके अपूर्ण आदि-पुराण को पूर्ण किया था । कुछ विद्वानों के मत से गुणभद्र नाम के पाँच आचार्य थे ।[1] गुणभद्र का समय ईसा की नवम शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है ।[2]

गुणभद्र की चार रचनाएँ मानी जाती हैं— आदिपुराण,उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्तचरितकाव्य । आदिपुराण का प्रारम्भ गुणभद्राचार्य के गुरु जिनसेन द्वितीय द्वारा किया गया था, किन्तु उसकी पूर्ति गुणभद्राचार्य ने की थी। कुछ विद्वान् उत्तरपुराण को इनकी रचना नहीं मानते हैं ।[3]

जिनदत्तचरित गुणभद्राचार्य की अन्तिम रचना है । यह नवसर्गात्मक महाकाव्य है । सम्पूर्ण काव्य श्लोक नामक छन्द में लिखा गया है, किन्तु सर्गान्त में छन्दःपरिवर्तन भी किया गया है ।

जिनदत्तचरित की कथा यह है कि जिनदत्त मगधदेशान्तर्गत वसन्तपुर नामक नगर के सेठ जीवदेव और उनकी पत्नी जीवनयशा का पुत्र है । युवावस्था में पदार्पण करते ही उसका मन विषय-भोग से विरक्त रहने

१- जै०सा०बृ०इ०, पृ० ३०१

२- जी०च०भा०प०, पृ० ६

३- जै०सा०बृ०इ०, पृ० ३०१

लगता है, किन्तु कवि ने जिनदत्त की इस विरक्ति को अनुरक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया है। जिनदत्त चम्पा नगरी के विमल सेठ की पुत्री विमलमती के प्रति अनुरक्त हो जाता है, जिसकी परिणति उन दोनों के विवाह में हो जाती है। कुसङ्ग में पड़कर जिनदत्त द्यूतक्रीड़ा में फंस जाता है, किन्तु उसके जीवन में ऐसा मोड़ आता है कि वह बहुत सा धन अर्जित करके श्रीमती नामक राजकुमारी के साथ विवाह कर लेता है। समुद्रमार्ग से लौटते समय समुद्रदत्त नामक व्यापारी उसे समुद्र में गिरा देता है, किन्तु जिनदत्त एक लकड़ी के सहारे समुद्र को पार करने लगता है। उसके इस पराक्रम को देखकर एक विद्याधर अपनी पुत्री शृङ्गारमती के साथ जिनदत्त का विवाह कर देता है। कुछ समय पश्चात् जिनदत्त शृङ्गारमती के साथ चम्पापुर की एक वाटिका में निवास करने लगता है। अर्धरात्रि के समय शृङ्गारमती को उसी वाटिका में सोता हुआ छोड़कर वह कहीं चला जाता है। शृङ्गारमती भी चम्पापुर के एक चैत्यालय में निवास करने लगती है। यहाँ शृङ्गारमती का मिलन विमला और श्रीमती के साथ होता है।

जिनदत्त वामन का रूप धारण कर नगर में अपनी गान विद्या द्वारा लोगों का मनोरञ्जन करने लगते हैं। उन्हें राज-दरबार में गायक का पद प्राप्त हो जाता है। एक दिन राजा को सूचना प्राप्त होती है कि नगर के जिनालय में तीन परम सुन्दरियाँ निवास करती हैं। वे न कभी हँसती हैं और न किसी पुरुष से वार्तालाप करती हैं। जिनदत्त चैत्यालय में जाकर उन युवतियों को अनुरञ्जित करके हँसा देता है। जिनदत्त एक मदोन्मत्त हाथी को अपने वश में करके राजा को प्रसन्न कर लेता है। परिणामस्वरूप राजा उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता है। कुछ समय पश्चात् जिनदत्त अपने माता-पिता से मिलता है, किन्तु शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष रूप पुरुषार्थ का प्रतिपादन करने के कारण महाकाव्य का

अङ्गी रस शान्त है, किन्तु अङ्ग रूप में यथावसर अन्य रसों का भी नियोजन किया गया है ।

इस महाकाव्य में करुण रस के कई मार्मिक स्थल हैं । तृतीय सर्ग में जिनदत्त के साथ अपनी पुत्री विमलमती का विवाह कर देने के पश्चात् उसकी माता उसे पति-गृह को भेजती हुई भावाभिभूत हो उठती है। वह उसका आलिङ्गन करती है, उसके नेत्रों में अश्रु छलक आये हैं और वह रोती हुई प्रेम-पूर्वक अपनी प्रिय पुत्री को उपदेश देती है[1] वह कहती है कि "अयि पुत्रि ! संसार में विलास, हास, माल्य, आभूषण आदि बनते बिगड़ते रहते हैं, इसलिए उन सबकी ओर तुम आकृष्ट न होना"[2] पति के मन को जाने बिना कभी मान न करना और हम लोगों (से मिलने) के लिए उत्कण्ठित न होना[3] तुम अपने ज्येष्ठ, देवर, उनकी स्त्रियों तथा श्वश्रू के प्रति सदा विनयभाव रखना और किस किसी के साथ नर्मवाक्यों तथा असम्बद्ध वार्तालाप न करना[4] तुम अपनी सास को माता, श्वसुर को पिता, पति को प्रियतम और देवर को बेटा ही कहना"[5] विमलमती की माता के इन

१- गाढमालिङ्ग्य तत्रैव बाष्पपूर्णविलोचना ।
रुदन्ती तां जगादेति माताऽपि प्रीतिपूर्वकम् ।। जि०द०च०, ३।१०

२- विलासहास-कल्पतल्पमाल्यविभूषणाम् ।
गतागतं च कीर्ण भाकार्षीरुद्भटं क्वते ।। वही, ३।११

३- चित्तं पत्युरविज्ञाय मा कृथाः मानमायतम् ।
उत्कण्ठिता च मासूत्त्वमस्मत्सन्दर्शने ।। वही, ३।१२

४- ज्येष्ठदेवरतज्जायाश्वश्रूषु विनता भवेः ।
नर्मोक्तिमसम्बद्धं येन केनाऽपि मा कृथाः ।। वही, ३।१३

५- श्वश्रूं मातरिति ब्रूहि तातेति श्वसुरं नता ।
प्राणनाथं प्रियेशेति त्वं वत्सेति च देवरम् ।। वही, ३।१४

उपदेशों में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला को पतिगृह भेजते समय कण्व के उपदेशों की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है।[1]

यहाँ पर विमलमती की माता आश्रय, विमलमती आलम्बन, उनका पति-गृह जाना उद्दीपन, माता का विलाप, उपदेश आदि अनुभाव और चिन्ता, दैन्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

एक समय जिनदत्त विमलमती का परित्याग करके अदृश्य हो जाते हैं। उनके द्वारा इस प्रकार परित्यक्त हो जाने के पश्चात् उन दोनों का स्त्री-पुरुष रूप में पुनर्मिलन कभी नहीं होता है। अपने को ऐसी अवस्था में देखकर विमलमती विलाप करने लगती है। वह कहती है कि "हे नाथ! मैं तो आपको देखकर ही जीवित रहती थी, आपके चरण मेरे लिये कुलदेवता थे और मैं स्वभावतः आपके प्रेम में बंधी हुई थी, फिर भी आपने मुझे क्यों छोड़ दिया है।[2] हाय, मेरा मन तो नवनीत के समान कोमल है। आपकी विरहाग्नि से वह जब विलीन हो जायगा, तब आप आकर क्या करेंगे।[3]

१- यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥

अ०शा०, ४।६

२- त्वद्दृष्ट्यैव जीविता नाथ त्वत्पादकुलदेवता ।
स्वभावप्रेमसक्ता हा मुक्ताऽस्मि कथञ्चन ॥ जि०द० च०, ३।८३

३- मनो मे नवनीताभं तच्च विरहवह्निना ।
विलीनमपि हा पश्चात्किमागत्य करिष्यसि ॥ वही, ३।८५

वही लतायें हैं, वही वृक्ष हैं, वही क्रीडापर्वत हैं, वही पक्षी हैं, किन्तु न जाने वे अब क्यों कुछ और ही रूप में दिखाई पड़ रहे हैं।[1] 'हे स्वामिन्! तुम्हारी वह स्नेहाधिक प्रीति, वे चाटुकारिता की बातें, वह विश्वास दिलाना और वह दाक्षिण्य भाव सब कुछ समाप्त हो गया है'।[2]

यहाँ पर आश्रय विमलमती है, आलम्बन है जिनदत्त, उद्दीपन है संयोगावस्था में विमलमती के साथ किये गये जिनदत्त के व्यवहार, सम्भाषण आदि। शृङ्गारमती के रुदन आदि अनुभाव हैं। दैन्य, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ इन सबसे संयोगयोग्य होकर शोकस्थायी भाव करुण रस रूप में परिणत हो गया है।

जिनदत्त अपनी प्रियतमा श्रीमती के साथ एक जलपोत के द्वारा समुद्र की यात्रा कर रहे हैं। उसी पोत से यात्रा करता हुआ समुद्रदत्त नामक एक व्यापारी श्रीमती के प्रति अनुरक्त हो जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए समुद्रदत्त उसके पति जिनदत्त को समुद्र में फेंक देता है। उसे इस प्रकार समुद्र में डूबता हुआ देखकर पत्नी श्रीमती शोकाकुल हो उठती है। उनके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है। वह ठगी सी रह जाती है।[3] यद्यपि जिनदत्त की रक्षा एक विद्याधर के द्वारा कर दी

१- ता लतास्तरवस्ते ते क्रीडानगास्ते विहङ्गमाः ।
न जानामि गताः क्वापि दृष्टिं बद्ध्वैव वाधिकाः ।। वही, ३।८६

२- सस्नेहस्तादृशी प्रीतिश्चाटुकाराश्च ते प्रभो ।
विश्रम्भः स च दाक्षिण्यं सर्वं जातं गतम् ।। वही, ३।८७

३- कुमारपातकव्यातशोकशङ्कुलताकुपि ।
अजस्राश्रुप्रवाहेण प्लावितस्तनमण्डला ।।
सा किंकर्तव्यतामूढा भावयिष्यति सुन्दरी ।। वही, ५।१७,१८

जाती है, किन्तु जिनदत्त और श्रीमती का पतिपत्नी के रूप में पुनर्मिलन नहीं होता है। यहाँ पर श्रीमती आश्रय और जिनदत्त आलम्बन है। जिनदत्त का समुद्र में गिर जाना उद्दीपन है। अश्रुपात और किंकर्तव्यविमूढ़ता अनुभाव है। व्यभिचारी के रूप में विषाद, जड़ता, चिन्ता आदि है। इन सबसे पुष्ट होकर श्रीमती का शोक करुण रस के रूप में परिणत हो गया है।

करुण रस का एक अन्य स्थल वहाँ पर भी है जहाँ जिनदत्त चम्पापुर में सोता हुई शृङ्गारमती को छोड़कर प्रव्रज्या के लिए चल देता है। तदनन्तर उन दोनों का मिलन होता अवश्य है, किन्तु पति-पत्नी के रूप में नहीं। जागने पर जिनदत्त के द्वारा अपने को परित्यक्ता जानकर वह विलाप करने लगती है। वह कहती है कि 'हे प्राणनाथ ! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गये हैं। मैं आपके वियोग को क्षणमात्र भी सहन नहीं कर सकती हूँ।'[1] 'हे प्रियतम ! आप यह दुःखदायी और चित्त को दग्ध करने वाला परिहास छोड़ दें, क्योंकि झकोरती वायु, मालती पुष्प की कलियों को मुरझा ही देती है।'[2] शृङ्गारमती अपने इस शोक के कारणों की नानाविध कल्पना करती हुई पश्चात्ताप करती है और इस महान् शोक को अपने पूर्व कर्मों का

१- हा प्रियेश ! समुत्सृज्य मामत्र क्व गतोऽधुना ।
निमेषमपि ते सोढुं वियोगमक्षमाऽस्म्यहम् ॥

वही, ६।३७

२- नर्मा मर्मकरं कान्त त्यज चित्तविदाहि मे ।
मालतीकुसुमम्लानिं धत्ते हि हिममारुतः ॥

वही, ६।३८

फल सकती है।[१]

यहाँ पर शृङ्गारमती आश्रय है, जिनदत्त आलम्बन है। उनके द्वारा एकान्त में परित्याग उद्दीपन है तथा शृङ्गारमती का विलाप, पश्चात्ताप आदि अनुभाव है। व्यभिचारी के रूप में दैन्य, चिन्ता, ग्लानि आदि हैं। इन सब से परिपोषण को प्राप्त करके शृङ्गारमती का शोक करुण रस रूप में चर्वणा योग्य हो गया है।

<u>द्विसन्धान</u>

द्विसन्धान नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक श्लेषपूर्ण महाकाव्य है। इसके रचयिता धनञ्जय का समय ईसा की नवम-दशम शताब्दी माना जाता है।[२] इसके अट्ठारह सर्गों में रामायण और महाभारत की कथा का एक साथ वर्णन किया गया है। इसी कारण यह "राघव-पाण्डवीय" नाम से भी प्रख्यात है। श्लेषप्रधान रचना होने के कारण

१- अथ वाऽस्ति न ते दोषः दैवाद्ऽपि सुदर्शन।
ममैव पूर्वकर्माणि फलन्त्येवं सविस्तरम्॥
राजहंसौ यथा कान्तावन्योन्यौ कुङ्कुमादिभिः।
प्रायः पिञ्जरितः किन्तु क्रीडापद्मकरः स्थितः॥
प्रातरेवाथ कान्तायाः शृङ्गाराभिमुखो यथा।
रथाङ्गविहगस्तद्वद् वियुक्तो दुःखितदीनया॥
किं यथा मदनाग्रहावन्यजन्मनि विच्छिन्ता।
असती वनिता वान्या मुहुर्मुहुर्मच्छालया॥
तस्यैव फलमायातमहुत्वमतिदुःसहम्।
किमितोऽहं विधास्यामि अनाथा निर्जने वने॥
वही, ६।४१-४५

२- H.C.S.L., p.169.

कवि की दृष्टि रससंयोजना पर न होकर चमत्कार-प्रदर्शन पर अधिक थी। अतः इस काव्य में रस की स्थिति गौण है । महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से इसमें रसों का पूर्ण अभाव भी नहीं माना जा सकता है । इसमें प्रधानता तो वीर रस की ही है, किन्तु प्रसङ्गानुसार अन्य रसों का भी परिपाक हुआ है ।

एक स्थल पर करुण रस का भी आस्वादन किया जा सकता है । दशरथ की आज्ञा से राम, लक्ष्मण और सीता वन के लिए प्रस्थान कर देते हैं । वन-गमन के अवसर पर राम आदि को देखकर ऋषि-मुनियों का कोमल हृदय द्रवित हो जाता है । उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं । महापुरुषों को विपत्ति में देख कर कौन कठोरहृदय प्रसन्न हो सकता है[1] ।

यहाँ पर राम को वन मार्ग का अनुगामी देखकर ऋषि-मुनि शोकाकुल हो रहे हैं । अतः करुण रस के आश्रय यही हैं । आलम्बन है राम इत्यादि। उनके कोमल शरीर और वनगमन से उत्पन्न विरोध ही उद्दीपन विभाव है। मुनियों के नेत्रों से अश्रुपात होना अनुभाव है और चिन्ता तथा विषाद व्यभिचारी भाव हैं । इन सब उपादानों से परिपुष्ट होकर ऋषि-मुनियों का शोक स्थायी भाव रसनीयता को प्राप्त कर रहा है ।

<u>प्रद्युम्नचरित</u>

प्रद्युम्नचरित के रचयिता महासेन हैं । प्रद्युम्न चरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में पुष्पिका दी हुई है,[2] उससे ऐसा प्रतीत होता है कि महासेन

१- नृपतिं तमवेक्ष्य तापसाः
कृपयार्द्रं हृदयेऽश्रु तत्यजुः ।
भुवि कः किल कर्कशाशयो
महतामुत्सहते विपत्तिषु ॥
द्वि०, ४।५४

२- इति सिन्धुराजसत्कविमहत्तमश्रीपर्पटगुरोः श्रीमहासेनाचार्यस्य कृते
प्रद्युम्नचरिते - - - - ।
प्र० च०

सिन्धुल के महामात्य पर्पट के गुरु थे । प्रद्युम्नचरित की रचना महासेन ने उन्हीं की प्रेरणा से की थी । प्रद्युम्नचरित की प्रशस्ति में काव्य के रचनाकाल का निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु इसमें सिन्धुल का निर्देश अवश्य हुआ है, जिसके आधार पर अभिलेख और इतिहास की सहायता से महासेन का समय निर्धारित किया जा सकता है । सिन्धुल मुञ्ज के अनुज और उत्तराधिकारी थे । उनका दूसरा नाम 'नवसाहसाङ्क' अथवा 'सिन्धुराज' भी था । पद्मगुप्त ने उनका वर्णन नवसाहसाङ्कचरित में किया है । मुञ्ज का समय १०वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है । जनश्रुति के अनुसार ई० ९९३ तथा ९९८ के बीच किसी समय तैलप देव ने मुञ्ज का वध किया था ।[1] अत एव महासेन का समय दशम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है ।

ब्राह्मण धर्म के अनुसार प्रद्युम्न कृष्ण के पुत्र थे, किन्तु जैन धर्म के अनुसार वह चरमशरीरी कामदेव थे । जैन कवियों में प्रद्युम्न का चरित इतना लोकप्रिय था कि जैन पुराणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र काव्यों के रूप में भी प्रद्युम्न को नायक बनाकर रचनाएँ की गयी हैं । संस्कृत में ही प्रद्युम्नचरित नाम की कई कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनके रचयिता महासेन, भट्टारक सकलकीर्ति, भट्टारक सोमकीर्ति, शुभचन्द्र, रत्नचन्द्र, भट्टारक मल्लिभूषण, भट्टारक वादिचन्द्र, भट्टारक भोगकीर्ति, जिनेश्वर सूरि और यशोधर हैं । इसके अतिरिक्त रविसागर गणि ने शाम्ब प्रद्युम्नचरित नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना भी की है ।[2] इनमें से महासेन के अतिरिक्त अन्य कवियों का समय बारहवीं शताब्दी के बाद का है, अत एव उनकी रचनाओं का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के क्षेत्र से पृथक् है ।

१- सी०म०चा०प०, पृ० ५६

२- जै०सा०बृ०इ० (भाग ६), पृ० १४५

महासेन कृत प्रद्युम्नचरित १४ सर्गों में निबद्ध एक महाकाव्य है, जिसकी कथा संक्षेप में यह है कि प्रद्युम्न कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र हैं। जन्म की छठी रात्रि को धूमकेतु राक्षस के द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया जाता है। धूमकेतु उसे एक शिला के नीचे छिपाकर भाग जाता है। सौभाग्य से कालसंवर विद्याधर उसकी रक्षा करता है और पुत्र रूप में उसका पालन करने के लिये उसे अपनी स्त्री को दे देता है। युवा होने पर प्रद्युम्न कालसंवर के शत्रु सिंहरथ को पराजित करके अपने उपकार का बदला चुका देता है, किन्तु प्रद्युम्न की शक्ति और प्रतिभा को देखकर कालसंवर के अन्य पुत्र उससे ईर्ष्या करने लगते हैं। वह सब मिलकर प्रद्युम्न के विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना करते हैं और जिनदर्शन के बहाने से उसे एक वन में ले जाते हैं, जहाँ उसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, किन्तु प्रद्युम्न उन सभी विपत्तियों पर विजय प्राप्त करके अनेक विद्याओं का उपार्जन कर लेते हैं। वह अपने बुद्धि-कौशल से अपना पालन-पोषण करने वाली कञ्चनमाला से भी तीन विद्याएँ प्राप्त कर लेते हैं। किसी कारणवश कञ्चनमाला उससे असन्तुष्ट हो जाती है और वह प्रद्युम्न के विरुद्ध कालसंवर को भड़काना प्रारम्भ कर देती है। कालसंवर प्रद्युम्न का वध करने के लिए उद्यत हो जाता है, किन्तु इसी बीच नारद आकर उसकी रक्षा करते हैं। प्रद्युम्न द्वारका की ओर लौट पड़ते हैं तथा मार्ग में दुर्योधन के विवाह के लिए जाती हुई कन्या का अपहरण करके उसे द्वारका ले जाते हैं। द्वारका लौट कर वह अपने सौतेले भाई भानुकुमार और सत्यभामा को अपनी विद्याओं से चकित कर देते हैं। तदनन्तर एक ब्रह्मचारी का वेश धारण करके प्रद्युम्न रुक्मिणी के पास जाते हैं। वहाँ वह बलराम और सत्यभामा की दासियों को उत्पीड़ित करते हैं। तदनन्तर प्रद्युम्न मायामयी रुक्मिणी को श्रीकृष्ण की सभा में खींचते हुए लाकर श्रीकृष्ण को ललकारते हैं। कृष्ण और प्रद्युम्न में भयङ्कर युद्ध होता है। इसी बीच नारद के द्वारा प्रद्युम्न का परिचय पाकर सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। प्रद्युम्न का स्वागत-सत्कार होता है। बहुत समय तक राज्यसुख का उपभोग कर प्रद्युम्न दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रद्युम्न की कथा श्रीमद्भागवत पुराण और विष्णुपुराण में उपलब्ध होती है, किन्तु जैन कवियों ने उपर्युक्त दोनों पुराणों में प्राप्त प्रद्युम्न की कथा में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है । उन्होंने जन्म-जन्मान्तर के आख्यानों को जोड़कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वर्तमान जीवन की प्रत्येक घटना के पीछे पूर्व जन्म के संस्कार कार्य करते हैं । उदाहरण के लिये धूमकेतु ने पूर्व जन्म के शत्रुता के कारण ही प्रद्युम्न का अपहरण किया था, कनकमाला पूर्व जन्म के प्रेम के कारण ही प्रद्युम्न पर आसक्त थी और शम्ब उसका पूर्व जन्म का भाई होने के कारण ही उससे प्रेम करता था।

अन्य जैन महाकाव्यों की भांति मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति का वर्णन करने के कारण प्रद्युम्नचरित शान्त रस प्रधान महाकाव्य है, किन्तु इसमें गौण रूप में शृङ्गार,[1] वीर,[2] रौद्र,[3] भयानक,[4] तथा बीभत्स[5] रसों का भी समुचित परिपाक उपलब्ध होता है ।

प्रद्युम्नचरित में गौण रूप में करुण रस का नियोजन अत्यन्त हृदयग्राही है । पञ्चमसर्ग में धूमकेतु के द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण कर लिये जाने पर रुक्मिणी के विलाप का वर्णन है । जागकर उठने पर प्रद्युम्न को न देखकर रुक्मिणी विक्षिप्त हो जाती है । वह अपने सम्पूर्ण परिवार से उसके

१- प्र०च०, १।६, ३०, ५०; २।४७,४८; ३।६,४२, ५७; ४।२४;
७।६६-७१; ८।८४; ६।१६३, १६५; ११।३७

२- वही, ७।८-१०; ६।३३३-३३७, ३४५; १०।१-६

३- वही, ६।३१०

४- वही, ६।२१०

५- वही, ११।४४

विषय में प्रश्न करने लगती है।[1] वह सम्भ्रम हो जाती है और उसकी समझ में यही नहीं आता है कि उसके पुत्र का अपहरण देवताओं के द्वारा कर लिया गया है, इन्द्रजाल है, स्वप्न है, उसके नेत्रों में ही दोष उत्पन्न हो गया है अथवा यह उसके चित्त का विकारमात्र है। उसे यह भी आशङ्का है कि उसका कोई पूर्वजन्म का वैरी देवता तो उसे नहीं उठा ले गया है।[2] अपने पुत्र के अपहरण के सम्बन्ध में नाना प्रकार के ऊहापोह में पड़ी रहकर वह मूर्च्छित हो जाती है।[3] रुक्मिणी को इस प्रकार चेतनाशून्य और भूमि पर पड़ा हुआ देखकर उसके परिजन उसका उपचार करते हैं, जिससे उसकी चेतना वापस लौट आती है, किन्तु इस अवस्था में आते ही वह अपने वक्षःस्थल को पीट-पीट कर और गला फाड़-फाड़ कर रोने लगती

१- सुप्तोत्थिता हरिवधूः कलशस्तनाढ्या
तल्पं तनूजरहितं सहसा विलोक्य ।
इत्थं ब्रवीति परिवारमवेक्षमाणा
क्वासौ सुतः कथय मामपहाय यातः ॥
वही, ५।२

२- माया नु किं सुरकृता किमुतेन्द्रजालं
स्वप्नोऽथवा किमु दृशो तिमिरं समुत्थं ।
चित्तं विकारि मम किन्तु हृतोऽथ बालः
केनाऽपि पूर्वभववैरिकृता सुरेण ॥
वही, ५।३

३- किं चेटिकाकरसरोरुहसङ्गतो वा
किं धात्रिकापृथुपयोधरपानलुब्धः ।
एवं विधं बहु विधाय विकल्पजालं
मूर्च्छामवाप्य समुत्त्राणनष्टचेष्टा ॥
वही, ५।४

है।[1] वह अपने अपहृत शिशु के अहरण-प्रत्यहरण का स्मरण करके शोकविह्वल हो जाती है।[2]

रुक्मिणी के हाहाकार को सुनकर कृष्ण उसका कारण जानने के लिए अपने अनुचरों को आदेश देते हैं। कृष्ण का आदेश पाकर एक द्वारपाल शीघ्र ही उसका कारण जानकर उसे राजा से निवेदन कर देता है। यह वृत्तान्त कृष्ण के लिये वज्रपात के समान है, जिसे सहन न कर सकने के कारण वह दुःखातिरेक से मूर्च्छित हो जाते हैं। परिजनों के द्वारा उपचार किये जाने पर जैसे ही उनकी मूर्च्छा समाप्त होती है, वह विलाप करना प्रारम्भ कर देते हैं।[3] उन्हें पुत्र के बिना अपने राज्य, कोष, हाथी, घोड़े,

---

१- दैवेन सा प्रतिहतेव सुदारुणेन
भूमौ पपात सहसा प्रविकीर्णकेशा ।
बोधङ्गता परिजनेन कृतोपचारा
वक्षो जघान च रुरोद च मुक्तकण्ठम् ॥
वही, ५।५

२- हा बाल हा कुटिलकुन्तल हा सुजात
हा पूर्णचन्द्रमुख हा कमलनेत्र ।
हा कामपालसमबन्धुरकर्णपाश
हा हारिकम्बुगल हा दृढबाहुशीर्ण ॥
वही, ५।६

३- तद्वज्रपातसमवस्य वचो निशम्य
मूर्च्छामवाप गुरुदुःखभरेण भूपः ।
पार्श्वस्थितैः प्रणयिभिर्विहितोपचारः
संज्ञामवाप्य परिदेवनमाततान ॥
वही, ५।१०

ग्राम, हाट, नगर इत्यादि सब व्यर्थ प्रतीत होने लगते हैं।[1] वह भी पुत्र शोक में विलाप करते हुए उसे अपने पुण्यों के नाश का कारण समझ लेते हैं।[2] वह विलाप कर कर के अपने पुत्र के सद्गुणों का स्मरण करके और भी विह्वल हो रहे हैं।[3] इस प्रकार विलाप करते हुए, अपने सिर को पीटते हुए और विधाता को बुरा-भला कहते हुए पैदल ही अपनी प्रियतमा के पास पहुंचते हैं।[4]

१- किं जीवितेन मम पुत्र विना त्वयाद्य
किं राज्यकोशहरिधामवसुगणेन ।
किं खेटकर्वटमटम्बचयेन लोके
किं मण्डलीकनिवहेन सुमण्डलेन ।।
वही, ५।११

२- हा मां गतोऽसि गतपुण्यगणं विना त्वं
दीनं सुदुःखिततरं तरसा विहाय ।
हा हा मम पुत्र विलपन्तमलं सकष्टं
तातं निजं निजकुलाम्बरतद्गुणमुख्यम् ।।
वही, ५।१२

३- हा तात हा यदुकुलार्णवपूर्णचन्द्र
हा सुन्दराननसम हा कलकण्ठनाद ।
हा वत्स बान्धवमनोम्बुजराजहंस
यातः क्व पुत्र गुणमन्दिर मां विहाय ।।
वही, ५।१३

४- एवं विधं स विलपन् सह बन्धुवर्गैः
बाष्पाम्बुदं त्रुटितनिस्तुलतारहारम् ।
धुन्वन् शिरः परिवदन् बहुधा च धात्रे
पद्भ्यां जगाम दयितान्तिकमाकुलात्मा ।।
वही, ५।१४

कृष्ण को इस दुःखावस्था में देखकर रुक्मिणी का शोक और भी उद्दीप्त हो जाता है और वह पुनः मूर्च्छित हो जाती है[1]। कृष्ण चन्दन आदि मिश्रित जल को छिड़क कर रुक्मिणी को अपने हाथों से पुनः उठा लेते हैं, किन्तु मूर्च्छा भङ्ग होते ही कृष्ण के साथ रो-रोकर वह आकाश को परिपूरित कर देती है[2]।

यहाँ पर रुक्मिणी तथा कृष्ण आश्रय हैं। अपहृत प्रद्युम्न आलम्बन है। प्रद्युम्न के सौन्दर्य और उनके गुणों का स्मरण उद्दीपन है। अनुभाव हैं विलाप, भूपात, मूर्च्छा, विधाता को दोष देना इत्यादि और व्यभिचारीभाव हैं दैन्य, वितर्क, जड़ता, अपस्मार, चिन्ता आदि। इन सब तत्त्वों से परिपुष्ट होकर कृष्ण और रुक्मिणी का शोक रसरूप में परिणत हो गया है।

करुण का एक अन्य प्रसङ्ग वहाँ पर भी है जहाँ प्रद्युम्न नेमिनाथ से दीक्षा लेकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। इस समाचार को सुनकर उनकी माता मूर्च्छित हो जाती है। उनकी वेशभूषा विकृत हो जाती है और वह टूटी हुई लता के समान पृथ्वी पर गिर पड़ती है। वैसे ही उनकी मूर्च्छा

१- आलोक्य तं सुवदना तरलायताक्षी
शोकाकुलापि सविशेषं पुनर्मुमूर्च्छ।
दृष्टे जने सति सुदुःखसखे जनस्य
शोको हि नाम परमां प्रबलामुपैति ॥
वही, ५।१५

२- तन्वी स्वयं मुररिपुा करपल्लवाभ्यां
उत्थापिता मलयजादिरसेन सिक्ता।
पूर्णं नभो विदधती करुणस्वनेन
मूर्च्छां विहाय हरिणा सह सा रुरोद ॥
वही, ५।१६

मूढ़ा होती है वह विलाप करते हुए अपने पुत्र प्रद्युम्न को उपालम्भ देने लगता है।[1]

यहाँ पर आश्रय रुक्मिणी है, आलम्बन प्रद्युम्न है, उनका प्रव्रज्या ग्रहण करके गृहत्याग करना उद्दीपन है। अनुभाव हैं मूर्च्छा, भूपात, उपालम्भ इत्यादि। व्यभिचारी भाव चिन्ता, दैन्य, विषाद, अपस्मार आदि हैं। यहाँ शोक स्थायी भाव उपर्युक्त सामग्री से परिपुष्ट होकर करुण रस के रूप में आस्वाद्य हो गया है।

<u>नेमिनिर्वाण</u>

नेमिनिर्वाण पन्द्रह सर्गों में निबद्ध एक महाकाव्य है। इसके रचयिता जैनकवि वाग्भट्ट हैं। इनका स्थिति काल ईसा की दशम शताब्दी माना जाता है।[2] इस महाकाव्य में बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जीवन चरित वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमें उनके पाँच पूर्व जन्मों का भी संक्षिप्त वर्णन है।

१- शोकाकुलं विलुलितालिककेशभारं
म्लानाम्बुजप्रतिममाननमुद्वहन्तम् ।
गृहस्तलः क्वचितं कुलधर्मशास्त्रे
वृद्धैः कृतानुमतिराह रुयाकुलपाणिम् ॥
ये वज्रिणो विजितवैरभूमिपालाः
षट्खण्डभूरणधिनीकरलब्धकीर्त्याः ।
तेऽप्यन्तकेन कवलीकृतसत्वसाराः
नामावशेषपठिता भुवने विभान्ति ॥

वही, १३।१७,१८

२- जैन सा० बृ० इ०, पृ० ५८१

अन्य जैन महाकाव्यों की भाँति इसमें भी तीर्थङ्कर नेमिनाथ के जीवनवृत्त के माध्यम से जैनधर्म के उपदेशों तथा जैन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । इसकी रचना में काव्यात्मकता लाने के लिये कवि ने विभिन्न रसों, अलङ्कारों और छन्दों का भी प्रयोग किया है । अन्य जैन महाकाव्यों की भाँति नेमिनिर्वाण का अङ्गीरस शान्त है ।

एक स्थल पर करुण रस की भी मनोहारी संयोजना की गयी है। नेमिनाथ के पूर्वजन्मों में से प्रथम जन्म में उनकी मृत्यु सर्पदंश से हो जाती है । उस समय उनकी स्त्री विलाप करती हुई उस सर्प की खोज करने लगती है । अन्त में वह सर्प को पकड़ कर उसे फेंक देता है, किन्तु सर्पदंश से स्वयं उसकी भी मृत्यु हो जाती है ।[१]

यहाँ पर नेमिनाथ के प्रथम जन्म की उनकी प्रियतमा आश्रय है, प्रथम जन्म में अवतरित नेमिनाथ आलम्बन है, उनका मृत शरीर उद्दीपन है। उनकी प्रियतमा का विलाप, सर्प को पकड़ लेना इत्यादि अनुभाव है । उसका दैन्य, विषाद, आवेग, निर्वेद तथा मरण व्यभिचारी है । इन सभी उपादानों के संयोग से परिपुष्ट नेमिनाथ के प्रथम जन्म की प्रियतमा का स्थायीभाव शोक रस रूप में आस्वाद्य हो गया है ।

विक्रमाङ्कदेवचरित

ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में महाकवि बिल्हण कृत विक्रमाङ्क-देवचरित का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस महाकाव्य की रचना चालुक्यवंशीय

१- ततो मम प्राणविनाशहेतु-
मन्वेषयन्ती रुदती प्रिया सा ।
ददर्श तस्मिन् भुजगं मुमूर्षु-
र्निक्षिप्तहस्ताथ मृता तथैव ।।
नेमिनि० १३।३८

महाराज विक्रमादित्य षष्ठ के सम्मान में की गयी है। इसका रचना-काल ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।[1] अट्ठारह सर्गों से युक्त इस महाकाव्य का अङ्गी रस वीर है। राजकुमारी चन्दलदेवी के सौन्दर्य-वर्णन विवाहानन्तर दोनों की शृङ्गार-लीलाओं, मधुपान आदि प्रसङ्गों में शृङ्गार रस का भी चमत्कार-पूर्ण परिपोषण हुआ है।

विक्रमाङ्कदेव के चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें करुण रस का सम्यक् परिपोषण प्राप्त होता है। राजकुमार विक्रमादित्य दिग्विजय करने के लिए विभिन्न देशों में जाते हैं। वहीं पर अपनी बाईं आँख के फड़कने से उन्हें अनिष्ट की शङ्का होने लगती है। वह अधीर हो उठते हैं। कुछ ही क्षणों में एक दूत आकर राजकुमार को युद्धक्षेत्र में उनके पिता आहवमल्ल की मृत्यु का समाचार सुनाता है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार विक्रमादित्य शोकातिरेक से विह्वल हो उठते हैं। वह बिलख-बिलख कर रोने लगते हैं। शोकावेग से राजकुमार की अस्थिर मनःस्थिति से उनके परिजनों के मन में यह आशङ्का उत्पन्न हो जाती है कि कहीं वह आत्महत्या न कर बैठें। अतः वे राजकुमार से उनकी छुरी छीन लेते हैं।[2] राजकुमार विक्रमादित्य अपने पिता के शौर्य की स्मृति से और भी विक्षिप्त हो उठते हैं। वह अपने पिता की मृत्यु से शेषनाग इत्यादि को भी असहाय समझने लगते हैं और उनके प्रति

१- कं०सा०इ०(कीथ), पृ० १६२

२- इत्युक्त्वा विरते तत्र कृतनेत्राम्बुदुर्दिनः ।
कृताक्रन्दैः पार्श्वस्थैः आक्रन्दगलकन्दलः ।।
स्वभावादार्द्रभावेन पितृस्नेहाच्च तादृशः ।
तथा रुरोद वपुषा प्रस्पष्टलुठितेन सः ।।

विक्र०च०, ४।६६,७०

सहानुभूति प्रकट करते हुए कहने लगते है कि "हे कूर्मराज, हे शेषराज ! जब मेरे पिता जी जीवित थे तब इस धरा को धारण करने में वह तुम्हारी सहायता किया करते थे, किन्तु अब उनके न रहने से इस पृथ्वी का समस्त भार अकेले तुम्हें ही वहन करना पड़ेगा, जिससे तुम्हारा सारा मांस सूख जायगा और केवल अस्थिपंजर ही अवशिष्ट रह जायेगा।"[1] शोकावेग के कारण राजकुमार का उन्माद इस सीमा तक बढ़ जाता है कि वह पुरुषार्थ और प्रताप जैसे अमूर्त पदार्थों को भी सम्बोधित करने लगता है। वह कहता है कि "हे पुरुषार्थ ! महाराज आहवमल्ल के बिना तू अब क्या करेगा ? हे प्रताप ! तू अपने आश्रय (मेरे पिताजी) के न रहने से ही दुःखी हो रहा है।"[2] महाराज आहवमल्ल की मृत्यु से विधाता की एक अपूर्व रचना ही नष्ट हो गयी है। राजकुमार विक्रमादित्य बिलख-बिलख कर कहता है कि "मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अब कोई दुर्बुद्धि विधाता उत्पन्न हो गया है, अन्यथा प्राचीन विधाता इतने क्लेश से निर्मित आहवमल्ल के रूप में अपनी कृति को कैसे नष्ट कर डालता।"[3] अपने पिता की मृत्यु का दोषी वह अपने आप को ही समझता है। इस विपत्ति की घड़ी में राजकुमार को अपने भाई सोमदेव का स्मरण हो रहा है और वह

१- तातादिकूर्म कर्माणि निर्णोधन्त्यि सुखस्थितिम् ।
प्रयाति शेष निश्चीणावस्थिपञ्जरशेषताम् ।।
वही, ४।७४

२- तद्बाहुदण्डविश्लेषे किं पौरुष करिष्यसि ।
प्रतिपालकविधुरात् प्रताप परितप्यसे ।।
वही, ४।७८

३- अपूर्वः कोऽपि दुर्वेधाः ज्ञातो वेधाः समुत्थितः ।
पुराणः क्लेशनिष्पन्नां स्वकृतिं नाशयेत्कथम् ।।
वही, ४।८१

इसी विचार में निमग्न है कि जब अपने पिता की मृत्यु के समय वह भी उनके समीप न था तब अकेले सोमदेव ने उस दारुण दुःख को किस प्रकार सहन किया होगा ।[1]

यहाँ आहवमल्ल की मृत्यु से राजकुमार विक्रमादित्य शोकाकुल हो रहे हैं । अत: करुण रस के आश्रय वही हैं । महाराज आहवमल्ल आलम्बन हैं । दूत से उनकी मृत्यु के समाचार का श्रवण तथा उनके वीर कर्म उद्दीपन विभाव हैं । राजकुमार का विलाप, भू-लुण्ठन, अपने पिता के शौर्य का वर्णन करना, आदि कर्म और शेषनाग के प्रति सहानुभूति प्रकट करना, अपने भाग्य को कोसना इत्यादि अनुभाव हैं । ये सभी उपादान चिन्ता, विषाद, वितर्क, ग्लानि, निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से शोक स्थायी भाव को रस रूप में वर्णनायोग्य बना रहे हैं ।

विक्रमादित्य और जयसिंह के बीच भीषण युद्ध होता है । विक्रमादित्य के द्वारा आहत सङ्गमा के अनेक योद्धा कालकवलित हो जाते हैं । उन्हें मृत देखकर उनकी स्त्रियाँ बिलख-बिलख कर विलाप करने लगती हैं । उन्हें यह विश्वास ही नहीं हो पा रहा है कि उनके अप्रतिम शूरवीर पति इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं । वे अपने पतियों को उपालम्भ देती हुई कहने लगती हैं कि " हे स्वामिन् ! कपट छोड़ो । आप मूर्च्छा का बहाना करके नेत्रों को बन्द किए हुये क्यों पड़े हैं । हे वीर ! इस समय आपके स्वामी की सेना पराजित हो रही है, तथापि आप इसकी उपेक्षा

१- आर्येण सोऽमुनार्विक्रमावनेन सहा कथम् ।
अयं विपाकदावाग्निरसह्यत मया विना ।।

वही, ४।८६

कर रहे हैं । आप के लिए यह उचित नहीं है ।[1] "हे प्रियतम ! यह तो हम जानती ही हैं कि स्वर्ग में (आप जैसे) पुरुष दुर्लभ हैं । अत: स्वेच्छाचारिणी देवाङ्गनायें (उन्हें प्राप्त करने के लिए) यहाँ आती हैं । तो भी क्या हुआ ? इस प्रकार हमारा अनादर तो न कीजिये । हमसे कुछ बातचीत तो कीजिए ।[2] वीराङ्गनाओं को अपने पतियों की मृत्यु का विश्वास न होने के कारण वे उन्हें दु:खाभिभूत होकर भाँति भाँति से उपालम्भ देती हुई कहती हैं कि "हे वीर ! आप हम लोगों के समीप श्वास रोक कर इसलिए पड़े हुए हैं, क्योंकि अप्सराओं का चुम्बन करने से आपके श्वास में जो सुगन्ध उत्पन्न हो गयी है, आप उसे हमसे छिपाना चाहते हैं।"[3] सभी वीराङ्गनायें आत्मनिन्दा करती हुई अपने-अपने भाग्य को कोस रही हैं । वीरस्त्रियों को यह भ्रम हो जाता है कि उनके वीर पति सुराङ्गनाओं को प्राप्त करने के लिए ही उन्हें छोड़ कर स्वर्ग लोक को जा रहे हैं । अत: वे ईर्ष्या से तिलमिला उठती हैं और अपने पतियों के प्रति कटूक्तियों का

१- अयि नाथ विमुञ्च कैतवं किमु मूर्च्छामभिनयसि दूरी ।
न तवायमुपेक्षितुं क्षण: कुरुष्ट स्वाभिमुपराम्भम् ॥

वही, १५।७९

२- पुरुषा: सुरधाम्नि दुर्लभा-
स्तदिहायान्ति निलिम्पयाकुला: ।
अलमेतदुपाधिनामुना
मयि कामिन्यवधीरणेन ते ॥

वही, १५।८०

३- विदितं यदयं विगाहते
कुरुष्ट स्वाससमीरगोपनम् ।
सुरनारसुरभिचुम्बनाधिक
ते नूतनमस्ति सौरभम् ॥

वही, १५।८१

प्रयोग करती हुई कहती है कि "आप सुराङ्गनाओं के लोक को जाना चाहते हैं तो अवश्य जायें, किन्तु आप मेरी सेवा का विस्मरण तो न करें । वे सुराङ्गनायें हमारे समान आप की सेवा कभी न कर सकेंगी[1]

यहाँ शूरवीरों को मृत देखकर उनकी स्त्रियों के हृदय में शोक उद्बुद्ध हो रहा है, अतः वीराङ्गनायें ही आश्रय हैं । मृत योद्धा आलम्बन हैं । उनके घात-विघात शरीर उद्दीपन विभाव हैं । वीराङ्गनाओं का विलाप, उनका अश्रुपात, आत्मनिन्दा, अपने पतियों को उपालंभ देना, अपने भाग्य को कोसना इत्यादि अनुभाव हैं । ईर्ष्या, ग्लानि, चिन्ता, दैन्य, वितर्क, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं । इन सभी उपादानों से परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव करुण रस रूपता को प्राप्त कर रहा है ।

<u>दशावतारचरित</u>

दशावतारचरित के रचयिता क्षेमेन्द्र का संस्कृत साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । इनका समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है ।[2] दशावतारचरित का कथानक पुराणों से लिया गया है । स्तोत्र काव्यों की परम्परा में विरचित इस महाकाव्य में भगवान् विष्णु के इन दस अवतारों का वर्णन है— (१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह,(४)नृसिंह,

---

१- चलितोऽपि सुराङ्गनाभुवं
मम सौभाग्यविपर्ययावधि ।
किमु विस्मरसि स्मरातुर
प्रभुसम्मानमिहान्यदुर्लभम् ॥ वही, १५।६३

२- H.C.S.L., p.171.

(५) वामन, (६) परशुराम, (७) राम, (८) कृष्ण, (९) बुद्ध, (१०) कल्कि । इस महाकाव्य में केवल धार्मिक आदर्शों की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति तथा इतिवृत्तकथन मात्र ही नहीं है, अपितु इसमें अनेक साहित्यिक विशेषताओं का भी समावेश किया गया है । महाकाव्यों के परम्पराप्राप्त नियमों का निर्वहण करने के लिये इसमें ग्रामवर्णन,[1] पशु-पक्षीवर्णन,[2] सरोवरवर्णन,[3] वनवर्णन[4] आदि उपलब्ध होते हैं । दशावतारचरित में स्तवन तथा आराधन के अतिरिक्त विष्णु के अवतारों से सम्बद्ध विभिन्न घटनाओं का वर्णन हुआ है, अत: इसमें शृङ्गार, रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों का भी यथावसर प्रयोग उपलब्ध होता है । इसमें कुछ स्थानों पर करुण रस का भी हृदयावर्जक परिपाक हुआ है ।

युद्धभूमि में लक्ष्मण के द्वारा मेघनाद का वध कर दिया जाता है जैसे ही यह समाचार रावण को प्राप्त होता है, उसका धैर्य छूट जाता है और वह विशाल पर्वत की भाँति पृथ्वी पर गिर जाता है[5] ।

इसी प्रकार कुम्भकर्ण की मृत्यु का समाचार भी उसके लिए हृदय विदारक है । अपने अनुज और पुत्र से वियुक्त होकर वह अपने जीवन से

१- द०च०, ८।१४१-१४६

२- वही, ८।९१

३- वही, ७।८६-९३

४- वही, ७।७६-८१

५- श्रुत्वैतदुग्राशनिपाततुल्यं
शोकेन निर्भिन्नधृतिर्दशास्य: ।
व्याप्त: स्फुटद्भूमि: कटकाग्ररत्नै:
पपात कल्पान्त इवाञ्जनाद्रि: ॥
वही, ७।२४६

विमुख हो जाता है और मृत्यु को ही कल्याणकारी समझने लगता है[1]।
अपने स्वजनों के शवों से बिछी हुई रणभूमि को देखकर रावण का हृदय उद्वेलित हो उठता है। अब उसे अपने जीवन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह अपने मरण की इच्छा करने लगता है[2]।

यहाँ पर रावण आश्रय है। कुम्भकर्ण, मेघनाद तथा अन्य स्वजन आलम्बन हैं। इन योद्धाओं के क्षत-विक्षत तथा प्राणहीन शरीर उद्दीपक हैं। रावण के द्वारा विलाप करना, उसका मूर्च्छित, प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत हो जाना इत्यादि अनुभाव हैं और चिन्ता, दैन्य, विषाद, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

दशावतारचरित में करुण रस का एक अन्य प्रसङ्ग अभिमन्यु वध के अवसर पर प्राप्त होता है। चक्रव्यूह में फँस कर महावीर अभिमन्यु की मृत्यु हो जाती है। अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर अर्जुन अत्यन्त व्यथित हो उठते हैं और पुत्रवधजन्य शोक को सहन न कर सकने के कारण

१- भ्राता सुतेन कलितोपमदर्पणेन
पुत्रेण सर्वगुणसद्गुणमण्डलेन ।
मानेन जीवितमणिना रहितस्य जन्तोः
किं जीवितेन शितशल्यशलाचितेन ॥
वही, ७।२४८

२- प्राप्तस्ततः समरभूमिमभग्नमानो
भृत्यानुजात्मजनिकृत्तशरीरपूर्णाम् ।
लङ्केश्वरः प्रभुविषादभरक्रमेण
विश्रान्तये निजवपुःत्यजनाकाङ्क्षी ॥
वही, ७।२४६

मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।[1]

यहाँ पर अर्जुन आश्रय और अभिमन्यु आलम्बन हैं। अभिमन्यु के वीरतापूर्ण कर्म उद्दीपक हैं। अर्जुन का व्यथित होना, भूमि पर गिरना आदि अनुभाव हैं और चिन्ता, विषाद इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी उपादानों से परिपुष्ट होकर अर्जुन के हृदय में उद्बुद्ध होने वाला शोकस्थायी भाव करुण रस के रूप में आस्वाद योग्य बन गया है।

दशावतारचरित के प्रस्तुत प्रसङ्ग में करुण रस का सङ्केत अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ पर उसका वैसा परिपाक नहीं हो सका है जैसा कि इसी प्रसङ्ग में महाभारत में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र ने कथा के संक्षिप्तीकरण को ही अपना प्रधान उद्देश्य बना रखा था, सम्भवत: इसीलिए रससंयोजना की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया था।

चन्द्रप्रभचरित

चन्द्रप्रभचरित अट्ठारह सर्गों में निबद्ध एक जैन महाकाव्य है। इसके रचयिता वीरनन्दि हैं।[1] इनका समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[2] चन्द्रप्रभचरित की कथा का उपजीव्य उत्तरपुराण

१- हत्वा त्रिगर्तनाथात: सव्यसाची विनिर्जये।
मुमोह तनयं श्रुत्वा हतमेकं महारथै:।।

वही, ८।७०५

२- जै०सा०इ०, पृ० ४८५

है जिसके चौवनवें पर्व में चन्द्रप्रभ के सात भवों का वर्णन किया गया है। चन्द्रप्रभ आठवें जैन तीर्थङ्कर थे । चन्द्रप्रभचरित में चन्द्रप्रभ के पूर्व भवों का वर्णन किया गया है, जो इस काव्य की विशेषता है । इस प्रकार का वर्णन जैनेतर महाकाव्यों में उपलब्ध नहीं होता है । चन्द्रप्रभचरित के प्रारम्भिक पन्द्रह सर्गों में चन्द्रप्रभ के भिन्न छः अतीतभवों का वर्णन है, वे हैं— श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, अजितसेन, अच्युतेन्द्र, पद्मनाभ तथा अहमिन्द्र । महाकाव्य के अन्तिम तीन सर्गों में चन्द्रप्रभ के वर्तमान भव का वर्णन किया गया है । इस महाकाव्य में संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार सरोवर, सागर, उद्यान, पर्वत, ऋतु, सूर्य, चन्द्र, युद्ध, जलक्रीडा आदि विषयों का वर्णन किया गया है । इस काव्य के सभी सर्गों के अन्तिम पद्यों में 'उदय' शब्द का प्रयोग होने के कारण इसे 'उदयाङ्क' भी कहा जाता है ।[1]

अन्य जैन महाकाव्यों की भाँति चन्द्रप्रभचरित का अङ्गीरस शान्त है क्योंकि इसमें काव्य के माध्यम से जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है और ग्रन्थ की समाप्ति नायक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति से हुई है । साथ ही इसमें प्रसङ्गानुसार शृङ्गार,[2] वीर,[3] रौद्र[4],

---

१- इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये - - - सर्गः । च० च० .

२- वधूपलोकनविलोभितलोचनाया:
कस्याश्चिदुद्ग्रथितनीविनितम्बबिम्बे ।
ऐक्षक भिन्दुरुचिरं वसनान्तरीयं
स्वैदाम्बुबुद्धिमपरिस्खलितं ररक्ष ।। वही, ७।८३

३- कृत्वा युद्धं परिकरं विनिवार्य दूरे
सामन्तलोकमिममाह्वयते तमेकः ।
यो ऽभ्युन्नमय्य करमुन्नतपूर्वकाय-
स्तत्सम्मुखं प्रचुररोषवशादधावत् ।। वही, ११।८६

४- अथ तेन परिप्रणम्य मुक्तः
सह भावानुगेण राजसुतः ।
निपपात मनोरथाभिधाने
सरसि प्रीतिभरात्मजकके ।। वही, ६।१

बीभत्स[1] आदि रसों की संयोजना की गयी है ।

चन्द्रप्रभचरित के पञ्चम सर्ग में चन्द्ररुचि नामक एक असुर के द्वारा चन्द्रप्रभ का अपहरण कर लिया जाता है । इस प्रसङ्ग में करुण रस का सम्यक् परिपाक हुआ है । राजकुमार के अपहरण कर लिये जाने पर महाराज अजितञ्जय सभा में राजकुमार को न देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं । अजितञ्जय को यह विश्वास ही नहीं हो रहा है कि उनके पुत्र का अपहरण कर लिया गया है । उन्हें अपने प्रिय पुत्र के बिना सभा सूनी-सूनी सी लगने लगती है । वह पुत्र-वियोग से विह्वल होकर विलाप करते हुए कहते हैं कि "हे मेरी गोद और भुजाओं में लालित पुत्र ! तुम मुझे इस प्रकार असहाय बनाकर कहाँ चले गये हो । शीघ्र ही मुझे दर्शन दो, क्योंकि तुम्हारे बिना मैं अपने प्राणों को धारण भी नहीं कर सकता हूँ[2] । अपने दुःखावेग के कारण महाराज अजितञ्जय के मन में यह आशङ्का उत्पन्न हो जाती है कि उनका प्रिय पुत्र उनसे रूठकर कहीं चला गया है और वह अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए कहने लगते हैं कि मैंने तो तुमसे उस समय भी कोई अप्रिय बात नहीं कही, जब तुम अपना ही अहित करने वाली बाल क्रीडाएँ किया करते थे । फिर तुम मुझसे अकारण ही रूठ कर

१- बभौ मांसोपदंशाढ्यान्सौम्याल्लेलिहान् ।
डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः ।।
वही, १५।५३

२- प्रविधाय भवाहृशं सहसा
क्व मदङ्कपोर्लालित यासि गतः ।
लघु देहि दर्शनमहं हि विना
भवतावितुमुत्सहे न सत् ।।
वही, ५।५८

विरक्त क्यों हो गये हो ?[1] 'अति स्नेहः पापशङ्की'। महाराज के हृदय में अपने पुत्र के विषय में नाना प्रकार की आशङ्कायें उत्पन्न होने लगती हैं। वह व्याकुल होकर अपने पुत्र के द्वारा की गयी अपनी उपेक्षा का कारण जानने के लिए आतुर हो उठते हैं।[2] महाराज अजितञ्जय पुनः विलाप करते हुए अपने पुत्र से कहते हैं कि यदि वह उनसे रूठ गया है, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु वह अपनी ममतामयी माता से इस प्रकार रूठकर क्यों चला गया है।[3] अपनी व्याकुलता का वर्णन करते हुए स्वयं महाराज अजित जय कहते हैं कि उनके पुत्र-वियोग में उनका शरीर सूख कर लकड़ी हो रहा है और अब वह मृत प्राय हो रहे हैं।[4] अपने पुत्र के बिना महाराज

१- अपि कुत्र लालनविधावहितेऽ-
प्यमनोहरं तमयथाभिहितम् ।
न कदाचिदप्यसकृत्प्रणये
किमकारणं मयि विरक्तिमगाः ।।
वही, ५।५६

२- वचनामृतैः श्रुतरसमिदं
कुरु पूर्णमुत्कर्णयोर्युगलम् ।
अनिमन्धनाकुलशङ्कितया
स्फुरतीदमेव पितरमाकुलितम् ।।
वही, ५।६०

३- यदि वा कुतश्चिदपि कारणतो
मयि वत्स तेऽजनि निरादरता ।
अनिमित्तमेव रहिता किमिमां
जननीं प्रति प्रकृतिवत्सलता ।।
वही, ५।६१

४- दिनमद्य मे गलमुत्कमतो
शरणोऽज्झितोऽथ मम बन्धुजनः ।
अभवदुःसहवियोगभवतु-
तनुरेवयष्टिरवशेष मृतः ।।
वही, ५।६४

अभितञ्जय के लिए उनका यश, सुख, ऐश्वर्य तथा तेज— सब कुछ व्यर्थ प्रतीत होने लगता है।[1] प्रत्येक शोकाकुल मनुष्य के समान वह भी अपने सभी दुःखों का कारण अपने पापकर्मों को मानते हैं। अतः उनका हृदय आत्म-ग्लानि से भर जाता है और वह रो रो कर आत्मनिन्दा करने लगते हैं।[2] उस समय उन्हें समस्त संसार शोकमग्न दिखाई पड़ता है और वह अपने अपहृत पुत्र की स्मृति में बिलख बिलख कर उससे इन राजाओं को सान्त्वना देने के लिए कहते हैं।[3]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में महाराज अभितञ्जय आश्रय हैं। युवराज चन्द्रप्रभ आलम्बन है। उसका सुन्दर मुख मधुर वचन इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं।

१- यशसः सुखस्य विभवस्य तथा
महसस्त्वमेव मम हेतुरभूः ।
व्रजता त्वया सुतमृगाक्षण तत्
व्यपहस्तितं सकलमेकपदे ।। वही, ५।६८

२- ललितभ्रूलोचनयुगं वदनं
स्मितमुतिमुति वचो मधुरम् ।
भवदीयमङ्गतदङ्गणमयान्यम
वाष्पभिः स्मरणगोचरताम् ।। वही, ५।६६

३- निजमङ्गुदुर्व्यसनदुःखचितं
शरणीकृतं प्रविलपन्तमिमम् ।
अपि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः
सुजनं कुरुष्व नृपमङ्गलमयम् ।। वही, ५।६६

महाराज अविलञ्जय का मूर्च्छित होना, आत्मनिन्दा करना, विलाप, प्राणोत्सर्ग के लिये उद्यत होना आदि अनुभाव हैं । व्यभिचारी हैं दैन्य, विषाद, चिन्ता, वितर्क, जड़ता, निर्वेद आदि । इन सब उपादानों से परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव करुण रस के रूप में आस्वाद्य हो गया है ।

पार्श्वनाथचरितम्

पार्श्वनाथ के रचयिता कवि वादिराज दिगम्बर जैन मुनि थे । यह उच्चकोटि के तार्किक होने के साथ प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे । इस दृष्टि से इनकी तुलना नैषधकार श्रीहर्ष से की जा सकती है । वादिराज की उपाधियां थीं— षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादी ।[१] एकीभावस्तोत्र के अन्त में एक पद्य उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार समस्त वैयाकरण, तार्किक आदि वादिराज की समता नहीं कर सकते हैं ।[२] एक शिलालेख के अनुसार यह सभा में जैन अकलङ्कदेव, बौद्ध धर्मकीर्ति, बृहस्पति, चार्वाक और नैयायिक गौतम के समान थे । इससे सिद्ध होता है कि वादिराज अनेक धर्मगुरुओं के प्रतिनिधि थे ।[३] मल्लिषेण की प्रशस्ति में

१- षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापति गळु जगदेकमल्लवादि गळु एनिसिद श्री वादिराजदेवरूम - - - -

द्रष्टव्य - ती०म०आ०प०, पृ० ८६

२- वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः ।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ।।

ए०भा०स्तोत्र, पृ० ५१

३- सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः ।
इति समयगुरूणामेकतः सङ्गतानाम्
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ।।

द्रष्टव्य- ती०म०आ०प०, पृ० ८६

इन्हें वादिविजेता और कवि कहा गया है । इन्हें जिनेन्द्र के समान शक्तिशाली वक्ता और चिन्तक भी कहा गया है।[1] कुछ विद्वानों के अनुसार कवि का नाम कनकसेन था और वादिराज उनकी उपाधि थी,[2] किन्तु इस मत के समर्थन में प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं ।

पार्श्वनाथचरित के अन्त में ग्रन्थकार की जो प्रशस्ति दी गयी है उसके अनुसार वादिराज सिंहपुर के निवासी त्रैविद्यविद्येश्वर उपाधिधारी श्री पालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर मुनि के शिष्य तथा लोक-विश्रुत दयापाल मुनि के सतीर्थ थे । पार्श्वनाथचरित की रचना इन्होंने चालुक्य राज जयसिंह के शासनकाल में शक संवत् ९४८ में की थी।[3] वादिराज का चालुक्यराज

१- त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह ।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः ।।
वही।

२- य०च० (धारवाड़ संस्करण) भूमिका, पृ० ५

३- श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थ-
नित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः ।
प्रसिद्धमानो मुनिपुङ्गवेन्द्रैः
श्री नन्दिसङ्घोऽस्ति निवारितांहाः ।।
तस्मिन्नभूद्भूपतसंयमश्री-
त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः
श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ।।
तस्याभवद्भव्यसरोजभानोः
रूपोपरी नित्यमहोदयश्रीः ।
निर्धौतदुर्मार्गनयप्रभावः
शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ।।
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना
निश्चेयसोरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा
जैनी स्वबुद्ध्येयमनिर्दयापि ।।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जयसिंह के आश्रय में रचना इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि उन्होंने यशोधरचरित में दो स्थानों पर जयसिंह के नाम का सङ्केत किया है।[1]

पार्श्वनाथचरित के अतिरिक्त इनकी तीन अन्य कृतियाँ भी मानी जाती हैं— यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र और काकुत्स्थचरित । इनमें से पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थचरित का उल्लेख उन्होंने यशोधरचरित में अपनी रचनाओं के रूप में किया है।[2] यशोधरचरित का अध्ययन प्रस्तुत

शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥
लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरसमुधास्यन्दसिन्धुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥
अन्यः श्रीजिनदेवजन्मविभवव्यावर्णनाहारिणः
श्रोता यः प्रचरत्प्रमोदमधुरो व्याख्यानकारी च यः ।
सोऽयं मुक्तिवधूनिरर्गलमुदा वाचित किं केवल-
स्थानश्रीर्द्रुपयाति बाहुयुगलसल्लक्ष्मीपदश्रीपदम् ॥

पा०च०(प्रशस्तिपद्य) १-७

1- (क) राजा सोऽपि यशोमतिः प्रविलसत्साम्राज्यलक्ष्मीपतिः
कुर्वन्काव्यकलाकथाप्रभृतिभिः सन्तर्पितं मन्त्रिभिः ।
सन्तुष्यन्नमुतेन नृपस्वविधिना श्रीवेषविभाणवि-
ख्यातिन्त्यजयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम् ॥
य०च०, ३।८५

(ख) गुरुषु जिनमुनीषु बन्धुषु प्रेमबन्धं
रिपुषु करुणाणां दर्शयन्नाश्रितेषु ।
अधिगतनयसिन्धुः सत्यसन्धः स राजा
रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार ॥ वही, ४।७३

2- श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम् ।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा ।
वही, १।६

प्रबन्ध में किया जायेगा । एकीभावस्तोत्र निर्णयसागर मुद्रणालय से काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में प्रकाशित हुआ है, किन्तु काकुत्स्थचरित अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है ।

वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित बारह सर्गों का एक महाकाव्य है । पोदनपुर के अरविन्द नाम के एक राजा थे । एक समय वज्रवीर नामक शत्रु महाराज अरविन्द का विरोध करना प्रारम्भ कर देता है । उसे पराजित करने के लिये अरविन्द के साथ मरुभूति भी जाता है । तब उसका ज्येष्ठ भ्राता कमठ मन्त्रिपद पर नियुक्त कर दिया जाता है । युद्ध में विजय महाराज अरविन्द की होती है । कालान्तर में मरुभूति की मृत्यु हो जाती है । अरविन्द स्वयंप्रभ मुनिराज से मरुभूति के सम्बन्ध में पूछते हैं । मुनिराज से मरुभूति के वज्रघोष नामक हाथी के रूप में जन्म लेने की सूचना पाकर अरविन्द को वैराग्य हो जाता है और वह मुनिव्रत धारण कर लेते हैं । वज्रघोष हाथी के रूप में उत्पन्न मरुभूति पुन: रश्मिवेग के रूप में जन्म लेते हैं । अपने पूर्व जन्म का स्मरण करके रश्मिवेग को वैराग्य हो जाता है । हिमालय की गुफा में तपश्चर्या करते हुए उनकी मृत्यु एक अजगर के डसने से हो जाती है, जिससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है और वे विद्युत्प्रभ के नाम से प्रसिद्ध होते हैं । अश्वपुर नगर के शासक वज्रवीर्य के पुत्र रूप में विद्युत्प्रभ पुन: जन्म लेते हैं । अब उनका नाम वज्रनाभ पड़ जाता है । एक दिन आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति की सूचना पाकर वज्रनाभ दिग्विजय के लिये निकल पड़ते हैं । विद्याधर को पराजित कर वह विद्याधर कुमारियों से विवाह कर लेता है । वह पुन: अश्वपुर में वापस आ जाता है । एक दिन वज्रनाभ वन में वसन्त की शोभा देखने के लिए जाता है । कुछ समय पश्चात् वसन्तश्री को समाप्त हुआ देखकर वज्रनाभ को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह तपस्या करने लगते हैं । वह तपश्चर्या में लीन ही हैं कि उनकी मृत्यु एक किरात के बाण से हो जाती

है । मुनिराज अयोध्या के राजा वज्रबाहु के पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं । उनके जन्म से प्रजा के आनन्दित हो उठने से उनका नाम आनन्द पड़ जाता है । आनन्द विनयज्ञ आरम्भ करते हैं । कुछ समय पश्चात् अपने एक श्वेत केश को देखकर उन्हें वैराग्य हो जाता है और तपस्या में लीन हो जाता है । वहाँ एक सिंह के द्वारा पुनः वध हो जाता है । वाराणसी के महाराज विश्वसेन की रानी ब्रह्मदत्ता सोलह स्वप्न देखती है, जिसके परिणामस्वरूप वह जिनेन्द्र को जन्म देती है । उनका नाम पार्श्वनाथ पड़ जाता है । युवा होने पर उनके विवाह के प्रस्ताव आने लगते हैं, किन्तु वह विवाह करना अस्वीकार कर देते हैं और विरक्त होकर तपश्चर्या करने लगते हैं । उन्हें इसी जन्म में मोक्ष प्राप्ति होती है ।

पार्श्वनाथचरित में महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं । महाकाव्य में बारह सर्ग हैं और उसका प्रारम्भ मङ्गलाचरण से किया गया है । उसमें महाकाव्य में अपेक्षित सभी प्रकार के वर्णन हैं। प्रस्तुत महाकाव्य का अङ्गी रस शान्त है, किन्तु अङ्ग रूप में शृङ्गार,[१]

१- (क) कथाग्निसर्गं जनजन्मिधौ प्रिये-
नेत्रद्वयी यत्र विविच्य केवलम् ।
वदन्ति लीलावलितैर्विलोकितैः
स्मरोपदिष्टं किमपि स्वकुड्मलम् ।।

(ख) कुर्वी कथाचिज्जिन्निशयन्त्या
तदङ्गयोरस्तुतमप्रवाहात् ।
न्यधायि जाताग्नि मन्मथस्य
समिद्धामाग्निमनेकमुष्मौ ।।

पा०च०, ४।६४, ८।१६

वीर,[1] भयानक,[2] रौद्र[3] आदि रसों का नियोजन किया गया है।

पार्श्वनाथचरित के द्वितीय सर्ग में दो स्थलों पर करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कमठ के द्वारा तपस्वियों के व्रत ग्रहण कर लिये जाने पर उसका अनुज मरुभूति उसके वियोग में विह्वल हो उठता है।

१- (क) गुप्ताम्बुतलमात्रस्थग्राम्यदिमितामिद्धुगलम् ।
कस्वाम यदीच्छा ते शातोदाकुहरोदरम् ॥

(ख) केनानीत्स्वक्रियन्दैलाचाकदे व्यपुजम् ।
दण्डरत्नपरस्पूर्णमिभिद्वीत गुहान्तिकम् ॥

वही, ७।६५, १२०

२- (क) त्वरया गिरिराजसन्निभ:
स निवेशे वणिजां समभ्रमत् ।
क्षुभिताणवितोयदु:स्थता
कुलमीतिर्वनसेहतिर्यथौ ॥

(ख) मथनुन्नतया समुच्चरन्
समुदन्तं वनताध्वनिर्यथौ ।
बकुलीभवनाय बोधितान्
स्वयमाक्रन्दमिवाट्टकिलान् ॥

वही, ३।६६, ६७

३- (क) तद्दृष्ट्वासमपीद्गीर्णक्रोधघूर्णितलोचन: ।
प्रोचत्ककहाध्मानं प्रहस्यैवमथाकथयत् ॥

(ख) व्यभाच्चुरुज्ज्वला लक्ष्मीर्यत: प्रथितोन्नते: ।
सौदामिनीव जीमूतात् कस्य समया पृथक्क्रिया ॥

वही, ७।५४, ५९

उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ज्येष्ठ भ्राता (कमठ) के वियोग के दुःख को सहन न कर सकने के कारण मरुभूति सन्तप्त हो उठता है और उसे संसार के भोगों से वितृष्णा हो जाती है।[1]

यहाँ पर मरुभूति आश्रय और कमठ आलम्बन है। कमठ का प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना उद्दीपन तथा मरुभूति का सन्तप्त होना, विषयों के प्रति अनिच्छा व्यक्त करना आदि अनुभाव है। इसमें निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

इसी प्रसङ्ग में भ्रातृ-शोक से विह्वल मरुभूति महाराज अरविन्द से करुण स्वर में निवेदन करते हैं कि "हे महाराज। यद्यपि मेरा अग्रज (मेरी पत्नी के अपहरण का) अपराधी है, तथापि मैं उसके वियोग से उत्पन्न दुःख को सहन नहीं कर सकता हूँ, इसलिए (आप यदि आज्ञा दें, तो) मैं उसे पुनः आपके सम्मुख ले आऊँ, क्योंकि है तो वह आपका सेवक ही।[2]

१- चिरे गते ज्येष्ठवियोगदुःख-
भाराज्जनमत्वाभिव विप्रयोगे।

चिराय तस्य प्रतिकुकुटे-
र्मे भोगकाङ्क्षा वधुरिन्द्रियार्थाः ।।

वही, २।६२

२- असौ वियोगं न सहे दुरन्तं
कृतागसोऽपि स्वयमग्रजस्य।
पुनः करिष्यामि तवान्तिके तं
प्रसादतो देव। तवैष भृत्यः ।।

वही, २।८२

यहाँ आश्रय मरुभूति तथा आलम्बन कमठ है । कमठ का नगर-निर्वासन उद्दीपन है । अनुभाव के रूप में मरुभूति का कमठ को पुनः वापस बुलाने के लिए महाराज अरविन्द से निवेदन करना है । दैन्य, विषाद, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव हैं । इनसे परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव करुण रसरूपता को प्राप्त हो गया है ।

यशोधरचरित

यशोधरचरित के नाम से अनेक रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से अधिकांश संस्कृत पद्य में हैं । मानदेवेन्द्र का यशोधरचरित प्राकृत भाषा में है[1] और दामाकल्याण का यशोधरचरित संस्कृत गद्य शैली में लिखा गया है ।[2] इनके अतिरिक्त संस्कृत पद्य में रचित यशोधर चरित के रचयिता हैं— प्रभंजन, वादिराज, मल्लिषेण, माणिक्यसूरि, वासवसेन, पद्मनाभ कायस्थ, देवसूरि, भट्टारक सकलकीर्ति, भट्टारककल्याणकीर्ति, भट्टारक सोमकीर्ति, भट्टारक पद्मनन्दि, भट्टारक श्रुतसागर, नेमिदत्त, क्षेमसुन्दर उपाध्याय, ज्ञानदास, पद्मसागर, भट्टारक वादिचन्द्र, भट्टारक ज्ञानकीर्ति और पूर्णदेव ।[3] इनमें से वादिराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी है । अन्य कवियों का समय या तो बारहवीं शताब्दी के बाद है अथवा अज्ञात है, इसीलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेच्य महाकाव्य वादिराजविरचित यशोधरचरित है ।

यशोधरचरित चार सर्गों का एक लघुकाव्य है । इस दृष्टि से इसका विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध की परिधि से परे कहा जा सकता है किन्तु ग्रन्थकार

१- जै०सा०बृ०इ०(भाग 6), पृ० २८३
२- वही।
३- वही।

ने अन्तिम तीन सर्गों की पुष्पिका में इसे महाकाव्य कहा है,[१] इसीलिए यहाँ पर करुण रस की दृष्टि से उसका अध्ययन करना उपयुक्त प्रतीत होता है । इस काव्य के रचयिता ने किन्हीं पूर्वाचार्यों का उल्लेख न करके केवल समन्त, भद्र आदि कहकर छोड़ दिया है ।[२]

यशोधरचरित की कथा संक्षेप में इस प्रकार है । राजपुर नरेश मारिदत्त चण्डमारी देवी को प्रसन्न करके उससे लोकविजय करने वाले खड्ग को प्राप्त करने के लिये देवी के मन्दिर में सभी प्रकार के प्राणियों के जोड़े की बलि देना चाहता है । इसी प्रसङ्ग में नरनारी रूप में बलि देने के लिए अभयरुचि और अभयमती पकड़ कर लाये जाते हैं । वे दोनों सहोदर भाई-बहन हैं । उन्हें देखकर मारिदत्त करुणाभिभूत हो उठता है और उनसे उनका परिचय पूछता है । वे दोनों अपने जन्म का परिचय न देकर अपने पूर्वभवों की कथा बतलाते हुए कहते हैं कि वे उसी मारिदत्त के भान्जा-भान्जी थे । अभयरुचि बलि के लिये लाये गये जीवों को देखकर हिंसा की निन्दा करता है । यही नहीं, वह वह कथा भी सुनाता है, जिसमें उनके पूर्वज जीवित मुर्गे की नहीं, अपितु आटे के मुर्गे की बलि देकर उसे खाने के कारण विभिन्न जन्मों में नाना प्रकार के दारुण फलों का भोग करते आये हैं ।

१- इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते यशोधरचरिते महाकाव्ये - - - - ।
वही।

२- श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः सन्ततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥
वही, १।३

महाकाव्य में इस कथा की प्रधानता के कारण इसका अङ्गी रस तो शान्त ही है, किन्तु इसमें शृङ्गार,[1] वीर,[2] बीभत्स,[3] करुण आदि रसों का भी सुन्दर रूप में परिपाक हुआ है ।

करुण रस का एक सुन्दर प्रसङ्ग वहाँ पर है जहाँ महाराज मारिदत्त चण्डमारी देवी को एक कृत्रिम कुक्कुट की बलि देते हैं । वह जैसे ही उस कुक्कुट की बलि देने के लिए उसके ऊपर खड्ग से प्रहार करते हैं, वैसे ही उसका मस्तक कट कर अलग गिर जाता है । इसे देखकर मारिदत्त शोकाकुल हो उठते हैं।[4] और इस शोक के परिणामस्वरूप वह पश्चाताप करने

१- वही, २।२७-३०

२- अयं च युद्धे रिपुवीरघाती
खड्गः कथंक त्वयमने निपात्यः ।
इत्थं गुह्यं निर्दलितोस्मयं
न कैरवे यातु हरिः प्रयुङ्क्ते ।। वही, २।५६

३- आस्वादितं दुःखपूतिगन्धि
निर्मीतोऽङ्गी परिभुग्नपुच्छम् ।
सन्निबन्धमविशुद्धमस्य नास्ति
ग्रीवा शिरस्यास्तु विलग्नशीर्णा: ।। वही, २।३६

४- किञ्चिच्चलन्तारमुदीरितार्थ
मुखमस्तकमीक्ष्य पतन्तम् ।
खड्गमुष्टिमवमुच्य शुशोच
क्लेशकृत्खलु खलामविवेकः ।। वही, ३।२७

लगते हैं ।[1]

वहाँ पर महाराज मारिदत्त आश्रय, कुक्कुट आलम्बन, उसका कटा हुआ मस्तक उद्दीपन, खड्ग को फेंक देना, पश्चात्ताप करना अनुभाव और ग्लानि इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं । इन सब से परिपुष्ट होकर महाराज मारिदत्त का शोक उसी प्रकार करुण रस में परिणत हो गया है, जिस प्रकार क्रौञ्चयुगल में से एक की मृत्यु को देखकर महर्षि वाल्मीकि का हृदय करुणाभिभूत हो उठा था ।

<u>रामचरित अथवा रामपालचरित</u>

रामचरित अथवा रामपालचरित भी एक ऐतिहासिक श्लेष काव्य है । इसके रचयिता सन्ध्याकरनन्दी हैं । इनका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता है ।[2] इसके चार परिच्छेदों में दाशरथी राम और कवि के आश्रयदाता वङ्गाधिपति रामपाल के चरित का श्लेषमय वर्णन है। कवि का उद्देश्य अपने आश्रयदाता के जीवनचरित का वर्णन करना था, किन्तु उन्होंने वैदुष्य प्रदर्शन के लिए अयोध्याधिपति राम के जीवनचरित का

१- हा हतोऽस्मि कुक्कुटमृतमत्या
हा हतोऽस्मि विनयेन जनन्याः ।
हा गतोऽस्मि नरके चिराय
हा गतोऽस्मि भवजन्मवनेषु ॥
कृत्रिमः क्व पुनरेष पतत्री
क्वाशिवाप्तपरिदेवनशब्दः ।
हन्त दुर्गतिविधुरमुना मा
मुद्गना नियतमाकुलयतीव ॥ वही, ३।२८,२९

२- H.C.S.L., p. 268.

भी वर्णन कर दिया है । राम के जीवन की उन्हीं घटनाओं का वर्णन किया गया है, जिनका साम्य रामपाल के जीवनवृत्त से है । इन प्रसङ्गों में मुख्य है— उनके जन्म, शत्रुओं के साथ युद्ध तथा उनका वध इत्यादि ।

सन्ध्याकरनन्दी विरचित रामचरित में आलङ्कारिकों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते हैं । उदाहरण के लिये इसमें केवल चार 'परिच्छेद' हैं, जबकि महाकाव्य में आठ अथवा उससे अधिक सर्ग होना अनिवार्य है।[1] महाकाव्य के भागों के लिये सर्ग शब्द ही रूढ़ है परिच्छेद नहीं ।[2] इसके अतिरिक्त रामचरित में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन और सागरों का समुचित वर्णन भी नहीं किया गया है, जो कि महाकाव्य में आवश्यक माना गया है।[3] इसी प्रकार महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए,[4] किन्तु सर्गान्त में भिन्न छन्द का निबन्धन आवश्यक है । रामचरित में इनमें से किसी नियम का पालन नहीं किया गया है । इसके प्रत्येक छन्द में आदि से अन्त तक आर्या छन्द का ही प्रयोग किया गया है । इस प्रकार यद्यपि रामचरित में महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण घटित नहीं

१- नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।

साहित्य०, ६।३२०

२- अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ।।

वही, ६।३२५

३- सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।।

वही, ६।३२२

४- एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।

वही, ६।३२०

होते हैं, तथापि कृष्णमाचार्य आदि विद्वान् इसको महाकाव्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इसमें महाकाव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण उपलब्ध होते हैं। इसमें एक ही वंश (पाल) में उत्पन्न होने वाले अनेक राजाओं का वर्णन किया गया है। इसके नायक रामपाल धीरोदात्त गुणसमन्वित हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक वृत्त पर आश्रित है तथा इसमें अङ्गीरूप में वीर रस का परिपोषण हुआ है।

रामचरित का एक स्थल करुण रस का उत्कृष्ट उदाहरण है। रामपाल, पक्षान्तर में राम, के गोलोकवासी हो जाने पर समस्त पुरवासी शोकाकुल होकर विलाप करने लगते हैं।[1]

यहाँ पर करुण रस के आश्रय हैं पुरवासी। रामपाल तथा राम आलम्बन विभाव हैं, उनका महाप्रयाण उद्दीपन विभाव है। पुरवासियों का विलाप अनुभाव है। चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से शोकस्थायी भाव रसनीयता को प्राप्त कर रहा है।

राघवपाण्डवीय

राघवपाण्डवीय द्व्याश्रय काव्यों की परम्परा का ही एक महाकाव्य है। इसके रचयिता कविराज हैं। इनका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि कविराज इनकी उपाधि थी

१- जनताते रुदति कुशावासन(यो) गाहुय लब्धवति पुण्यम् ।
विरहसकपारिवनेनुं विनाई रामो जगाम स स्वसुतम् ॥
रा०च०(कवि०), ४।१०

२- सं०सा०इ० (कीथ), पृ० १७१

और उनका वास्तविक नाम था माधवभट्ट[1] । कविराज के आश्रयदाता कादम्बवंशीय महाराज कामदेव थे । उन्होंने अपने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में कामदेव शब्द का प्रयोग भी किया है , जिससे उनके काव्य को `कामदेवाङ्क ' कहा जाता है । राघवपाण्डवीय के तेरह सर्गों में रामायण और महाभारत की कथाएं साथ-साथ वर्णित हैं। इस परम्परा के काव्यों में कवि का ध्यान श्लेषालङ्कार की योजना में ही अधिक रहता है, अत: उनमें रस का सम्यक् परिपोषण तो सम्भव ही नहीं है, फिर भी रस के बिना काव्य के अस्तित्व की कल्पना ही न हो सकने के कारण इसमें भी वीर आदि रसों का यत्किञ्चित् परिपोषण उपलब्ध होता है। इन रसों में प्रधानता वीर रस की ही है, किन्तु यथावसर अन्य रसों का भी सङ्केत प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग करुण रस का भी उपलब्ध होता है। राम-वन-गमन के अवसर पर अयोध्यावासी और पक्षान्तर में हस्तिनापुर को छोड़कर युधिष्ठिर इत्यादि के चले जाने पर दोनों नगरों के निवासी अत्यन्त शोकाकुल हो उठते हैं । उनके नेत्रों में इतने अश्रु उमड़ पड़ते हैं, जिनको प्रवाहित करने में उनके दो नेत्र समर्थ नहीं हो रहे हैं[2] ।

करुण रस का एक अन्य प्रसङ्ग वहाँ पर उपलब्ध होता है जहाँ पर

१- वही.

२- अपीडरत्नाभरणं रथेन
निर्यान्तमेतं नगरान्निरीक्ष्य ।
विमोक्तुमश्रुणि चिरं जनाना-
मासीन्न पर्याप्तमिवाक्षियुग्मम् ।।

रा०पा०, ३।२६

सीता, पक्षान्तर में द्रौपदी अपने शरीर से रत्नाभरणों को उतार कर वन गमन के लिये मार्ग पर निकल पड़ती है । उस समय उनकी कान्ति वैसी प्रतीत होती है, जैसे मेघों के समूह से निकली हुई विद्युल्लता । उन सीता, पक्षान्तर में द्रौपदी, को वन मार्ग में जाते हुए देखकर, जिनका दर्शन कभी सूर्य देवता को भी सुलभ न हो पाता था, नगरनिवासियों के नेत्रों से धारा प्रवाहित होने लगती है, जिससे सम्पूर्ण राजमार्ग गीला हो जाता है । शोकातिरेक के कारण नगरनिवासियों का कण्ठ बाष्प-गद्गद् हो उठता है ।[1]

करुण रस के उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गों में आश्रय हैं पुरवासी । राम, युधिष्ठिर, सीता तथा द्रौपदी आलम्बन हैं । उनका आभूषण विहीन शरीर उद्दीपन विभाव है । अनुभाव है पुरवासियों का रुदन, अश्रुप्रवाहित करना और कण्ठ का बाष्प-गद्गद् हो जाना। चिन्ता, दैन्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं ।

नैषधीयचरित

नैषधीयचरित संस्कृत के पांच महाकाव्यों में से एक है । इसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति कालिदास, भारवि और माघ से भी अधिक है । इसी

---

१. निरस्तरत्नाभरणापि गेहाद्
विनिर्गता सा नियमेन भाता ।
विद्योतयामास नरेन्द्रमार्गं
तडिल्लता मेघविनिर्गतेव ।।
बाष्पाम्बुसम्क्षालितराजमार्गैः
सगद्गदव्याकुलसाधुवादैः ।
व्यलोकि सा पौरजनैरसूर्य-
म्पश्यापि सम्प्रतिनगरं व्रजन्ती ।। वही, ३।३३, ३४

चमत्कार-बाहुल्य के कारण नैषध को "विद्वदौषधम्" कहा जाता है। यह बाइस सर्गों में निबद्ध महाकाव्य है, जिसमें महाभारत के नलोपाख्यान की कथा वर्णित है। इसमें नलोपाख्यान के केवल एक अंश का ही वर्णन है। नल और दमयन्ती के पूर्वानुराग से महाकाव्य का प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति नल की राजधानी में कलि के उद्भव से हो जाती है। इतनी संक्षिप्त कथावस्तु को महाकवि ने बाइस सर्गों के बृहद् महाकाव्य का रूप दे दिया है। इससे महाकवि की कल्पना-शक्ति और वर्णन-प्रवणता का परिचय मिलता है। महाकवि श्रीहर्ष की स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है, तथापि अधिकांश विद्वान् इन्हें ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानते हैं।[१]

नैषधीयचरित का अङ्गी रस शृङ्गार है। इसमें शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण प्राप्त होता है। नल और दमयन्ती के विवाह के पश्चात् संयोग शृङ्गार का भी उदात्त वर्णन हुआ है। प्रसङ्गानुसार इसमें वीर, रौद्र आदि रसों की भी संयोजना की गयी है।

करुण रस का मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग वहाँ पर प्राप्त होता है, जहाँ पर उपवन-विहार करते हुए महाराज नल के द्वारा एक स्वर्णिम हंस पकड़ लिया जाता है। पक्षियों के स्वभाव के अनुरूप पहले तो वह विविध प्रकार से अपने आपको उनके करपञ्जर से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह महाराज नल को काट भी लेता है, किन्तु उसके सभी प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। सब ओर से अपने को असहाय पाकर वह निषधाधिपति के सम्मुख रो-रो कर अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करने लगता है। ऐसे समय में उसे अपनी वृद्धा माता, नवयौवना पत्नी और नवजात शिशुओं

१- H.C.S.L., p.178

का स्मरण होने लगता है। वह अपनी इस दारुण अवस्था के लिये विधाता को उपालम्भ देते हुए कहता है कि "मैं अपनी माता का एकमात्र पुत्र हूँ। वह वृद्धावस्था से अत्यन्त क्षीण हो गयी है। बेचारी पत्नी को क्या कहूँ? वह तो अभी-अभी प्रसववती हुई है। इन दोनों का एक-मात्र अवलम्ब मैं ही हूँ। मुझे इस प्रकार विपत्ति में डालते हुए हे विधाता! तुम्हें दया क्यों नहीं आ रही है?"[1] हंस विधाता को और भी धिक्कारता हुआ कहता है कि "हे ब्रह्मन्! यह कैसा विरोध है। आपने अपने जिन करकमलों के द्वारा मेरी प्रियतमा के कोमल और सुधा-शीतल बाहुओं का निर्माण किया है, उन्हीं हाथों से आपने मेरे ललाट में यह सन्तप्त करने वाला लेख कैसे लिख दिया कि 'तुम्हें अपनी प्रियतमा से वियुक्त होना पड़ेगा'।"[2] हंस की यह उक्ति कितनी यथार्थ है कि "मेरे सभी सुहृज्जन कुछ समय तक शोकाकुल रहेंगे, विधाता को बुरा-भला कहेंगे, किन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् उन्हें मेरा स्मरण भी न आयेगा, किन्तु अयि जननि! तुम मेरे वियोग से उत्पन्न शोक के पारावार को कैसे पार कर सकोगी"[3]। उसे अपनी प्रियतमा

१- मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दय-
न्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि न।।
नै०च०, १।१३५

२- अयी विधातस्त्वयि पाणिपङ्कजा-
त्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता
लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा।।
वही, १।१३८

३- सुहृत्सु मात्रे च न निन्दया दया-
ऽऽस्ताः स्ताय: क्षणमश्रुणो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तर-
स्त्वयैव मातः! सुतशोकसागरः।।
वही, १।१३६

की स्मृति अत्यन्त शोकाकुल कर रही है । वह कहता है कि 'अयि प्रिये ! जब तुम अन्य पक्षियों से यह पूछोगी कि तुम्हारे लिए सन्देश और मृणाल लेकर मेरे आलयी में अभी कितनी दूर है तब वे पक्षी रोने लगेंगे । उस समय उन रोते हुए पक्षियों को देखकर तुम्हारी क्या दशा होगी '[१] । यद्यपि इस समय स्वयं हंस के प्राण संकट में पड़े हुए हैं, तथापि उसे अपने प्राणों से अधिक चिन्ता है अपने कर्तव्य का पालन न कर सकने की । वह एक ओर माता के स्नेह और पत्नी के प्रेम के कारण छटपटा रहा है, तो दूसरी ओर कर्तव्य को पूरा न कर सकने का दु:ख भी उसके लिए असह्य हो रहा है । उसे विश्वास है कि उसके वियोग में उसकी प्रिय पत्नी जीवित नहीं रह सकती है, अत: वह अपनी पत्नी को सान्त्वना देते हुए कहता है कि 'अयि सुन्दरि ! यदि मेरे वियोग से तुम्हारा हृदय विदीर्ण हो जायगा और तुम मर जाओगी, तब तो मेरी द्विविध मृत्यु ही समझो । एक तो मैं तुम्हारे वियोग में मर जाऊँगा और दूसरे तुम्हारे शिशुओं के न रहने से भी मैं मृततुल्य हो जाऊँगा'[२] । अपने परिवार के भावी सर्वनाश की कल्पना से हंस सिहर उठता है । वह कहता है कि 'अयि प्रियतमे ! मेरे शिशु अनेक मनोरथों के पश्चात् अत्यन्त विलम्ब से प्राप्त हुये हैं । अभी तो

१- मदर्थसन्देशमृणालमन्थर:
प्रिय: कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिण:
प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षण: ।। वही, १।१३७

२- ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा
त्वया विचित्राङ्गि विपद्यते यदि ।
तदास्मि दैवेन हतोऽपि हा हत:
स्फुटं यतस्ते शिशव: परासव: ।। वही, १।१४०

उनके नेत्र भी नहीं खुले सके हैं । हाय ! तुम्हारे अभाव में भूख से तड़प-तड़प कर वे अपने नीड़ों में ही प्राण दे देंगे'[1]। अन्त में वह अपने शिशुओं को भी सम्बोधित किये बिना नहीं रहता है । वह कहता है कि 'हे बच्चो! अब तुम चूं चूं करके किसे बुलाया करोगे और किसकी ओर अपने कम्पित मुखों को खोला करोगे ?'[2] ऐसा कहते कहते वह मूर्च्छित हो जाता है और उसकी मूर्च्छा तभी टूटती है जब वह महाराज नल के अश्रुओं से सिक्त हो जाता है ।

यहाँ पर हंस आश्रय है । हंस की माता, पत्नी और उसके बच्चे आलम्बन विभाव हैं । इन सब के रुदन, इनकी संकटापन्न अवस्था तथा इन सबकी मृत्यु की कल्पना उद्दीपन विभाव है । हंस के द्वारा विलाप करना, दैव को उपालम्भ देना, अपनी माता, पत्नी इत्यादि के सम्बन्ध में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करना, मूर्च्छा इत्यादि अनुभाव हैं । दैन्य, जड़ता, चिन्ता, वितर्क, विषाद इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं । इन सबके संयोग से परिपुष्ट होकर शोक स्थायीभाव करुण रस के रूप में वर्णनीय हो रहा है ।

१- तवापि हा हा विरहात्क्षुधाकुलाः
कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथै-
र्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥
वही, १।१४१

२- सुताः ! कमाहूय चिराय चूङ्कृतै-
र्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः
स्रुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः ॥
वही, १।१४२

(ग) सिंहावलोकन

पूर्व पृष्ठों में जिन महाकाव्यों का विवेचन करुण रस की दृष्टि से किया गया है, उनका वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

१- रामकथा पर आश्रित महाकाव्य

२- महाभारत पर आश्रित महाकाव्य

३- पौराणिक महाकाव्य

४- ऐतिहासिक महाकाव्य

५- बौद्ध और जैन महाकाव्य

६- द्व्याश्रय महाकाव्य

रामकथा पर आश्रित विवेच्य महाकाव्य हैं— रघुवंश, भट्टिकाव्य, जानकीहरण और रामचरित । इन सब महाकाव्यों में रामायण की ही किसी न किसी घटना का वर्णन है, किन्तु इन सब की प्रतिपादन शैली में भिन्नता है । इस भिन्नता का कारण है भिन्न-भिन्न महाकाव्यों के रचयिताओं के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य । उसके अतिरिक्त देश और काल ने भी इन रचनाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया था ।

रघुवंश के रचयिता कालिदास रसध्वनिवादी कवि थे । वह एक ऐसे महाकवि थे जिनके समान महाकवि संस्कृत साहित्य में दो-तीन अथवा पाँच-छः ही थे ।[१] वह वैदर्भी रीति के महाकवि थे । यही कारण है कि उनके

१- अस्मिन्नतिविचित्रपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः - - - - -

ध्वन्या०, १।६ वृत्ति

महाकाव्य में इतिवृत्त तथा अलङ्कारयोजना की अपेक्षा प्राधान्य रस का ही है। उनके रघुवंश में रामायण के सभी रघुवंशीय राजाओं का वर्णन है। रामकथा पर आश्रित महाकाव्यों में जो करुण रस के स्थल हैं, उनमें भी शैलीगत विशेषताएं स्पष्ट हैं। इसके लिये सर्वप्रथम श्रवण वध के प्रसङ्ग को लिया जा सकता है। महाकवि कालिदास ने पति-पत्नी विषयक करुण पर विशेष बल दिया है। यही कारण है कि रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर जितना विलाप अज करते हैं, उतना विलाप श्रवण वध पर उनके वृद्ध माता-पिता नहीं करते हैं। रामायण में वाल्मीकि ने श्रवण वध के प्रसङ्ग में उनके वृद्ध माता-पिता के शोक का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है, किन्तु महाकवि कालिदास ने उसे बहुत ही संक्षेप में चित्रित किया है। रामायण और रघुवंश में श्रवणवध के समाचार से श्रवण के माता-पिता ही विलाप करते हैं, किन्तु जानकीहरण में यह विलाप स्वयं श्रवण कुमार के द्वारा किया जाता है। रामायण और रघुवंश में श्रवण के वृद्ध पिता के द्वारा दशरथ को शाप दिया जाता है, जो उनके भावी जीवन में फलीभूत हो जाता है। जानकीहरण में ऐसी कोई बात नहीं है। वहाँ पर श्रवण कुमार केवल अपने माता-पिता की दयनीय स्थिति तथा दशरथ के बाणों से विद्ध होने के कारण अपनी विवशता का ही वर्णन करते हैं। जानकीहरण की इस मौलिकता का कारण सम्भवतः यह है कि किसी व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपनी दीनता का जो वर्णन किया जाता है उसकी अपेक्षा किसी अन्य के द्वारा किया गया वैसा ही वर्णन अत्यधिक प्रभावोत्पादक होता है।

विलाप

मैथिलीचरित का ईस जानकीहरण के इस वर्णन से मिलता जुलता है। जिस प्रकार जानकी-हरण में श्रवणकुमार महाराज दशरथ की भर्त्सना यह कहकर करते हैं कि आपने मेरा वध सम्भवतः मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने के उद्देश्य से किया है। यदि वास्तव में यह बात है तो आप मेरा

जीर्ण पट, छाल से बना हुआ वस्त्र और मूँज-की-मेखला ले लें,[1] उसी प्रकार श्रीहर्ष का हंस भी महाराज नल की भर्त्सना करता हुआ कहता कि 'आपके तृष्णा-कवलित मन को धिक्कार है। आपने तो मेरे स्वर्णपक्षों को देखकर ही उन्हें ग्रहण करने के लिए मेरा वध कर डाला है, किन्तु बताइये तो मेरे इन पक्षों से आपकी कितनी समृद्धि हो जायेगी'[2]। जानकी-हरण में श्रवणकुमार महाराज दशरथ से अपने वध का कारण जानने के लिए कहते हैं कि 'मेरे किस दोष को देखकर आपने मुझे अपने बाण का लक्ष्य बना डाला है। मैं तो केवल वनों में मृगों के साथ विचरण किया करता था, अपने वृद्ध और अन्धे माता-पिता का भरण-पोषण करता था और वन के फल-मूल खाकर अपनी जीविका का निर्वाह किया करता था'[3]। श्रीहर्ष का हंस भी महाराज नल की भर्त्सना कुछ ऐसे ही

१- जीर्णो बहुन्यायनिरुद्धरन्ध्रः
कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलश्च ।
स्थलेषु वन्यां विनिहित्य गम्ये
तद्गृह्यतामस्तु भवान्कृतार्थः ॥
जा०ह०, १।८१

२- धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः
समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरै-
र्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥
नै०च०, १।१३०

३- वनेषु वासी मृगयूथमध्ये
क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः ।
वृत्तिश्च वन्यैः फलकेषु पोषः
कस्मात्ततः को मयि जातदोषः ॥
जा०ह०, १।७८

शब्दों में करता है । वह कहता है कि "हे राजन् ! मैं तो मुनियों के समान कमलों के फल-मूल से ही अपना जीवन निर्वाह किया करता था, किन्तु आज आप ने मेरा भी वध कर डाला है । आप जैसे पति से यह पृथ्वी लज्जित क्यों नहीं हो रही है ।[1] जानकीहरण में कुमारदास के द्वारा श्रवणकुमार के मुख से अपने माता-पिता की दयनीय स्थिति का वर्णन सहृदय पाठकों के हृदय का जितना स्पर्श करता है, उतना रामायण तथा रघुवंश में वर्णित वही प्रसङ्ग नहीं कर पाता है ।

राम कथा पर आश्रित भट्टिकाव्य में भी करुण रस के कतिपय प्रसङ्ग हैं अवश्य, किन्तु उनमें करुण रस का सम्यक् परिपाक नहीं हो सका है । इसका कारण यह है कि भट्टि का लक्ष्य पाणिनि व्याकरण के नियमों का ही प्रतिपादन करना था, आनुषङ्गिक रूप से उन्होंने महाकाव्य की रचना भी कर डाली थी । अभिनन्दकृत रामचरित की भी एक विशेषता है, जो राम कथा पर आश्रित अन्य महाकाव्यों से पृथक् है। रामायण और रघुवंश में स्त्री-पुरुषों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर दूसरे के विलाप का वर्णन है, किन्तु रामचरित में करुण रस का सर्वोत्कृष्ट वर्णन वह है , जहाँ पर बाणों के द्वारा विद्ध राम और लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव विलाप करते हैं । ऐसा करने में अभिनन्द का एक उद्देश्य तो मित्रता के आदर्श को प्रस्तुत करना रहा होगा । दूसरा उद्देश्य राम और लक्ष्मण की मूर्च्छा से सम्पूर्ण प्रकृति को शोकाभिभूत दिखाना भी

१- फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी हृणीयते ।। जैनह०, १।६३

था । राम और लक्ष्मण की इस दशा को देखकर जब पशुयोनि में उत्पन्न - सुग्रीव इतने शोकाकुल हो उठते हैं तब मनुष्यों के शोक का तो कहना ही क्या है?

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय अत्यधिक कोमल तथा द्रवणशील होता है । यही कारण है कि प्राय: सभी काव्यों में पुरुष की तुलना में स्त्री-विलाप अधिक उपलब्ध होता है । रामायण और महाभारत में स्त्री विलाप के अनेक मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग हैं । रामायण में राक्षसों के वध को देखकर राक्षसियों का विलाप है । दूसरी ओर लङ्काधिपति रावण की पत्नी मन्दोदरी का भी विलाप है । राक्षसियों का शोक और विलाप जितना उद्दाम है, उतना मन्दोदरी का नहीं । मन्दोदरी का चरित्र लङ्का की सभी स्त्रियों के लिये आदर्श है, इसलिये उसके विलाप में एक संयम है । वह अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती है । उसे पुन: पुन: अपने अतीत का स्मरण हो रहा है, जबकि वह अन्त:पुर से बाहर भी नहीं निकलती थी, किन्तु आज वह एक सामान्य स्त्री की भाँति पैदल चलकर रणस्थल तक पहुँच गयी है ।[1] राक्षसियों के विलाप में किसी प्रकार का संयम नहीं है, शोकाकुल होने के कारण वे अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर गयी हैं और वे अपने ऊपर आई हुई विपत्ति के लिए रावण की बहन शूर्पणखा को बुरा भला कहने में भी नहीं चूकती हैं ।[2]

१- दृष्ट्वा न खल्वभिक्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम् ।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवागतां प्रभो ।।
पश्येष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्ठनान् ।
बहिर्निष्पतितान्सर्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ।।
रामा०, ६।१११।६१,६२

२- कथं शूर्पणखा वृद्धा कराला निर्णतोदरी ।
आससाद वने रामं कन्दर्पसमरूपिणम् ।।
सुकुमारं महासत्त्वं सर्वभूतहिते रतम् ।।
तं दृष्ट्वा लोकवध्या सा हीनरूपा प्रकामिता ।।
वही, ६।९४।६,७

वाल्मीकि ने मन्दोदरी और राक्षसियों के विलाप में जो भेद रखा है, उसका कारण है स्वभावगत भिन्नता । मन्दोदरी मध्यम प्रकृति की नायिका है, इसलिये उसके रुदन और विलाप में मर्यादा है, जब कि राक्षसियां नीच प्रकृति की हैं, अत एव उनके विलाप में किसी प्रकार की मर्यादा नहीं है ।

महाभारत में भी स्त्रियों का विलाप वर्णित है । वहां पर इसका बाहुल्य स्त्रीपर्व में उपलब्ध होता है । इसमें उत्तरा-विलाप आदि लघु प्रसङ्गों को छोड़कर शेष स्त्रियों के विलाप की सूचना पाठक को गान्धारी के द्वारा ही प्राप्त होती है । भगवान् कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत होकर गान्धारी युद्ध में मृत योद्धाओं की पत्नियों के विलाप का वर्णन करती है । गान्धारी के मुख से कृष्ण के समक्ष इस विलाप का कारण सम्भवत: यह रहा होगा कि व्यास को इस जीवन की असारता को बतलाकर परम-पुरुषार्थ मोक्ष की स्थापना करना था । इसके लिये उन्होंने गान्धारी के द्वारा कृष्ण के समक्ष वीर पत्नियों के विलाप का वर्णन करके उन्हें (भगवान् कृष्ण को) यह अवसर प्रदान किया है कि वह शान्त रस का उपदेश दे सकें,जो कि महाभारत का काव्यार्थ है ।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द और बुद्ध की नायिकायें भी अपने-अपने पतियों के वियोग से शोकाभिभूत होकर विलाप करती हैं, किन्तु उन दोनों के विलापों में स्वभावजन्य भेद है । बुद्धचरित की यशोधरा धीरा नायिका है । वह पति के वियोग में रोती बिलखती अवश्य है, किन्तु वह अपनी अपेक्षा अपने प्रिय पुत्र राहुल के माध्यम से ही अपनी व्याकुलता अभिव्यक्त करती है । उसे इस बात का दु:ख तो है ही कि उसे अपने प्रियतम का दर्शन प्राप्त नहीं होगा, किन्तु उससे अधिक असह्य कल्पना उसके लिये यह है कि उसका अबोध बालक राहुल अपने पिता की गोद में क्रीडा न कर

सकेगा ।[1] इस प्रकार यशोधरा का चरित्र एक आदर्श गृहिणी का चरित्र है, जिसे अपनी कम, अपने आश्रितों की अधिक चिन्ता रहती है । इसके विपरीत सौन्दरनन्द की नायिका सुन्दरी एक अधीरा नायिका है । उसे लोक कल्याण की अपेक्षा अपनी चिन्ता अधिक है । अत: उसे यह सह्य नहीं है कि नन्द उसका परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण कर लें । वह नन्द के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कल्पना से ही बिलख-बिलख कर निर्जीव सी हो जाती है ।[2] महाकवि अश्वघोष का करुण जीवनशील मानव हृदय को ही द्रवित नहीं करता है, अपितु उसके प्रवाह में चराचर जगत् ही बहने लगता है । कुमार सिद्धार्थ को वन में छोड़कर आया हुआ अश्व कन्थक, राजप्रासाद को सिद्धार्थ से शून्य देखकर हिनहिनाने लगता है और उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है ।[3] यही नहीं, सिद्धार्थ के वियोग में

१- अभागिनी यद्यहमायतेदाणं
शुचिस्मितं भर्तुरुदीदितुं मुखम् ।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं
कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितु: ।।
बु०च०, ८।६७

२- सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि
वज्राग्निसंभिन्नदरी गुहेव ।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना
विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव ।।
सौन्दर०, ६।३३

३- विगाहमानस्य नरेन्द्रमन्दिरं
विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुषा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको
जनाय दु:खं प्रतिवेदयन्निव ।।

बु०च० , ८।१७

महाकवि अश्वघोष ने उत्प्रेक्षा का आश्रय लेकर प्रासादों को भी रुला दिया है।[१] बौद्ध तथा जैन कवियों ने काव्य के माध्यम से धर्म का उपदेश भी दिया है। प्रव्रज्या के लिए नन्द घर से निकल तो पड़ते हैं, किन्तु सुन्दरी की स्मृति उन्हें गृहस्थ धर्म की ओर आकृष्ट करती है और वह घर लौट जाने का सङ्कल्प कर लेते हैं। अपने इस सङ्कल्प के समर्थन में वह कहते हैं कि मन की स्थिरता के बिना परिव्राजकों के वेष को ग्रहण करना निरर्थक है।[२]

करुण रस के वर्णन में कहीं विभावों का प्राधान्य है, तो कहीं अनुभावों का। रामायण तथा महाभारत के युद्ध के प्रसङ्गों में युद्ध की विभीषिका को प्रस्तुत करने के लिये तथा उसका वास्तविक चित्रण करने के लिए इन काव्यों में उद्दीपन विभावों को ही प्रधानता दी गयी है। वहां पर युद्ध में हताहत योद्धाओं का जो वर्णन किया गया है, उससे शोक और भी उद्दीप्त हो जाता है। दूसरी ओर अश्वघोष ने करुण रस की अभिव्यक्ति के लिए अनुभावों को ही प्रधानता दी है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि यशोधरा और सुन्दरी की शोकाकुलता को अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने इन दोनों के अनुभावों का विस्तृत वर्णन किया है।

१- इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहव: ।
प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वना: ।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनै-
र्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तय: ।। बुद्ध, ८।३७

२- यास्यामि तस्माद्गृहमेव भूय:
कामं करिष्ये विधिवत्सकामं ।
न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य
लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्च्युतस्य ।। सौन्दर०, ७।४७

उदाहरण के लिये नन्द के द्वारा गृहत्याग करके निकल जाने पर सुन्दरी की विह्वलता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह रोती है, मलिन होती है, चिल्लाती है, इधर-उधर भटकने लगती है, ठगी सी खड़ी हो जाती है, विलाप करती है, चिन्ता करने लगती है, क्रोध करता है, हार को बिखरा देती है, मुख को काटने लगती है और वस्त्रों को फाड़ने लगती है।[1] यहाँ पर एक ही पद्य में जितने अनुभावों का वर्णन कर दिया गया है, उनसे सुन्दरी के अन्तर्द्वन्द्व और उनकी विह्वलता की अभिव्यक्ति हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न कवियों के देश, काल और व्यक्तित्व के अनुरूप उनके करुण रस के प्रतिपादन की शैली में भी कुछ न कुछ भेद अवश्य है।

१- रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ
बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
चकार रोषं विचकार माल्यं
चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ।। वही, ६।३४

अध्याय ७

करुणा रस—काव्यगत स्थिति

करुण रस — काव्यगत स्थिति

काव्य में रस की सत्ता प्राय: सर्वमान्य रही है । रस के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचार भरत के नाट्यशास्त्र में किया गया है, किन्तु उनका यह विचार नाट्य की दृष्टि से ही किया गया था । उनका कथन है कि "अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:"[1] । भरत ने आठ रसों में शृंगार, वीर, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स और अद्भुत की गणना की थी । उन्हें नाट्य में शान्त रस अभीष्ट नहीं था । शान्त को नवम रस सर्वप्रथम उद्भट ने माना था[2] । रसों की संख्या में आचार्यों ने निरन्तर वृद्धि करने का प्रयास किया है, जिसके फलस्वरूप प्रेयान्[3],

---

१- ना०शा०, ६।१५

२- शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका: ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता: ।।
का०सा०सं०, ४।४

३- स्नेहप्रकृति: प्रेयान्संगतशीलार्यनायको भवति ।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात् ।।
का०(रु०), १५।१७

वात्सल्य[1], भक्ति[2], लौल्य[3] आदि रसों को भी काव्य में स्थान दिलाने का प्रयास किया गया था । जिस प्रकार भारतीय संस्कृति विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित होती हुई भी यह विशेष रूप से अद्वैत को ही स्वीकार कर सकी, उसी प्रकार का प्रयास रसों के क्षेत्र में भी चलता आ रहा था । एक ओर आचार्य रसों की संख्या की वृद्धि में प्रवृत्त थे तो दूसरी ओर उनका यह प्रयत्न भी चल रहा था कि किसी एक ही रस को प्रकृत रस मानकर अन्य[4] रसों को उसी में समाहित कर दिया जाये । फलस्वरूप अभिनवगुप्त ने शान्त,

---

१- (क) अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सल:
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु: ।
स्थायी वत्सलता स्नेह: पुत्राद्यालम्बनं मतम् ।।
— सा०द०, ३।२५१

(ख) अन्ये तु करुणस्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च ।
— म०म०च०, पृ० १००

२- वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यै: स्वाद्यतां मधुरा रति: ।
नीता भक्तिरस: प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभि: ।।
— उ०नी०म०, १।३

३- सम्भवन्ति त्वपरेऽपि यथा — गर्द्धस्थायी लौल्य:
आर्द्रतास्थायी स्नेह: आसक्तिस्थायि व्यसनमरतिस्थायि
दु:खं, सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि ।
— ना०द०, पृ० १६३

४- भावा विकारा रत्याद्या: शान्तस्तु प्रकृतिर्मत: ।
विकार: प्रकृतेर्जात: पुनस्तत्रैव लीयते ।।
— ना०शा०, भाग १, पृ० ३३४

भोजराज ने शृङ्गार[१] और नारायण ने अद्भुत[२] को प्रमुख रस मानकर अन्यान्य रसों को तद्रस रसों की विकृतियों के रूप में स्वीकार किया था।

कालक्रमानुसार एक मूल रस की कल्पना का प्रयास सर्वप्रथम नाटककार भवभूति ने किया था। 'उत्तररामचरित' में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में उन्होंने तमसा के माध्यम से घोषणा की है—

> एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
> आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
> नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ।।[३]

एक करुण रस ही निमित्त भेद से उसी प्रकार विभिन्न रूपों को धारण कर लेता है, जिस प्रकार जल कभी आवर्त के रूप में, कभी बुद्बुद के रूप में तो कभी तरङ्गों के रूप में दिखाई पड़ने लगता है, किन्तु वास्तव में ये सब हैं एक ही जल के अनेक रूप।

करुण रस में हृदय सबसे अधिक आर्द्रता को प्राप्त होता है[४]।

१- रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते ।
यो ऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ।।
— स०कं०[illegible], ५।१

२- रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।।
— सा०द०३।२ वृत्ति [illegible]

३- उ०रा०च०, ३।४७.

४- माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ।
— ध्वन्या०, २।८

करुण रस में चित्त में जब द्रवणशीलता का सञ्चार होने लगता है, उस समय चित्त अपने आवेश रहित काठिन्य का परित्याग कर देता है, क्रोध आदि से उत्पन्न दीप्तरूपता का परित्याग कर देता है, विस्मय, हास आदि से उत्पन्न चित्त की रागावस्था (विक्षेप) का परित्याग कर देता है तथा पूर्णरूप से प्रकृष्टतम रूप में द्रवित हो जाता है।[1] जब तक हृदय उस रस रूप से परिपूर्ण नहीं होता, तब तक वह रस को काव्य रूप में नहीं छलकाता है।[2] शोक से अत्यन्त परिपूर्ण हो जाने पर ही अश्रु, दुःखपूर्ण वचन आदि हृदय के उद्गार के रूप में उसी प्रकार फूट पड़ते हैं जिस प्रकार जल से अत्यधिक भर जाने पर जल तड़ाग के सेतु-बन्ध को तोड़कर बाहर निकल जाता है।[3] इस प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर करुण रस ही मानव की सूक्ष्म भावनाओं के सर्वाधिक सन्निकट प्रतीत होता है। यह पराकाष्ठा तक मानव के अन्तस्तल का भेदन करने वाला और अलौकिक आनन्द की चर्वणा रूप है।[4]

१- सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः।

ध्वन्या० (लोचन), २।८

२- यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।

द्रष्टव्य—ध्वन्या०(लोचन), १।५

३- पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

उ०रा०च०, ३।२९

४- For it seems, the model and the supreme example of a complete attunement of heart, which poetry and drama effects, is certainly the attunement of hearts in Karuna.

N.R., page 165.

कवियों ने करुण के प्रति अपनी आस्था सदैव प्रकट की है।[1] लौकिक संस्कृत काव्य के जन्म के मूल में भी वाल्मीकि की करुणा ही थी, जिससे द्रवीभूत होकर उन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ की थी। कहा भी गया है कि हमारा मधुरतम संगीत वही है, जिसमें करुणा की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है।[2] आनन्दवर्द्धन ने भी रामायण को करुण रस-प्रधान प्रबन्ध काव्य स्वीकार किया है। इसमें प्रारम्भ से लेकर सीता के आत्यन्तिक वियोग पर्यन्त की कथा करुण रस की ही पुष्टि करती है।[3] अभिनवगुप्त ने भी करुण रस को रामायण काव्य की आत्मा माना है।[4] इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि केवल एकतम साहित्य ही नहीं, अपितु काव्य के उद्गम का स्रोत भी करुण रस ही है। यही विद्रुति अथवा संवेदना सभी मनोवेगों में मूल चेतना के रूप में विद्यमान रहती है। इस प्रकार अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस में हृदयावर्जकता का आधिक्य होता है। इन सभी वैशिष्ट्यों के आधार पर करुण रस को

१- The artistic mind has always shown a partiality for pathos. It is said that the sweetest songs are often songs of sorrow.

N.d., p.163.

२- Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.

P.B.Shelly.— To Skylark.

३- रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवं वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

ध्वन्या०, ४।५

४- एवं क्रौंचोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्छलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।

ध्वन्या०(लोचन), १।५

प्रधान रस माना जा सकता है । इसी दृष्टि से 'रसेषु करुणो रसः' उक्ति भी सर्वथा युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है ।

करुण रस को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट घोषित करने के लिए 'उत्तर-रामचरित' के टीकाकार वीरराघव का मत है कि शृङ्गार जैसे रस का अनुभव तो केवल रागी जन ही करते हैं; किन्तु करुण रस की अनुभूति तो रागी और विरागी दोनों ही समान रूप से करते हैं । अतः अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस श्रेष्ठ है तथा यही प्रकृतभूत रस है। व्यञ्जकविभावादि विशेषण के भेद से यही रस शृङ्गार हास्यादि में परिवर्तित हो जाता है[1]। वस्तुतः इस प्रकार के तर्क रस सिद्धान्त के महनीय तत्त्व साधारणीकरण पर खरे नहीं उतरते हैं । इस आधार पर तो बीभत्स और भयानक आदि रस स्वीकृत ही नहीं किये जायेंगे, क्योंकि वे न रागियों को अभीष्ट होंगे और न विरागियों को । वस्तुतः नाटक-प्रेक्षण अथवा काव्य-आस्वादन के समय सहृदय जन रागी और विरागी स्थिति से ऊपर उठ जाता है ।

भवभूति की उक्ति 'एको रसः करुण एव' के आधार पर करुण को मूल रस मानने में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि भवभूति से पूर्व और उनके परवर्ती काव्यशास्त्र के किसी आचार्य ने करुण को मूल रस क्यों नहीं माना?

१- करुण इष्टजनवियोगजन्यदुःखातिशयः । एक एव सन्नपि निमित्त-भेदात् व्यञ्जकविभावादिविच्छित्तिविशेषाद् भिन्नः विलक्षणः । पृथक् पृथग्विवर्तान् परस्परविलक्षणशृङ्गाराद्यात्मना परिणामान्। 'अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्तः' इति कपिलः । श्रयते भजते - - - इत्यत्र कवेर्मतम्— यद्यपि शृङ्गार एक एव रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम्, तथापि प्राचुर्याद् रागिविरागिसाधारण्यात् करुण एक एव रसः । अन्ये तु तद्विकृतयः इति ।

— द्रष्टव्य— N.R., page 165

२- र०सि०पु०स०,पृ० ११६

भरत के मत में मूल रस चार हैं— शृङ्गार, वीर, रौद्र और बीभत्स।
इनसे क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक रसों की उत्पत्ति हुई है।[1]
इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भरत को करुण की स्वतन्त्र सत्ता अभीष्ट
नहीं थी। परवर्ती आचार्यों ने भी उसे महाकाव्य अथवा नाटक आदि में
अङ्गी रस के रूप में कहीं नहीं स्वीकार किया है, फिर भवभूति का करुण
के प्रति इतना स्वारस्य क्यों?

इसके कदाचित् तीन कारण हो सकते हैं— एक तो भवभूति का
अपना गम्भीर स्वभाव जो जीवनगत कुण्ठाओं से अत्यन्त संवेदनशील हो गया
था, करुणरसोन्मुख था। डा० कीथ के अनुसार भवभूति ने सच्ची अन्तर्दृष्टि
से जीवन की कठिनाइयों और दुःखों को वस्तुतः पहचाना था। सम्भवतः
ऐश्वर्यहीनता और पर्याप्त राजकृपा के सुखोपभोग से वञ्चित होने के कारण
उनकी दृष्टि पैनी हो गयी थी[1]। दूसरे, उनके काव्य का मूल आधार थी—
रामकथा, जो वस्तुतः एक करुण कथा है— 'पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य
करुणो रसः'[2] और तीसरा कारण यह हो सकता है कि भवभूति ने
करुण को एक व्यापक अर्थ में लिया हो। करुण विप्रलम्भ और करुण
दोनों में बहुत कुछ परिस्थितियाँ समान होती हैं। दोनों में नायक नायिका
का वियोग होता है, दोनों एक दूसरे के लिए व्याकुल रहते हैं और दोनों
में समान रूप से विलाप और उद्विग्नता आदि के भाव रहते हैं। दोनों
में अन्तर केवल यह होता है कि करुणविप्रलम्भ में जहाँ एक ओर पुनर्मिलन
की आशा रहती है, वहाँ करुण में इसकी कोई सम्भावना नहीं रहती है।
दोनों में सबसे बड़ा भेद है स्थायी भाव का। करुणविप्रलम्भ का स्थायी
भाव रति है तो करुण का स्थायीभाव है शोक; किन्तु ऐसा प्रतीत होता

१- S.D. (Keith), page 197

२- उ०रा०च०, ३।१

है कि विरह से विह्वल दो प्रणयी जनों में भवभूति को रति की अपेक्षा शोक का अधिक अनुभव हुआ होगा और इसीलिए उन्होंने करुणाविप्रलम्भ को शोक स्थायी भाव से उद्भूत करुण रस के अकरण रख दिया होगा ।

'उत्तररामचरित' के अङ्गी रस के सम्बन्ध में सहृदय आलोचकों में बहुत मतभेद है । कुछ आलोचक इसका प्रधान रस करुण मानते हैं तथा कुछ विप्रलम्भ शृङ्गार मानते हैं—

'अत्र करुणाविप्रलम्भाख्य एव रसः प्रधानं, सीतायाः शरीरपरिहारस्य दृढ सम्भावनया विकलीभूतस्य श्रीरामचन्द्रस्य दैवाधिकरुणावशात् पुनर्मिलनसम्भवात्, तथा च यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये'[1] ।

किसी भी काव्य में नायक अथवा नायिका में से जब किसी एक के आत्यन्तिक वियोग का वर्णन होता है तभी सहृदयों को करुण रस की अनुभूति होती है । जैसे वाल्मीकि रामायण में नायक राम का नायिका सीता के साथ आत्यन्तिक वियोग होता है । अतः सभी आचार्यों ने उसमें एक स्वर से करुण रस माना है, किन्तु 'उत्तररामचरित' के अन्तिम अङ्क में राम और सीता का पुनर्मिलन दिखाया गया है तथा नाटक को सुखान्त परिणति प्रदान की गई है । अतः 'उत्तररामचरित' में अङ्गीरस करुण विप्रलम्भ शृङ्गार माना जायगा, करुण रस नहीं ।

इस सन्दर्भ में नाटक के अन्तर्गत भवभूति का वह कथन भी ध्यान देने योग्य है जहाँ उन्होंने करुण को ही एक मुख्य रस माना है । ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने करुण और करुणाविप्रलम्भ में कोई सीमा रेखा नहीं खींची थी, जैसा कि काव्य शास्त्र में किया गया है । इसीलिए

१- उ०रा०च० की उत्तरदीपिका टीका, पृ० २१-२२

एक मत यह है कि 'एको रस: करुण एव' इत्यादि में प्रयुक्त करुण शब्द भवभूति के द्वारा चित्त के द्रवीभावरूप सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और रस शब्द भी भाव सामान्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, व्युत्पन्न रस के अर्थ में नहीं।[१]

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में जीवन का चरम लक्ष्य सुख ही है। उसमें दु:ख का कोई अवकाश नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर भवभूति ने अपने नाटक का कथानक यद्यपि करुण रस प्रधान रामायण से लिया है, तथापि उन्होंने उसे अपनी कल्पना से सुखान्त बना दिया है। भवभूति जैसे नाटककार से यह आशा तो नहीं की जा सकती थी कि उनका उद्देश्य करुण रस प्रधान नाटक की रचना करना रहा होगा, किन्तु उनके प्रमादवश उसकी परिणति करुणविप्रलम्भ में ही गई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति को यह सह्य नहीं था कि वह राम और सीता को एक दूसरे के लिए तड़पता हुआ छोड़ देते। इसीलिए उन्होंने नाटक के अन्त में इन दोनों का पुनर्मिलन करा दिया है। यहाँ पर एक बात यह भी विचारणीय है कि वाल्मीकि ने यथार्थ कथा का वर्णन किया था, इसीलिए उनके काव्य की समाप्ति करुण से हुई है, किन्तु कवि अथवा नाटककार प्रसिद्ध कथावस्तु को लेकर उसमें अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। यही कारण है कि भवभूति ने जानबूझकर अपने नाटक की समाप्ति

१- 'एवमिदं वक्तुं न दुष्करं यत्करुणशब्द: भवभूतिना चित्तस्य द्रवीभावात्मके सामान्यार्थे प्रयुक्त: न तु रसार्थे। रसशब्दस्य यथावसरं भावसामान्ये न तु व्युत्पन्ने रसार्थे।' उत्तररामचरिते -हृदीरस: -

— P.A.I.O.C., 1969, p.427

राम और सीता के पुनर्मिलन से करायी है । फलत: 'उत्तररामचरित' का अङ्गीरस करुण विप्रलम्भ मानना ही उचित होगा ।

यहाँ पर किसी संस्कृत आलोचक की यह उक्ति भी विचारणीय है— 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'।

'तन्' धातु का प्रयोग विस्तार अर्थ में किया जाता है । इसलिए उपर्युक्त उक्ति का अभिप्राय यह होगा कि भवभूति ने ही कारुण्य का विस्तार किया है, अन्य किसी कवि ने नहीं । विस्तार करने का अभिप्राय यही है कि भवभूति ने ही कारुण्य में प्रकृतिभाव स्वीकार करके अन्य रसों को उसकी विकृति मात्र माना है । इस कथन के पीछे भवभूति का यह प्रसिद्ध पद्य ही रहा होगा—

> एको रस: करुण एव निमित्तभेदाद्
> भिन्न: पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
> आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
> नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ।।[१]

प्रस्तुत पद्य के अनुसार भवभूति को प्रकृति रूप में करुण रस मान्य अवश्य था, किन्तु इस सिद्धान्त का निर्वाह उन्होंने स्वयं 'उत्तररामचरित' में नहीं किया है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो साहित्यदर्पण जैसे लक्षण-ग्रन्थ के प्रणेता कविराज विश्वनाथ ने नाटक के अङ्गीरस के प्रसङ्ग में करुण की भी गणना की होती । यह तथ्य तो निर्विवाद है कि लक्षणकार लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही अपने लक्षणों का निर्धारण करते हैं । साहित्यदर्पण में नाटक के अङ्गी रस के रूप में करुण की गणना न होने से भी यह पुष्ट हो जाता है कि उत्तररामचरित का अङ्गी

१- उ०रा०च०, ३।४७

रस करुण नहीं माना जा सकता है । डा० राघवन ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि किसी भी आलङ्कारिक ने करुण रस का प्राधान्य अर्थात् प्रकृतिभाव स्वीकार नहीं किया है, किन्तु भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में इस ओर सङ्केत अवश्य किया है ।[1]

भामह से कविराज विश्वनाथ तक सभी के मत में काव्य में रस अनिवार्य माना गया है । भामह के अनुसार उसे सभी रसों से युक्त होना चाहिये ।[2] दण्डी के अनुसार महाकाव्य में रसों तथा भावों का समावेश बताया गया है ।[3] रुद्रट ने भी महाकाव्य में सभी रसों को स्थान देने के

१- By Rasa synthesis is meant reducing of all rasas to the nature of one, a formulation of one as Prakṛti and rest as its vikṛtis. No Ālaṅkārika ever attempted a Karuṇa synthesis, but Bhavabhūti, in his drama, Uttararāmacarita, suggested such a synthesis in Karuṇa. ... and that it assumes the different forms called Śṛṅgāra etc., even as the same water assumes the forms of whirl, bubble, etc. Karuṇa is the Prakṛti, and other rasas are its vikṛtis.

— [illegible] 103-104.

२- युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।

— का० (भा०), १।२१

३- अलङ्कृतमसङ्क्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।

— काव्याद०, १।१८

पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है।[1] आचार्य कुन्तक ने भी महाकाव्य में रसों की सत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले सन्दर्भों से परिपूर्ण काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।[2] आनन्दवर्धन ने प्रबन्धकाव्य में रस के जिन पांच अभिव्यञ्जक हेतुओं का निर्देश किया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे महाकाव्य में रस को कितनी महत्ता प्रदान करते हैं। उनके अनुसार यह पांच हेतु हैं— (१) विभाव, भाव, अनुभाव, सञ्चारी भावों के औचित्य से सुन्दर कथाशरीर का निर्माण।[3] (२) इतिवृत्त के प्रयोजन से आयी हुई, किन्तु अङ्गीरस के अननुकूल स्थिति का परित्याग करके अभीष्ट रस के अनुकूल कथा की कल्पना कर लेना।[4] (३) सन्धि और सन्ध्यङ्गों का घटन रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से हो, न कि शास्त्र के नियमों का पालन मात्र करने के लिये।[5] (४) महाकाव्य में

१- तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः ।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ।। – का०(रु०), १६।५

२- निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।।
– व०जी०, ४।४।११

३- विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा । – ध्वन्या०, ३।१०

४- इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः । – वही, ३।११

५- सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ।। – वही, ३।१२

अवसरानुकूल अङ्गी रस का उद्दीपन और प्रशमन करना । अङ्गी रस के प में प्रयुक्त रस में आयी हुई विश्रान्ति को दूर करके उसका निरन्तर नुसन्धान करते रहना ।[1] (५) अशक्त कवि के द्वारा भी रसानुरूप लङ्कारों की योजना करना ।[2] इस प्रकार आनन्दवर्धन की दृष्टि में भी हाकाव्य में रस की महत्ता सिद्ध हो जाती है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों ने हाकाव्य में रस की सत्ता को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने महाकाव्य किसी रस विशेष की प्रधानता का उल्लेख नहीं किया है । इस विषय सर्वप्रथम उल्लेख कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में प्राप्त होता । उनके अनुसार महाकाव्य में श्रृङ्गार, वीर अथवा शान्त रसों में से कोई एक रस अङ्गी हो सकता है ।[3]

यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जब करुण रस में भी

---

1 - उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ।।
— वही, ३।१३

2 - अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ।।
— वही, ३।१४

3 - श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
— सा०द०, ३।१६

आस्वाद होता है और उसे प्रकृतिरस भी माना जा सकता है, तो उसे महाकाव्य में अङ्गी रस के रूप में क्यों नहीं स्वीकार किया गया है ? रामायण में करुण रस की प्रधानता तो है, किन्तु किसी आलङ्कारिक ने करुण को महाकाव्य में प्रधान रस के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसका कारण सम्भवत: यह हो सकता है कि रामायण की रचना का आधार ही शोकस्थायीभाव था। विहार करते हुए क्रौञ्च मिथुन में से एक के वध और दूसरे के क्रन्दन को देख-सुन कर ऋषि का कोमल हृदय द्रवीभूत हो उठा और उनके मुख से सहसा बहेलिये के लिए अभिशाप निकल पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम:, शाश्वती: समा:।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ॥[1]

इस पद्य से स्वयं ऋषि चकित हो उठे और उन्होंने यह घोषणा की कि—

"शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा"[2]

आनन्दवर्धन ने भी वाल्मीकि के वचनों के प्रति आस्था के कारण यह कहा है कि—

काव्यस्यात्मा स एवार्थ: तथा चादिकवे: पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ॥[3]

१- रामा०, १।२।१५
२- वही, १।२।१८
३- ध्वन्या०, १।५

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना का आधार ही शोक था । यही शोक सम्पूर्ण रामायण में व्याप्त-है । इसीलिए रामायण का अङ्गीरस करुण है, क्योंकि शोक स्थायीभाव से ही निष्पन्न होता है । परवर्ती कवियों ने करुण रस प्रधान रचना नहीं की थी । इसका कारण यह हो सकता है कि किसी शोकाकुल व्यक्ति को देखकर शोकाकुल हो उठने की प्रवृत्ति किसी संवेदनशील में ही हो सकती है जबकि शृङ्गार और वीर ऐसे रस हैं जिनमें प्रायः सभी की प्रवृत्ति हुआ करती है । शृङ्गार तो सर्वसंवेद्य होता ही है, क्योंकि उसमें मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों की भी प्रवृत्ति होती है ।[१] वीर रस का स्थायी भाव उत्साह भी न्यूनाधिक मात्रा में सभी में विद्यमान रहता है । यही कारण है कि महाकाव्यों में अङ्गी रसों के रूप में प्रधानता इन्हीं दोनों रसों की है । शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है । क्रूर से क्रूर और अज्ञानी व्यक्ति के जीवन में भी ऐसे क्षण आ ही जाते हैं, जब उसके मन में निर्वेद की भावना उत्पन्न होती है । इसलिए शान्त रस को भी महाकाव्य के अङ्गी रूप में स्वीकार कर लिया गया है । करुण रस में यह बात नहीं है । करुण रस का स्थायी भाव शोक है । लोक में शोक की अनुभूति किसी को भी हो सकती है, किन्तु सबमें यह शोक करुण रस में परिणत नहीं हो सकता है, क्योंकि जब तक किसी व्यक्ति में संवेदनशीलता नहीं होगी, तब तक उसका हृदय किसी भी करुण दृश्य को देखकर द्रवित नहीं हो सकता है । यही कारण है कि वाल्मीकि के पश्चात् संस्कृत में करुण रस प्रधान महाकाव्यों का अभाव रहा है और लक्षणकारों ने भी इस प्रकार के लक्ष्यग्रन्थ के अभाव में महाकाव्यों के अङ्गी रस के रूप में करुण को स्वीकार नहीं किया है।

१- तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतया अत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रतिहृद्यता - - - - ।

— ना०शा० (अभि०भा०) भाग १/पृ० २६७

अङ्गी के रूप में करुण रस का अभाव तो है ही, अङ्ग रूप में भी करुण रस बहुत थोड़े ही महाकाव्यों में प्राप्त होता है । ऐसे काव्यों में प्रमुख रूप से कालिदास और अश्वघोष के काव्यों का ही उल्लेख किया जा सकता है । कालिदास एक रससमाहित-चित्त तथा संवेदनशील कवि थे । यही कारण है कि रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर और कुमारसम्भव में मदनदहन के अवसर पर क्रमशः अज और रति की शोकाकुल दशा को देखकर महाकवि कालिदास का संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा और उन्होंने क्रमशः अज और रति विलाप के रूप में करुण रस से आप्लावित काव्य की रचना कर डाली ।

परवर्ती महाकवियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती है। रस की अपेक्षा उनका ध्यान काव्य के कलापक्ष पर अधिक केन्द्रित था । अपने काव्य में नाना प्रकार के शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों के द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करना ही उनका उद्देश्य बन गया था । पद्मबन्ध, मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र इत्यादि चित्रबन्धों के समावेश के द्वारा कवि अपने वैदुष्यप्रदर्शन की ओर ही अधिक प्रवृत्त थे । यह तो सर्वमान्य है कि यमक और अनुप्रास जैसे शब्दालङ्कार पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्य होते हैं । इन अलङ्कारों का समावेश करने के लिए कवि का ध्यान कथा और रस से पृथक् हो जाता है । करुण जैसे अत्यन्त कोमल रस में इन अलङ्कारों का कोई भी अवकाश नहीं रहता है और जहाँ पर ये अलङ्कार होंगे, वहाँ पर करुण जैसे कोमल रस का परिपोष ही नहीं हो सकेगा । परवर्ती संस्कृत महाकवियों की इसी अलङ्कारप्रियता और चमत्कारप्रियता के कारण अङ्ग रूप में भी करुण रस का अभाव दिखाई पड़ता है ।

इसे संस्कृत काव्य साहित्य का दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि वाल्मीकि के बाद करुण रस प्रधान महाकाव्य की कोई रचना उपलब्ध नहीं होती है । जहाँ करुण रस अङ्ग रूप में समाविष्ट हुआ है, ऐसी रचनाएँ भी गिनी चुनी ही हैं । सम्भव है कि कवियों को जिन आश्रयदाताओं

से आश्रय प्राप्त हुआ, वह या तो उन्हीं का मनोरञ्जन करने के लिए शृंगार रस प्रधान काव्य की रचना करने लगे अथवा अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और पराक्रम का अतिरंजित वर्णन करने के कारण उन्होंने वीर रस प्रधान रचनाएं करना आरम्भ कर दिया था ।

खण्ड ग

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

सहायक-ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट – १

सहायक ग्रन्थ-सूची

(अ) संस्कृत

१– अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग
डा० राम लाल शर्मा,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली, १९५९ ।

२– अथर्ववेद
सं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर,
स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७ ।

३– अनुयोगद्वार चूर्णि (गौतम)
वृत्तिकार — मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि,
आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४ ।

४– अभिज्ञानशाकुन्तलम् (कालिदास)
टीकाकार — राघवभट्ट,
निर्णयसागर, बम्बई, १९१३ ।

५– अमरकोष (रामाश्रमी टीका सहित)
निर्णयसागर प्रेस, १९४४ ।

६– अमरकोष (कृष्णमित्रकृत टीका सहित)
सं० — डा० सत्यदेव मिश्र,
ज्वालालपुर, १९७२ ।

७- अलङ्कारकौस्तुभ (कविकर्णपूर)
शिवप्रसाद भट्टाचार्य,
वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बङ्गाल, १६२६।

८- अलङ्कारसङ्ग्रह (अमृतानन्दयोगि)
वी. कृष्णामाचार्य और के. रामचन्द्र,
अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १६४६ ।

६- अमरुशतक (अमरुक)
डा० विद्यानिवास मिश्र,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १६६५

१०- अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक)
राम चन्द्र द्विवेदी,
नैपालीखपरा, वाराणसी, १६६५ ।

११- अष्टाध्यायी (पाणिनि)
शिरीश चन्द्र बसु,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६२ ।

१२- उज्ज्वलनीलमणि (रूपगोस्वामी),
श्रीमद् विश्वनाथ चक्रवर्ती,
निर्णयसागर, पाण्डुरङ्ग, बम्बई, १६३२।

१३- उत्तररामचरित (भवभूति)
उत्तरदीपिका टीका, गुरुनाथ शर्मा,
१३२२ बङ्गाब्दीय रघविलीयायाम् ।

१४- उत्तररामचरित
टीकाकार — वीरराघव,
निर्णयसागर, बम्बई ।

१५- ऋग्वेद (सायण भाष्य सहित)
वैदिक संशोधन मण्डल, पूना ।

१६- ऋतुसंहार (कालिदास)
एम०आर० काले,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ ।

१७- एकीभावस्तोत्र
वादिराजसूरि
वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर ।

१८- औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र)
काव्यमाला नं० १,
निर्णयसागर, बम्बई ।

१९- कप्फिणाभ्युदयम् (शिवस्वामी)
गौरीशङ्कर,
पंजाब यूनिवर्सिटी ओरियण्टल पब्लीकेशन, १९३७ ।

२०- कादम्बरी (बाणभट्ट)
भानुचन्द्र तथा सिद्धचन्द्रकृत टीका सहित,
निर्णयसागर, बम्बई, १९३२ ।

२१- काव्यप्रकाश (मम्मट)
भट्टवामन झलकीकर,
भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ४,
शकाब्दा: १८७२ ।

२२- काव्यप्रकाश
आचार्य विश्वेश्वर ,
ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६० ।

२३- काव्यमीमांसा (राजशेखर)
गङ्गासागर राय,
चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४ ।

२४- काव्यादर्श (दण्डी)
श्री रामचन्द्र मिश्र,
चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८ ।

२५- काव्यानुशासन, प्रथम खण्ड (हेमचन्द्र)
रसिक लाल सी.पारिख,
महावीरजैन विद्यालय, बम्बई, १९३८ ।

२६- काव्यालङ्कार (भामह)
देवेन्द्र नाथ शर्मा,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२ ।

२७- काव्यालङ्कार (रुद्रट)
श्री रामदेव शुक्ल,
चौखम्भा विद्याभवन, १९६६ ।

२८- काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट)
(लघुवृत्तिटीका) बनहट्टि,
भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, १९२५ ।

२९- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)
काव्यमाला,
निर्णयसागर, १८९५ ।

३०- किरातार्जुनीयम् (भारवि)
श्री रामप्रसाद त्रिपाठी,
किताबमहल, इलाहाबाद, १९५८ ।

३१- कुमारसम्भव (कालिदास)

एम०आर०काले,

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७ ।

३२- कुवलयमाला भाग १ (उद्योतनसूरि)

सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क ४५,

भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५९ ।

३३- कृष्णचरित (समुद्रगुप्त)

राजवैद्य जीवराम कालिदास,

रसशाला औषधाश्रम गोंडल, काठियावाड़, १९४१।

३४- चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दिन्)

अमृत लाल शास्त्री,

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७१

३५- जानकीहरण (कुमारदास)

व्रजमोहन व्यास,

मित्रप्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६७ ।

३६- जिनदत्तचरित (गुणभद्राचार्य)

माणिकचन्द्रदिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१६

३७- तैत्तिरीय आरण्यक

आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९२६ ।

३८- तैत्तिरीय उपनिषद्

गुजराती प्रिन्टिङ्ग प्रेस, बम्बई, १९१५ ।

३९- दशरूपक (धनञ्जय)

डा० भोला शङ्कर व्यास,

चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९६७ ।

४०- दशावतारचरित (क्षेमेन्द्र)

निर्णयसागर, बम्बई, १९३० ।

४१- द्विसन्धानकाव्य (धनञ्जय)

बदरीनाथ की टीका सहित,

निर्णयसागर, बम्बई, १८९५ ।

४२- धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र)

पण्डितपन्नालाल जैन,

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४ ।

४३- ध्वन्यालोक (आनन्दवर्द्धन)

(लोचन और बालप्रिया सहित),

चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९४० ।

४४- नवसाहसाङ्कचरित (पद्मगुप्त)

जितेन्द्र चन्द्र भारतीय,

चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३ ।

४५- नाट्यदर्पण (रामचन्द्र गुणचन्द्र)

गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, १९२९ ।

४६- नाट्यशास्त्र (भरत)

केदारनाथ,

काव्यमाला ४२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४३ ।

४७- नाट्यशास्त्र (भरत) भाग १

मनमोहन घोष,

मनीषा ग्रन्थालय, कलकत्ता, १९६७ ।

४८- नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित) (भरत) तीन भागों में
रामकृष्ण कवि,
गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, १६३४, १६३४,
१६५४ ।

४६- निरुक्त (यास्क)
वृत्तिकार — दुर्गाचार्य,
व्यङ्कटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, बम्बई, १६२५ ।

५०- नेमिनिर्वाण (वाग्भट)
शिवदत्त,
काव्यमाला ५६,निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३६ ।

५१- नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)
नारायणी टीका,
निर्णयसागर, बम्बई, १६५२ ।

५२- न्यायदर्शन (वात्स्यायन)
गौतम,
बम्बई, १६२२ ।

५३- पद्मचूडामणि (बुद्धघोष)
एम० रङ्गाचार्य और एस कुप्पुस्वामी शास्त्री,
मद्रास, १६२१ ।

५४- पार्श्वनाथचरित (वादिराजसूरि)
माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई,१६१६।

५५- प्रतापरुद्रयशोभूषण (रत्नापणटीका)
कुमारस्वामी,
बम्बई, १६०६ ।

५६- प्रद्युम्नचरित (महासेन)
माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला,
बम्बई, १९१६ ।

५७- बालरामभरतम्
के० साम्बशिवशास्त्री,
डिपार्टमेन्ट फार दि पब्लिकेशन आफ ओरियन्टल
मेनुस्क्रिप्ट्स, त्रिवेन्द्रम, १९३५ ।

५८- बुद्धचरित (दो भाग में) (अश्वघोष)
श्री राम चन्द्र दास शास्त्री,
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२ ।

५९- ब्रह्मोपनिषद् (अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु संन्यास-उपनिषद: के अन्तर्गत
अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९२९ ।

६०- भट्टिकाव्य (भट्टि)
पं० शेषराज शर्मा,
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९५१ ।

६१- भारतमञ्जरी (क्षेमेन्द्र)
काव्यमाला नं० ६५,
निर्णयसागर, बम्बई, १८९८ ।

६२- भाव-प्रकाशन (शारदातनय)
यदुगिरि यतिराज स्वामी,
ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३० ।

६३- भक्तिरसामृतसिन्धु (रूपगोस्वामी)
गोस्वामी दामोदर शास्त्री,
वाराणसी, १९३१ ।

६४- मन्दारमरन्द चम्पू (श्रीकृष्ण कवि)
काव्यमाला ५२,
निर्णयसागर, बम्बई, १६२४ ।

६५- महाभारत (नीलकण्ठी टीका सहित)
चित्रशाला प्रेस, पूना ।

६६- मेघदूत (कालिदास)
सुशील कुमार डे,
साहित्य अकादमी, दिल्ली,१६५७ ।

६७- मैत्रायणी संहिता
श्रीपाददामोदर सातवलेकर,
स्वाध्यायमण्डल, औंध, सतारा, १६४२ ।

६८- मैत्रेयी उपनिषद् (अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु संन्यास-उपनिषद: के अन्तर्गत)
टी०आर०चिन्तामणि दीक्षित,
अडयार पुस्तकालय, मद्रास, १६२६ ।

६६- यजुर्वेद (शुक्ल)
वासुदेव शर्मा पणशीकर,
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६२६ ।

७०- यशोधरचरित (वादिराजसूरि)
टी०ए०गोपीनाथ राव,
तन्जौर, १६१२ ।

७१- यशोधरचरित (वादिराजसूरि)
डा० के०कृष्णमूर्ति,
धारवाड़, १६६३ ।

७२- युधिष्ठिरविजय (वासुदेव)
निर्णय सागर, बम्बई, १६३० ।

७३- रघुवंश (मल्लिनाथ टीका) (कालिदास)
निर्णय सागर, बम्बई, १६२६ ।

७४- रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) प्रथम भाग,
मधुसूदन शास्त्री,
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वि०सम्वत् २०२० ।

७५- रसतरङ्गिणी (भानुदत्त)
पं० सीताराम चतुर्वेदी
हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, वि०सम्वत् २०२५ ।

७६- रसदीर्घिका (कविविद्याराम)
राजस्थान ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, जोधपुर, १६५६।

७७- रामरत्नप्रदीपिका (बल्लराज)
श्री रा०ना०दाण्डेकर,
भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १६४५ ।

७८- रसार्णवसुधाकर (शिङ्गभूपाल)
डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी,
सागर विश्वविद्यालय, सागर, १६६६ ।

७६- राघवपाण्डवीय (कविराज)
श्री दामोदर झा,
चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १६६५ ।

८०- राजतरङ्गिणी (कल्हण),
विश्वबन्धु,
विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टिट्यूट, होशियारपुर,
१९६५ ।

८१- रामचरित (सन्ध्याकरनन्दी) अंग्रेजी व्याख्या
आर०सी० मजूमदार,
दि वारेन्द्र रिसर्च म्यूजियम, राजशाही, १९३९ ।

८२- रामायण (वाल्मीकि)
पं० शिवराम शर्मा वाशिष्ठ,
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७ ।

८३- वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)
डा० नगेन्द्र,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली, १९५५ ।

८४- वराङ्गचरित (जटासिंहनन्दि)
प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला,
भा० दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५३ ।

८५- वायुपुराण
मनसुख राय मोर,
कलकत्ता, १९५९ ।

८६- विक्रमाङ्कदेवचरित (बिल्हण)
श्री विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज,
संस्कृत साहित्य अनुसन्धान समिति, बनारस हिन्दू
यूनिवर्सिटी, १९६४ ।

८७- विक्रमोर्वशीय (कालिदास)
एम०आर० काले,
बम्बई, १९६६ ।

८८- वृत्तरत्नाकर (केदारभट्ट) टीका चतुष्टयोपेत
संस्कृत अकादमी उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद,
१९६९ ।

८९- वेणीसंहार(प्रबोधिनीप्रकाश टीकोपेत)
चौखम्बा, वाराणसी, १९६९ ।

९०- व्यक्ति-विवेक (महिमभट्ट)
चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९३६ ।

९१- शब्दकल्पद्रुम खण्ड २ और ५
राजा राधाकान्त देव,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ।

९२- शिशुपालवध (माघ) (मल्लिनाथ टीका)
पं० हरगोविन्द शास्त्री,
चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७२ ।

९३- शृंगारतिलक (रुद्रभट्ट)
कपिलदेव पाण्डेय,
प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, १९६८ ।

९४- शृंगारप्रकाश (भोजराज) तीन भागों में
वी०आर० बेलीर,
मैसूर, १९५५, १९६३, १९६९ ।

९५- श्रीकण्ठचरित (मङ्खक)
पं० दुर्गाप्रसाद और काशीनाथ पाण्डुरङ्ग,
निर्णयसागर, बम्बई, १८८७ ई

९६- षट्खण्डागम (भगवत्पुष्पदन्त भूतबलिप्रणीत) प्रथम खण्ड
टीकाकार - वीरसेनाचार्य,
जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती, १९३९ ई

९७- सरस्वती कण्ठाभरण (भोजराज)
एस०आर०शर्मा,
पब्लिकेशन बोर्ड, गौहाटी, १९६९ ।

९८- साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
सत्यव्रत सिंह
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७ ।

९९- साहित्यसार (अच्युतरायाचार्य)
यूनिवर्सिटी मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम, १९४७ ।

१००- सुवृत्ततिलक (क्षेमेन्द्र)
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९३३ ।

१०१- सूक्तिमुक्तावली (भगदत्त जल्हण)
एम्बार कृष्णमाचार्य,
ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३८ ।

१०२- सौन्दरनन्द (अश्वघोष)
सूर्यनारायण चौधरी,
संस्कृतभवन, कठौतिया, पूर्णिया, बिहार, १९५९ ।

१०३- सङ्गीतरत्नाकर (शाङ्गदेव) खण्ड ४
पण्डित सुब्रमण्य शास्त्री,
अड्यार, १९५३ ।

१०४- संस्कृतकविजीवितम्, भाग १
मल्लादि सूर्य नारायण शास्त्री,
दि संस्कृत अकादमी उस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद,
१९६० ।

१०५- हर्षचरित (बाण)
काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब,
निर्णयसागर, बम्बई, १८९६ ।

१०६- हरविजय (रत्नाकर)
पं० दुर्गाप्रसाद और काशी नाथ पाण्डुरङ्ग,
निर्णयसागर, बम्बई, १८९० ।

१०७- हरिवंशपुराण (प्रथम खण्ड) (जिनसेनसूरि)
माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई,
१९३० ।

(ख) हिन्दी

१- कालिदास के काव्यों में ध्वनितत्त्व
मञ्जुला जायसवाल,
सन्मय प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७३ ।

२- जैन साहित्य और इतिहास,
पं० नाथूराम प्रेमी,
बम्बई, १९५६ ।

३- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ६)
डा० गुलाब चन्द्र चौधरी
पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३ ।

४- तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, खण्ड ३
डा० नेमि चन्द्र शास्त्री,
सागर, १९७४ ।

५- नैषध परिशीलन,
डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल,
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९६० ।

६- भरत और भारतीय नाट्यकला,
सुरेन्द्र नाथ दीक्षित,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७० ।

७- रस-छन्द-अलङ्कार
लक्ष्मणदत्त गौतम,
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६ ।

८- रस-सिद्धान्त
डा० नगेन्द्र,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

९- रस-सिद्धान्त की प्रमुख समस्याएं
डा० सत्यदेव चौधरी,
अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली ।

१०- रस-सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण
आनन्दप्रकाश दीक्षित,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ।

११- वैदिक देवशास्त्र,
डा० सूर्यकान्त,
भारत भारती प्रकाशन, दिल्ली, १९६१ ।

१२- श्रृङ्गार रस का शास्त्रीय विवेचन
डा० इन्द्रपाल सिंह
चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।

१३- समीक्षाशास्त्र के भारतीय मानदण्ड
डा० रामसागर त्रिपाठी,
अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, १९७१ ।

१४- संस्कृत महाकाव्य की परम्परा
डा० केशवराव मुसलगावकर ,
चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६९

१५- संस्कृत साहित्य का इतिहास
आचार्य बलदेव उपाध्याय,
शारदा मन्दिर, काशी, १९५८ ।

१६- संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ)
हिन्दी अनुवाद - डा० मङ्गलदेव शास्त्री,
मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७

१७- संस्कृत साहित्य की रूपरेखा
पाण्डेय तथा व्यास,
न्यू ऐरा प्रेस, इलाहाबाद, १९६७ ।

(ख) अंग्रेजी

1. Bhoja's Śṛngāra Prakāśa,
V. Raghavan,
Madras, 1963.

2. Comparative Aesthetics, Vol. I
K.C.Pandey,
Chowkhambha Sanskrit Series, Varanasi,
1959.

3. The Golden Treasury
F.T.Palgrave,
Oxford University Press, 1924.

4. History of Classical Sanskrit Literature
M.Krishnamachariar,
Motilal Banarasidass, Delhi, 1974.

5. History of Indian Literature
Winternitz,
Calcutta, 1927.

6. History of Sanskrit Literature, Vol.I
S.N.Dasgupta,
University of Calcutta, 1947.

7. History of Sanskrit Poetics (in two volumes)
Sushil Kumar De,
Calcutta, 1960.

8. Illusion and Reality
C.Caudwell,
People's Publishing Home Ltd.,
Bombay, 1947.

The Jaina Sources of the History of Ancient India,

Dr.Jyo-ti Prasad Jain,
Delhi, 1964.

10. The Life and Work of Buddhaghosa

B.C.Law,
Nag Publishers, Delhi, 1976.

11. The Number o f Rasas

V.Raghavan,

The Adyar Library, Adyar,1940.

12. Sanskrit-English Dictionary, Part II

V.S.Apte,
Prasad Prakashana, Poona, 1958.

13. The Sanskrit Drama,

A.B.Keith,

Oxford University Press, 1954.

14. The Theories of Rasa and Dhvani

A.Sankaran,

University of Madras, 1929.

15. The Works of William Shakespeare

Oxford, 1934.

(ग) शोध-पत्रिकाएं

1. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute — Index Volume (two parts).

2. Journal of the Annamalai University, Volume X, No.1, September, 1940.

3. The Journal of the Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad, Volume XV, May-August, 1958.

4. Proceedings of the All India Oriental Conference— Index Volume (two parts).

5. Proceedings of the All India Oriental Conference, 25th Session, Jadavapur University, Calcutta, October, 1969.

6. Proceedings and Transactions of the Eighth All India Oriental Conference, Mysore, December, 1935.

7. Summaries of the All India Oriental Conference— Session Silver Jubilee, 1969
Session XXVI, 1972.

———

परिशिष्ट २

साक्षात्कार-सूची

परिशिष्ट २

संकेताक्षर-सूची

अ॰पु॰का॰भा॰	अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग
अथर्व॰	अथर्ववेद
अ॰द्वा॰चू॰	अनुयोगद्वार चूर्णि
अ॰शा॰	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अ॰का॰ (रा॰)	अमरकोश (रामाश्रमी टीका)
अ॰को॰(कृ॰)	अमरकोश (कृष्णामित्रकृत टीका)
अ॰कौ॰	अलङ्कारकौस्तुभ
अ॰सं॰	अलङ्कारसङ्ग्रह
अ॰श॰	अमरु शतक
अ॰स॰	अलङ्कारसर्वस्व
अष्टा॰	अष्टाध्यायी
उ॰नी॰म॰	उज्ज्वलनीलमणि
उ॰रा॰च॰(उ॰दी॰टीका)	उत्तररामचरित(उत्तरदीपिका टीका)
उ॰रा॰च॰	उत्तररामचरित
ऋ॰वे॰	ऋग्वेद
ऋ॰सं॰	ऋतुसंहार
ए॰भा॰स्तोत्र	एकीभाव स्तोत्र
औ॰वि॰च॰	औचित्यविचारचर्चा
कप्फि॰	कप्फिणाभ्युदयम्
कादम्ब॰	कादम्बरी
का॰का॰ध्व॰त॰	कालिदास के काव्यों में ध्वनि तत्त्व
का॰प्र॰	काव्यप्रकाश

का०मी०	काव्यमीमांसा
काव्या०	काव्यादर्श
काव्यानु०	काव्यानुशासन
का०(भा०)	काव्यालङ्कार (भामह)
का०(रु०)	काव्यालङ्कार (रुद्रट)
का०सा०सं०	काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह
का०सू०वृ०	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
किरात०	किरातार्जुनीयम्
कु०सं०	कुमारसम्भव
कु०मा०	कुवलयमाला
कृ०च०	कृष्णचरित
च०च०	चन्द्रप्रभचरित
जा०ह०	जानकीहरण
जि०द०च०	जिनदत्तचरित
जै०सा०इ०	जैन साहित्य और इतिहास
जै०सा०बृ०इ०	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
ती०म०आ०प०	तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा
तै०आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
द०रू०	दशरूपक
द०च०	दशावतारचरित
द्वि०	द्विसन्धानकाव्य
ध०श०	धर्मशर्माभ्युदय
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
न०सा०च०	नवसाहसाङ्कचरित

ना॰शा॰	नाट्यशास्त्र
ना॰द॰	नाट्यदर्पण
निरु॰	निरुक्त
नै॰नि॰	नैमिनिर्वाण
नै॰प॰	नैषध परिशीलन
नै॰च॰	नैषधीयचरित
न्या॰द॰	न्यायदर्शन
प॰चू॰	पद्मचूडामणि
पा॰च॰	पार्श्वनाथचरित
प्र॰रु॰य॰भू॰	प्रतापरुद्रयशोभूषण
प्र॰च॰	प्रद्युम्नचरित
बा॰रा॰भ॰	बालरामभरतम्
बु॰च॰	बुद्धचरित
ब्रह्मोप॰	ब्रह्मोपनिषद्
भ॰का॰	भट्टिकाव्य
भ॰भा॰ना॰	भरत और भारतीय नाट्यकला
भा॰मं॰	भारतमञ्जरी
भा॰प्र॰	भावप्रकाशन
भ॰र॰सि॰	भक्तिरसामृतसिन्धु
म॰म॰च॰	मन्दारमरन्दचम्पू
म॰भा॰	महाभारत
मे॰दू॰	मेघदूत
मै॰सं॰	मैत्रायिणी संहिता
मै॰उ॰	मैत्रेयी उपनिषद्
य॰वे॰	यजुर्वेद
य॰च॰	यशोधरचरित

यु० वि०	युधिष्ठिरविजय
रघु०	रघुवंश
र० गं०	रसगङ्गाधर
र० छ० अ०	रस-छन्द-अलङ्कार
र० त०	रसतरङ्गिणी
र० दी०	रसदीपिका
र० र० प्र०	रस-रत्न-प्रदीपिका
र० सि०	रस-सिद्धान्त
र० सि० प्र० स०	रस सिद्धान्त की प्रमुख समस्यायें
र० सि० स्व० वि०	रससिद्धान्त— स्वरूप विश्लेषण
र० सु०	रसार्णव सुधाकर
रा० पा०	राघवपाण्डवीय
रा० त०	रामतरङ्गिणी
रा० च० (अ०)	रामचरित (अभिनन्द)
रा० च० (स०)	रामचरित (सन्ध्याकरनन्दी)
रामा०	रामायण
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित
व० च०	वराङ्गचरित
वा० पु०	वायु पुराण
वि० च०	विक्रमाङ्कदेवचरित
विक्र०	विक्रमोर्वशीय
वृ० र०	वृत्तरत्नाकर
वे० सं०	वेणीसंहार
वै० दे० शा०	वैदिक देवशास्त्र
व्य० वि०	व्यक्ति विवेक
श० क० द्रु०	शब्दकल्पद्रुम

शिशु० — शिशुपालवध

शृं०ति० — शृङ्गारतिलक

शृं०प्र० — शृङ्गारप्रकाश

शृं०र०शा०वि० — शृङ्गाररस का शास्त्रीय विवेचन

श्री०कं०च० — श्रीकण्ठचरित

षट्खं०आ० — षट्खण्डागम

स०शा०भा०मा० — समीक्षाशास्त्र के भारतीय मानदण्ड

स०कं० — सरस्वती कण्ठाभरण

सा०द० — साहित्य दर्पण

सा०सा० — साहित्यसार

सु०ति० — सुवृत्ततिलक

सू०मु० — सूक्ति-मुक्तावली

सौन्दर० — सौन्दरनन्द

सं०र० — सङ्गीतरत्नाकर

सं०क०वी० — संस्कृत कविवीमितम्

सं०म०प० — संस्कृत महाकाव्य की परम्परा

सं०सा०इ० — संस्कृत साहित्य का इतिहास

सं०सा०इ०(कीथ) — संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ)

सं०सा०रू० — संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

ह०च० — हर्षचरित

ह०वि० — हरविजय

ह०पु० — हरिवंशपुराण

B.S.P. — Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa.

C.A. — Comparative Aesthetics

H.C.S.L. — History of Classical Sanskrit Literature.

H.I.L.	History of Indian Literature.
H.S.L.	History of Sanskrit Literature.
H.S.P.	History of Sanskrit Poetics.
I.R.	Illusion and Reality.
J.S.H.A.I.	The Jaina Sources of the History of Ancient India.
L.W.B.	The Life and Work of Buddhaghosa.
N.R.	The Number of Rasas.
S.E.D.	Sanskrit-English Dictionary.
S.D.	The Sanskrit Drama.
T.R.D.	The Theories of Rasa and Dhvani.
W.W.S.	The Works of William Shakespeare.

<u>JOURNALS:</u>

A.B.O.R.I.	Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
J.A.U.	Journal of the Annamalai University.
J.G. N.J.R.I.	The Journal of the Ganga Natha Jha Research Institute.
P.A. I.O.C.	Proceedings of the All India Oriental Conference.
P.T. E.A.I.O.C.	Proceedings and Transactions of the Eighth All India Oriental Conference
S.A. I.O.C.	Summaries of the All India Oriental Conference.